

बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

प्रधान संपादक
गिरीश्वर मिश्र

संपादक
अशोक मिश्र



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन

अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक

अंक : 49 (अप्रैल-जून 2016) ISSN- 2348-4586

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

संपादकीय संपर्क :

संपादक बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)

मो. संपादक- 09422386554, ईमेल- bahuvachan.wardha@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : राजेश कुमार यादव

ईमेल- rajeshkumaryadav97@gmail.com फोन- 07152-232943, मो. 09975467897

© संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें :

प्रचार प्रसार : सुरेश कुमार यादव

फोन : 07152-232943, मो. 09730193094, ईमेल- s.ujala80@gmail.com

बिक्री और प्रसार कार्यालय :

प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र) भारत

फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

अंक : रु. 75/-, वार्षिक शुल्क रु. 300/-, द्विवार्षिक शुल्क रु. 600/- व्यक्तिगत संस्थाओं के लिए वार्षिक शुल्क रु. 400/-, द्विवार्षिक रु. 800/- (डाक खर्च सहित)

विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

आवरण : देवप्रकाश चौधरी

BAHUVACHAN

A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI

PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHIAN TARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA

GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442001 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रक : क्विक ऑफसेट ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22824606, मो. 9811388579)

अनुक्रम

आरंभिक / मीडिया की अंतर्कथा	5
मीडिया विशेष	
गणेशशंकर विद्यार्थी : एक पुनर्पाठ/ सुधीर विद्यार्थी	9
विद्यानिवास मिश्र और हिंदी पत्रकारिता/ अच्युतानंद मिश्र	29
काल, स्वरूप निर्धारक भी बनता है/ शीतला सिंह	34
पत्रकारिता का मतलब ही है जन-सामाजिक सरोकार/ अरविन्द मोहन	39
कंटेंट में बदलाव का दौर/ उमेश चतुर्वेदी	44
स्वामित्व, बाजार और सरोकार/ मुकेश कुमार	51
जनमत-निर्माण में बहुलता एक भ्रम है/ प्रांजल धर	61
बाजार का छद्म यथार्थ और बढ़ता संकट/ हरीश अरोड़ा	67
मीडिया, बदलती दुनिया और हिंदी/ गिरीश्वर मिश्र	73
डिजिटल चुनौती : समाधान अभी बाकी है/ बालेन्दु दाधीच	80
ये बीमारियां तो पुरानी भी हैं और जटिल भी! / कृष्ण प्रताप सिंह	87
दलितों, पिछड़ों, अल्पसंख्यकों की उपस्थिति क्यों नहीं?/ संजय कुमार	93
हिंदी चर्चा	
हिंदी के विकास में पश्चिम बंगाल का अवदान/ रामनिरंजन परिमलेन्दु	101
मदन मोहन मालवीय का हिंदी संघर्ष/ राजीव कुमार वर्मा	106
प्रसंगवश	
रामदरश मिश्र : साहित्य जिनके लिए जीवन है/ ओम निश्चल	112
स्मरण	
कहानी का नया छंद रचने की छटपटाहट/ शकील सिद्दीकी	120
साहित्य उनकी जिंदगी थी/ उमाशंकर चौधरी	125

कथा	
जमादारिन की हवेली/ महेश कटारे	131
सीढ़ियां/ कमल कुमार	139
कविता	
वाजदा खान	150
राकेश श्रीमाल	152
रमेश ऋतंभर	155
आलोचना	
हिंदी कहानी में स्त्री चेतना/ शशि कुमार 'शशिकांत'	158

मीडिया की अंतर्कथा

करीब साल भर पहले महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में मीडिया विषय पर आयोजित एक विचार गोष्ठी के तत्काल बाद कुलपतिजी ने मीडिया पर एक अंक केंद्रित करने का निर्देश दिया था उसी क्रम में बहुवचन का यह अंक मीडिया की दुनिया की अंदरूनी पड़ताल की दिशा में एक प्रस्तुति है। महत्वपूर्ण है कि यह अंक मीडिया के कई सवालों पर ध्यान आकृष्ट करता है।

कुछ बातें निजी अनुभव के बहाने से मैं पाठकों के समक्ष रखना चाहता हूँ। एक प्रशिक्षु पत्रकार के रूप में मैंने दैनिक 'जनमोर्चा' से पत्रकारिता की शुरुआत की थी। यह खत्म हो रही उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक का दूसरा साल था। मैं पत्रकारिता को मिशन मानकर काम करने और उसी के माध्यम से जीविकोपार्जन के लिए आया था। उम्मीद थी कि किसी नामचीन अखबार में काम करने का मौका मिलेगा। जनपदीय अखबार में एकाध साल खटने के बाद दिल्ली आ गया। दिल्ली आने के साथ ही पत्रकारिता को लेकर बहुत सारी भ्रांतियां जो मस्तिष्क में थीं वे साफ होने लगी थीं। पहला कि यहां शुरुआत के लिए किसी बड़े संपादक से पहचान जरूरी है, तभी प्रवेश मिलेगा। दूसरा यह कि किसी बड़े संपादक की टीम का हिस्सा हुए बिना अच्छे मौके और मोटी तनखाह महज दूर की कौड़ी है। खैर प्रवेश भी मिल गया लेकिन घुसते ही समझ आने लगा कि बहुत कठिन है पत्रकारिता की डगर जिसके रास्ते में अनिश्चतता, कम पगार, अधिक श्रम, कभी भी निकाले जाने का खतरा सदा साथ है। बीस साल अखबारों, पत्रिका के साथ काम करने के बहुतेरे अनुभव हैं जिनका जिक्र फिर कभी। फिलहाल कुछ बातें मीडिया में हुए बदलावों पर करना जरूरी लगता है।

यह नब्बे के दशक का शुरुआती वह दौर था जब पूरे विश्व में वैश्वीकरण की नीतियां धीरे-धीरे आकार ले रही थीं। इसी समय भारत में केंद्र की सत्ता में आसीन सरकार के प्रधानमंत्री के नेतृत्व में उदारीकरण से संबंधित नीतियों की शुरुआत हुई। यह उदारीकरण आते ही धीरे-धीरे अपना असर दिखाने लगा। उदारीकरण के दौर में देश में बहुराष्ट्रीय कंपनियों का आगमन शुरू हुआ, जिन्होंने आते ही हमारे छोटे-छोटे उद्योगों को धीरे-धीरे निगलना या यों कहें कि बाजार से विदा करना शुरू कर दिया। उदारीकरण ने छोटे उद्योगों, खान पान, पहनावा, लोक संस्कृति, सिनेमा, आचार-विचार के साथ-साथ तेजी से समाज की सोच को प्रभावित करना शुरू कर दिया। उदारीकरण के चलते देश में एक तबके विशेष को उसका लाभ मिला जिससे एक ऐसा मध्य वर्ग पैदा हुआ जिसने खुलकर खर्च करना शुरू किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि महानगरों में यह वर्ग साप्ताहिक रूप से शॉपिंग करने वाले विशाल उपभोक्ता के रूप में सामने आया। मेट्रो महानगरों से शुरू होकर यह शॉपिंग क्रांति धीरे-धीरे पूरे देश में फैल गई। यह क्रांति अभी भी जारी है और इस वर्ग से मीडिया का भी खासा संबंध है। आगे चलकर बहुत सारे परिवर्तन नई तकनीकी और कंप्यूटरीकरण के नाम पर किए गए, ऐसा सिर्फ अखबार के साथ नहीं हुआ बल्कि देखते ही देखते यह असर हर क्षेत्र में साफ दिखने लगा। उदारीकरण ने धीरे-धीरे राज्य की कल्याणकारी भूमिका को भी समाप्त कर दिया। इसका असर कुछ ही बरसों के भीतर अखबारों पर भी दिखने लगा था और वे धीरे-धीरे बाजार या

यों कहें कि विज्ञापनदाताओं के इशारे पर नाचने लगे जिसके एवज में उनको पर्याप्त विज्ञापन मिलने लगा। अखबार मालिकों को समझ आने लगा कि जैसे दूसरे उद्योग हैं ठीक उसी तरह अखबार हैं यह कोई विशिष्ट पेशा नहीं जहां सिद्धांतों या मिशन के नाम पर लाभ कमाने के स्थान पर नुकसान उठाया जाए। इसी समय अखबारों से धीरे-धीरे सिद्धांतवादी, नैतिकतावादी और पत्रकारिता को मिशन मानने वाले संपादकों और बुद्धिजीवियों की विदाई के प्रयास शुरू हो गए। अखबारों से संपादक को मात्र इसलिए विदा कर दिया गया कि ताकि पत्रकारिता को मिशन या पवित्र पेशा मानने वाले पत्रकारों के स्थान पर प्रबंधन और अखबार मालिकों के हितों के लिए काम करने और मुनाफा बढ़ाने वाले रिढ़विहीन संपादकों को आगे लाया जा सके। इसी समय एक और परिवर्तन यह हुआ कि नयी शताब्दी की शुरुआत के साथ ही क्षेत्रीय अखबारों का फैलाव पूरे देश में बढ़ता ही चला गया। राजनीतिक और कारपोरेट गठजोड़ के साथ वे खूब फले-फूले। एक और बदलाव यह हुआ कि हिंदी अखबारों में अंग्रेजी अखबारों के जूठन लेख छपने लगे और अच्छे कंटेंट की विदाई हो गई। नवभारत टाइम्स में जब साहित्यकार विद्यानिवास मिश्र संपादक थे तो उनके समय रविवारीय परिशिष्ट 'रविवार्ता' से कोई छेड़छाड़ नहीं हुई लेकिन उनके हटते ही 'रविवार्ता' का नाम बदलकर 'हेलो दिल्ली' हो गया और उसमें फिल्मी अभिनेत्रियों के फूहड़ किस्म के बड़े-बड़े फोटो छपने लगे। 1994 के बाद अखबारों ने पाठकों की रुचि को संवारने के बजाए बिगाड़ने और बाजारानुकूल तालमेल के साथ कारपोरेट कंपनियों के हितों के लिए काम करना शुरू किया। यह पिछले पच्चीस बरसों से चलते हुए अब चरम पर आ पहुंचा है। आज मीडिया हाउस का संचालन पूरी तरह बिजनेस हाउस के रूप में किया जाता है। एक और महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि आज का मीडिया कारपोरेट उद्योगों, राजनीतिक दलों के साथ कदमताल कर अपने साम्राज्य का अकूत विस्तार कर रहा है। मीडिया द्वारा इन दिनों पाठकों या दर्शकों के मनोविज्ञान को बदलने या चुनावों में जनमत निर्माण का भी खेल शुरू हो गया है। यहां एक और बात उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण है कि इसी बीच सूचना प्रौद्योगिकी के जरिए हुई क्रांति ने मोबाइल, टैब, आईपैड, मोडम, कंप्यूटर, इंटरनेट, ईमेल के प्रचलन ने संचार माध्यमों में एक नयी क्रांति ला दी है जो कि दिनोंदिन बढ़ते हुए आज हमारे जीवन का अनिवार्य हिस्सा बन चुकी है। एक और कटु सच्चाई है कि आज हम जिस डिजिटल युग में जी रहे हैं उसमें मीडिया एक बहुआयामी माध्यम के रूप में समाज को नियंत्रित और संचालित कर रहा है। हम प्रति वर्ष 30 मई को पत्रकारिता दिवस को किसी कर्मकांड की भांति मनाकर थोड़ा सा अपने पुरखों की भूमिका पर भी विचार कर लेते हैं जो कि काफी नहीं है। बाबू विष्णुराव पराड़कर ने पत्रकारिता का भविष्य बहुत पहले साफ-साफ देख लिया था। उन्होंने लिखा था कि 'पत्र निकालकर सफलतापूर्वक चलाना बड़े-बड़े धनियों अथवा सुसंगठित कंपनियों के लिए ही संभव होगा। पत्र सर्वांग सुंदर होंगे। आकार बड़े होंगे, छपाई अच्छी होगी, मनोहर, मनोरंजक, और ज्ञानवर्धक चित्रों से सुसज्जित होंगे, लेखों में विविधता होगी, कल्पकता होगी, गंभीर गवेषणा की झलक होगी, ग्राहकों की संख्या लाखों में गिनी जाएगी। यह सब कुछ होगा पर पत्र प्राणहीन होंगे।' उनका यह कथन आज की पूरी अखबारी पत्रकारिता पर शत प्रतिशत खरा उतर रहा है। हम कह सकते हैं कि उनकी दूर दृष्टि ने भविष्य की आहट को बहुत पहले महसूस कर लिया था।

दूसरी ओर मीडिया के एक और प्रकल्प यानी टीवी चैनलों की बात करें तो पाते हैं कि यह माध्यम चाक्षुष होने के कारण अपार रूप से लोकप्रिय है लेकिन घनघोर रूप से भटकाव का शिकार है। जब हम इलेक्ट्रानिक मीडिया को उम्मीद भरी नजरों से देखते हैं तो साफ नजर आता है यहां तो अंधेरा और भी घना है बल्कि यों कहें कि अंधविश्वासों के प्रसार से लेकर, चमत्कारी गुफाएं, बाबा, ज्योतिषी, सांप, बिच्छू, क्रिकेट, सिनेमा, अपराध की अंधी गलियों में ही यह भटक रहा है। आज किसी भी समाचार चैनल को

देखते ही नजर आता है कि किसी न किसी विषय को गरमागरम चर्चा के लिए चुन लिया जाता है और फिर जैसा विषय हो उसी के अनुरूप कुछ विशेषज्ञ बैठा लिए जाते हैं। बहस शुरू होते ही जिसे भी बोलने का मौका मिलता है वह विषय पर कम इधर-उधर होकर विषयांतर ज्यादा बोलता है। अधिकांश मामलों में यदि बहस कहीं से भी राजनीतिक या समसामयिक है तो वक्ता अपने विरोधी पार्टी के वक्ता पर पुरजोर हमला करने से नहीं चूकता। बहस के दौरान भाषा का स्तर शालीनता की सारी सीमाएं पार कर जाता है। एंकर की आवाज बहस के दौरान एक दूसरे की धज्जियां उड़ाते शोर-शराबे के बीच दबकर रह जाती है। दर्शक भ्रमित होकर रह जाता है। कई बार तो अतिरंजना की हद तक लोग इस कदर चिल्ला-चिल्ली करते हैं कि किसी भी कोण से नहीं लगता कि ये हमारे समाज के बुद्धिजीवी या नेतागण हैं। इसका परिणाम अकसर यह होता है कि किसी ज्वलंत मुद्दे पर केंद्रित बहस किसी निष्कर्ष पर पहुंचे बिना ही समाप्त हो जाती है। चैनल का टाइम स्लाट पूरा, वक्ताओं को सम्मान मिल जाता है लेकिन यक्ष प्रश्न यह है कि दर्शकों का समय बर्बाद हो जाता है और देखने वाले को समय गंवाने की खिन्न भी पैदा होती है। निजी चैनलों की तुलना में यदि हम लोकसभा या राज्यसभा चैनल पर बहस को देखते हैं तो फिर ऐसा लगता है कि यहां बहस का स्तर अपेक्षाकृत शालीन और तार्किक है। मीडिया जैसे वृहत्तर माध्यम का सफल, सार्थक और सकारात्मक उपयोग भी किया जा सकता है और कई मामलों में यह उपयोगी भी साबित हुआ है। इंटरनेट पर कुछ समाचार वेबसाइटें और माध्यम सोशल मीडिया के रूप में हमारे सामने जरूर आए हैं और लोकप्रिय या यों कहें कि सरकार के लिए सिरदर्द भी हैं लेकिन यहां कोई नियंत्रण न होने से दिशाहीनता का माहौल है। हमारे समाज में ज्यों-ज्यों जागरूकता और शिक्षा का प्रसार होगा त्यों-त्यों मीडिया में भी गुणात्मक सुधार की उम्मीद कुछ हद तक की जा सकती है। इसी के साथ बदलाव की अपेक्षा रखना भी बेमानी न होगा।

बहुवचन के मीडिया विशेष अंक के लिए सामग्री जुटाने में हमें यत्किंचित सफलता मिली है। शुरुआत में पूर्वज पत्रकार गणेशशंकर विद्यार्थी की पत्रकारिता और क्रांति दर्शन को केंद्र में रखकर एक पुनर्पाठ सुधीर विद्यार्थीजी ने किया है वहीं विद्यानिवास मिश्र के पत्रकारिता में किए गए अवदान की चर्चा कर रहे हैं उनके साथ काम कर चुके वरिष्ठ पत्रकार अच्युतानंद मिश्र। अंक में मीडिया के विभिन्न पहलुओं पर अधिकांश लेखकों ने अलग-अलग कोणों से चर्चा की है। हमारे मार्गदर्शक गिरीश्वर मिश्र ने मेरे आग्रह पर मीडिया की बदलती दुनिया और हिंदी किस तरह उसके निशाने पर है विषय पर चिंतनपरक लेख लिखा उनका आभार। बहुवचन को वरिष्ठ पत्रकारों शीतला सिंह, अरविन्द मोहन, मुकेश कुमार का सहयोग मिला उनका आभार साथ ही शामिल अन्य सभी लेखकों का भी आभार। अंक में शामिल अधिकांश लेख विषय पर अपेक्षित गंभीरता और विश्लेषणपरक ढंग से लिखे गए हैं।

इसके साथ ही इस बीच दिवंगत हुए कवि उमेश चौहान को युवा कवि उमाशंकर चौधरी और जोगिंदर पाल के योगदान को उर्दू साहित्य के अध्येता शकील सिद्दीकी ने रेखांकित किया है। इसी के साथ महेश कटारे का उपन्यास अंश, कमल कुमार की कहानी और वाजदा खान, राकेश श्रीमाल, रमेश ऋतंभर की कविताएं भी दी जा रही हैं। हिंदी के विकास में पश्चिम बंगाल के अवदान की चर्चा कर रहे हैं रामनिरंजन परिमलेंदु। आलोचना खंड में साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित रामदरश मिश्र की कविताओं पर ओम निश्चल का मूल्यांकनपरक लेख है वहीं स्त्री कहानी लेखन पर शशि कुमार 'शशिकांत' के लेख दिए जा रहे हैं। आप सभी को अंक कैसा लगा यह जानने की जिज्ञासा जरूर रहेगी, आपकी प्रतिक्रियाओं और सुझावों का इंतजार रहेगा।

अशोक कुमार मिश्र
(अशोक कुमार मिश्र)

मीडिया विशेष

सुधीर विद्यार्थी
अच्युतानंद मिश्र
शीतला सिंह
अरविन्द मोहन
उमेश चतुर्वेदी
मुकेश कुमार
प्रांजल धर
हरीश अरोड़ा
गिरीश्वर मिश्र
बालेन्दु दाधीच
कृष्ण प्रताप सिंह
संजय कुमार

गणेशशंकर विद्यार्थी : एक पुनर्पाठ

सुधीर विद्यार्थी

गणेशशंकर विद्यार्थी की जेल डायरी के प्रकाशन पर डॉ. मधुलेखा विद्यार्थी ने अपनी आपत्ति व्यक्त करते हुए कहा कि संपादक ने इसमें संशोधन करके इसका मूल स्वरूप ही नष्ट कर दिया है। उनका विरोध था कि विशेष तौर पर विद्यार्थीजी की भाषा में हेर-फेर करके उसकी प्रमाणिकता के बारे में ध्यान न दिए जाने से इस डायरी को बहुत नुकसान पहुंचा है। कतिपय तथ्यात्मक त्रुटियों की ओर भी उनका संकेत था। बावजूद इसके स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास की इस अमूल्य निधि के प्रकाशन को तत्कालीन समय के दस्तावेजों के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में देखा जाना चाहिए। गणेशशंकरजी की यह जेल डायरी एक पत्रकार और आजादी की लड़ाई लड़ रहे एक सैनिक की आत्माभिव्यक्ति है जिसे उन्होंने 31 जनवरी 1922 से 17 मई 1922 की अवधि में लखनऊ जेल में रहते हुए लिपिबद्ध किया था। वह गांधी के असहयोग का जमाना था। तब उस आंदोलन के अनेक सैनिकों ने बड़ी संख्या में जेलों की यात्राएं कीं। गणेशशंकरजी को स्वयं इस आंदोलन में जेल पहुंचकर असहयोगियों से साक्षात्कार करने का अवसर प्राप्त हुआ और वे गहराई से उन जिंदगियों के आर-पार देख पाए जो गांधी की फौज के सिपाही बनकर स्वतंत्रता का जयघोष कर रहे थे। तत्कालीन वातावरण और स्वतंत्रता जैसी बड़ी लड़ाई में संलिप्त उन स्वतंत्रता संग्राम सैनिकों की आस्थाओं और प्रतिबद्धताओं को चीन्हने और उसे व्यक्त करने में उनसे कोई चूक नहीं हुई। मनुष्य के स्वभाव और उसके चरित्र के वे पारखी थे। कह सकता हूं कि उनके भीतर आत्मआलोचना का भी गजब का साहस था। यह कम बड़ी बात नहीं है कि अपनी जेल डायरी को शब्द देते समय वे उस समय के वातावरण और तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक सच्चाइयों को ब्योरेवार देखते-परखते चलते हैं। साथ ही हमें यह भी पता चलता है कि इसी देश में कभी गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे पत्रकार तपती जमीन पर बैठकर अपनी जिम्मेदारी को बखूबी निभाते रहे। वह युग व्यवसायिक पत्रकारिता का नहीं था। लोग मिशनरी ढंग से इस क्षेत्र में काम करने आते थे और उल्लेखनीय बात यह होती थी कि उन्हें बंद कमरों में नहीं, बल्कि जनता के बीच जाकर अपनी जिम्मेदारी का निर्वहन करना पड़ता था। शायद इसी के चलते वे पत्रकार होते हुए भी देश के सच्चे जनप्रतिनिधि बन कर उभरे और उन्होंने देश को दिशा और नेतृत्व प्रदान किया। सांप्रदायिकता की आग को बुझाने के बड़े काम के लिए अपने जीवन की आहुति देकर वे पत्रकारों के लिए जिस आदर्श की स्थापना कर गए, उसकी मिसाल अन्यत्र नहीं मिलती। वे जिस रास्ते पर चले, उस पर उनके पैरों के निशान आज भी बाकी हैं। उनकी यह जेल

डायरी इस बात का बड़ा साक्ष्य है कि किसी प्रतिबद्ध पत्रकार की अपने देश और समाज के सवालों पर क्या भूमिका हो सकती है। उनकी रिहाई के पश्चात 'प्रताप' में 1922 की इस जेल डायरी का धारावाहिक प्रकाशन भी हुआ और बाद को इसे सूचना विभाग उत्तर प्रदेश ने भी छापा था।

'प्रताप' साप्ताहिक का प्रकाशन गणेशशंकरजी नवंबर 1913 में ही कर चुके थे। पर इससे पहले ही वे पत्रकारिता की दुनिया में प्रवेश कर चुके थे। 1907 से ही 'कर्मयोगी', 'अभ्युदय', 'सरस्वती' और 'स्वराज्य' जैसे पत्रों में उनके प्रारंभिक लेखन को तलाशा जा सकता है। इनके जरिए गणेशशंकर देश की स्वतंत्रता के सवालों से ही रूबरू थे। मुक्ति-युद्ध के उन दिनों में अपनी कलम के माध्यम से वे लोगों को जिस चेतना से जोड़ने की मुहिम चला रहे थे, उसकी शिनाख्त के लिए उसका पुनर्पाठ मुझे जरूरी लगता है। अपनी इसी खूबी और समर्पण के चलते 1910 ही वे 'अभ्युदय' के सहायक संपादक नियुक्त किए गए।

'प्रताप' का प्रकाशन जब शुरू हुआ तब से ही यह पत्र मुक्ति-संग्राम की गांधीवादी और क्रांतिकारी धारा को एक साथ लेकर चल रहा था। बहुत कम पूंजी से उन्होंने यह अखबार चलाया। इसमें वे संपादकीय लिखने से लेकर प्रूफ देखने, पते लिखने और डाक में डालने जैसे काम स्वयं किया करते थे। इसमें उनके सहयोगी थे शिवनारायण मिश्र। अपनी निर्भीकता, अभिव्यक्ति की क्षमता और स्पष्ट जनपक्षधर नीतियों पर चलने के कारण 'प्रताप' को ब्रिटिश सरकार का अनेक बार कोपभाजन बनना पड़ा। पर इस अखबार के जरिए जनता की क्रांतिकारी चेतना को पैनाए रखने का बड़ा दायित्व उन्होंने संभाल लिया था। उनकी क्रांतिकारी दृष्टि जहां विदेशी सत्ता की उत्पीड़नात्मक कार्यवाहियों पर थी, वहीं वे देश के किसानों और मजदूरों की स्थितियों को निरन्तर लक्ष्य करके उनके साथ मजबूती से खड़े दिखाई पड़ रहे थे। 'प्रताप' के अग्रलेखों और उसमें छपने वाली सामग्री को देखकर अनुमान होता है कि विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध अत्यंत कठिन संघर्ष के उस दौर में भी वे जनता के सवालों को गहरे से छू-मथ रहे थे। माना जा सकता है कि 'प्रताप' का अपने पाठकों से बहुत अनोखे ढंग का संवाद था। यही कारण था कि उस दौर में वह जनता के बीच सर्वाधिक चहेता समाचार पत्र बन गया था। 'प्रताप' की ऐतिहासिक भूमिका का मूल्यांकन इन तथ्यों को सामने रखे बिना किसी तरह संभव नहीं है।

'प्रताप' की आर्थिक कठिनाइयां झेलते और उसमें कड़ी मेहनत करते हुए गणेशशंकरजी का स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया था। एक संपादक के नाते उनका एक पैर हमेशा जेल में रहा। स्वाधीनता के बड़े लक्ष्य और पत्रकारिता के उच्च आदर्शों की स्थापना के लिए वे बड़ी से बड़ी कुर्बानी देने में कभी पीछे नहीं हटे और ब्रिटिश साम्राज्यशाही से कभी समझौता नहीं किया। 'प्रताप' उनके लिए अखबारनवीसी नहीं, बल्कि राष्ट्रीय जनजागरण का अभियान था। स्वाधीनता के संघर्ष के साथ ही सामंतवाद और कुली प्रथा के विरोध में लिखते हुए उन्होंने जनता की लड़ाई का मोर्चा तय कर लिया था। उनकी कलम के बल पर ही सोलह पृष्ठों के इस साप्ताहिक की पृष्ठ संख्या बढ़कर चालीस तक पहुंच गई थी। उस समय 'प्रताप' का मूल्य दो रुपये प्रति था और वह देश के दूरदराज इलाकों तक पहुंचता था। कहा जाता है कि सुदूर पहाड़ों में इस अखबार को पढ़ने-सुनने के लिए लोग डाकखानों पर श्रद्धालुओं की तरह जमा हो जाते थे। इसका एक कारण यह भी था कि गणेशशंकरजी अपने पाठकों का बहुत ध्यान रखते थे। यहां तक कि 'प्रताप' में विज्ञापनों का प्रकाशन भी वे बहुत

सोच-समझ कर किया करते थे। साथ ही वे ऐसे विज्ञापन भी न देते थे जिनमें लोग झूठी बातें कहकर जनता को ठगने का षड्यंत्र करते थे। वे जिस विज्ञापनदाता के संबंध में शिकायत सुनते उसकी सच्चाई की जांच करते और यदि वास्तव में वह विज्ञापनदाता छद्म साबित होता तो उसी समय बिना किसी बात की चिंता किए हुए कि उससे 'प्रताप' को कितनी आर्थिक हानि उठानी होगी, वे उसका विज्ञापन छापना बंद कर देते थे। 'प्रताप' से जनता की सेवा ही हो, उससे किसी पाठक का कोई नुकसान न हो इस बात का वे बहुत ध्यान रखते थे। 'प्रताप' में जो सामग्री दी जाती थी, उसकी कसौटी यही थी। अश्लील बातों से भरे विज्ञापनों के लिए वहां कोई स्थान न था। जिस तरह आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी पाठकों के प्रति इतने संवेदनशील थे कि वे अपने लेख अपनी कम पढ़ी-लिखी पत्नी के समझ लेने पर ही छपने देते थे, उसी तरह गणेशशंकरजी की भी दृष्टि कलम चलाते समय आम पाठक पर टिकी रहती थी। गणेशशंकरजी के जीवनीकार देवव्रत शास्त्री ने लिखा है-- 'वह इस बात का बहुत ख्याल रखते थे कि 'प्रताप' में कोई ऐसी चीज न प्रकाशित हो जिसे पाठक अच्छी तरह समझ ही न पाए और जिससे उनकी रुचि बिगड़ती हो। कई दफे ऐसा मौका आया कि हम लोग लेख और कविताएं, खासकर कविताएं संपादित करके उनके पास ले गए पर कंपोज होने के लिए देने से पहले प्रायः सब मैटर वह एक बार देख लेते थे और उन्होंने उनमें जिसे क्लिष्ट देखा, छपने से रोक लिया। एक दफे हमारे एक सहकारी मित्र ने एक कविता प्रकाशनार्थ देनी चाही। नियमानुसार विद्यार्थीजी ने सब मैटर के साथ उस कविता को देखा। उन्होंने उस कविता का अर्थ उन महाशय से पूछा। वह कुछ संतोषजनक अर्थ बता न सके। उन्होंने उसे निकालकर उसकी जगह दूसरी कविता देने को कहा। भाई बालकृष्णजी को उस कविता का अर्थ मालूम था। कविता वास्तव में थी भी अच्छी, अतः उन्होंने उसे देने पर जोर दिया। विद्यार्थीजी ने उत्तर दिया--'भाई जिस कविता को हम लोग नहीं समझते, उसको हमारे अधिकांश पाठक नहीं समझ सकते। ऐसी कविता अच्छी होने पर भी हमारे किस मतलब की।

'तहकीकात कर चुकने के बाद वह सत्य और न्यायपूर्ण बात के प्रकाशन करने से कभी हिचकते न थे। जांच के बाद तो वह बड़ी से बड़ी विपत्ति का भी प्रसन्नतापूर्वक स्वागत करते थे। संपादकीय कर्तव्य के इस अंग का प्रतिपालन गणेशजी ने अपना तन-मन सब कुछ न्योछावर करके किया। लोक सेवा का यह कर्तव्य संपादक का सबसे बड़ा कर्तव्य है, और गणेशजी ने बड़ी से बड़ी कीमत देकर भी इसका आजन्म पालन किया। इस दिशा में वह लासानी थे। अपनी इसी कर्तव्यपरायणता के कारण उन्हें जाने कितनी बार जेल जाना पड़ा, जमानतें देनी और जब्ती करवानी बड़ी। न जाने कितने जमींदारों, ओहदेदारों, राजों और महाराजाओं की नाराजगी उठानी पड़ी और न जाने क्या-क्या कष्ट सहने पड़े। इस प्रकार के समाचार पाकर लोग अपना उल्लू सीधा करने की ताक में रहते हैं, मगर गणेशजी के उदात्त विचारों में इस प्रकार की गंदगी कभी नहीं आई। वह बड़े से बड़े प्रलोभनों से भी विचलित नहीं हुए। पत्रकार के लिए अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त करना तथा और भी अधिक से अधिक जानकारी हासिल करने के लिए उत्सुक रहना विशेष गुण समझा जाता है।'

स्वतंत्रता से पूर्व जब एक बार हिंदी और हिंदुस्तानी का विवाद जोरों पर था तो उन दिनों एक ओर गांधीजी हिंदुस्तानी भाषा की वकालत कर रहे थे तो दूसरी ओर पुरुषोत्तमदास टंडन इसके विरोध

में खड़े थे। उस समय हिंदुस्तानी अकादमी में एक विद्वान ने अपने भाषण में कहा था—‘आप लोग हिंदुस्तानी जबान की सृष्टि कर रहे हैं। पर क्या आपको मालूम है कि जुबान की सृष्टि हो चुकी है और उसका सृजनहार है—गणेशशंकर विद्यार्थी। अगर आपको मेरी बात का यकीन न हो तो आप एक बार ‘प्रताप’ में लिखे विद्यार्थीजी के लेखों को पढ़ जाइए। आप उन लेखों में शुद्ध हिंदुस्तानी जबान पढ़कर आनंदमग्न हो जाएंगे।’

हिंदुस्तानी भाषा के इसी आदि आचार्य ने पत्रकारिता के संबंध में जो कुछ सोचा, वह हमारे संपादकों, लेखकों और पत्रकारों के लिए बहुत गौरतलब है। ‘पत्रकार का दायित्व’ लेख में उन्होंने लिखा था—‘संसार के अधिकांश समाचार पत्र पैसे कमाने और झूठ को सच और सच को झूठ सिद्ध करने में उतने ही लगे हुए हैं जितने कि संसार के बहुत-से चरित्र-शून्य व्यक्ति। अधिकांश बड़े समाचार पत्र धनी-मानी लोगों द्वारा संचालित होते हैं। इसी प्रकार के संचालन के लिए वे हर समय, हर तरह के हथकंडों से काम लेना नित्य का आवश्यक काम समझते हैं। इस काम में वे इस बात का विचार करना आवश्यक नहीं समझते कि सत्य क्या है। सत्य उनके लिए ग्रहण करने की वस्तु नहीं है, वे तो अपने मतलब की बात चाहते हैं। संसार-भर में यह हो रहा है। इने-गिने पत्रों को छोड़कर, सभी पत्र ऐसा कर रहे हैं। जिन लोगों ने पत्रकारिता को अपना पेशा बना रखा है, उनमें ऐसे बहुत कम लोग हैं जो अपने चित्त को इस बात पर विचार करने का कष्ट उठाने का अवसर देते हों कि हमें सच्चाई की भी लाज रखनी चाहिए, केवल अपनी मक्खन-रोटी के लिए दिन भर में कई रंग बदलना ठीक नहीं है।’

इस देश में भी दुर्भाग्य से समाचार पत्रों और पत्रकारों के लिए यही मार्ग बनता जा रहा है। हिंदी पत्रों के सामने भी यही लकीर खिंचती जा रही है। यहां भी अब बहुत-से साधारण समाचार पत्र सर्वसाधारण के कल्याण के लिए नहीं रहे, सर्वसाधारण उनके प्रयोग की वस्तु बनते जा रहे हैं। एक समय था जब इस देश में साधारण आदमी सर्वसाधारण के हितार्थ एक ऊंची भावना लेकर पत्र निकालता था, और उस पत्र को जीवन-क्षेत्र में स्थान मिल जाया करता था। आज वैसा नहीं हो रहा है। आपके पास जबरदस्त विचार हो, और पैसा न हो, और पैसे वालों का बल न हो, तो आपके विचार आगे न फैल सकेंगे, आपका पत्र न चल सकेगा। इस देश में भी समाचार पत्रों का आधार धन होता जा रहा है। धन ही से वे निकलते हैं, धन ही के आधार पर चलते हैं, और बड़ी वेदना के साथ कहना पड़ता है कि उनमें काम करने वाले बहुत-से पत्रकार भी धन ही की कामना करते हैं। अभी यहां पूरा अंधकार नहीं हुआ है, किंतु लक्षण वैसे ही हैं। कुछ ही दिन पश्चात यहां के समाचार पत्र भी मशीन के सदृश्य हो जाएंगे, और उनमें काम करने वाले पत्रकार केवल मशीन के पुरजे। व्यक्तित्व न रहेगा, सत्य और असत्य का अंतर न रहेगा, अन्याय के विरुद्ध डट जाने और न्याय के लिए आफतों के बुलाने की चाह न रहेगी, रह जाएगा केवल खींची हुई लकीर चलना। मैं तो उस अवस्था को अच्छा नहीं कह सकता। ऐसे बड़े होने की अपेक्षा छोटे, और भी छोटे, किंतु सिद्धांतों वाले होना अच्छा। पत्रकार कैसा हो, इस संबंध में दो रायें हैं। एक तो यह कि उसे सत्य या असत्य, व न्याय या अन्याय के झगड़े में नहीं पड़ना चाहिए। एक पत्र में वह नरम बात कहे, तो बिना हिचक, दूसरे में वह गरम कह सकता है, जैसा वातावरण देखे, वैसा करे, अपने लिखने की शक्ति से डटकर पैसा कमाए, धर्म और अधर्म के झगड़े में न अपना समय खर्च करे और न अपना दिमाग ही। दूसरी राय यह है

कि पत्रकार की अपने समाज के प्रति बड़ी जिम्मेदारी है, वह अपने विवेक के अनुसार अपने पाठकों को ठीक मार्ग पर ले जाता है, वह जो कुछ लिखे, प्रमाण और परिणाम का विचार रखकर लिखे, और अपनी मति-गति में सदैव शुद्ध और विवेकशील रहे। पैसा कमाना उसका ध्येय नहीं, लोकसेवा ही उसका ध्येय है, और अपने काम से जो वह कमाता है, वह ध्येय तक पहुंचने के लिए एक साधन मात्र है। संसार के पत्रकारों में दो तरह के आदमी हैं। पहले दूसरे तरह के पत्रकार अधिक थे, अब इस उन्नति के युग में पहली तरह के। उन्नति समाचार पत्रों के आकारों-प्रकारों में हुई है। खेद की बात है कि उन्नति आचरणों में नहीं हुई। हिंदी के समाचार पत्र भी कथित उन्नति के राजमार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं। मैं हृदयसे चाहता हूँ कि उन्नति उधर हो या न हो, किंतु कम से कम वे आचरण के क्षेत्र में पीछे न हटें, और जो सज्जन इन पंक्तियों को पढ़ें, वे आचरण-संबंधी आदर्श को सदा ऊंचा रखें और समझें। पैसे का मोह और बल की तृष्णा भारतवर्ष में किसी भी नए पत्रकार को ऊंचे आचरण के पवित्र आदर्श से बहकने न दे।

गणेशशंकरजी में एक अच्छे संपादक की सभी खूबियां मौजूद थीं। वे जहां निर्भीकतापूर्वक 'प्रताप' का संपादन और प्रकाशन करते रहे, वहीं कितने ही लोगों को लेखक और पत्रकार बनाने में उन्होंने भरपूर सहयोग किया। उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचंद को हिंदी में लिखने को उन्होंने ही प्रेरित और प्रोत्साहित किया था। श्यामलाल गुप्त 'पार्षद' ने भी उन्हीं की प्रेरणा से प्रसिद्ध झंडा-गीत 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' की रचना की थी। भगतसिंह भी काफी दिनों तक 'प्रताप' प्रेस में काम करते रहे और उन्होंने छद्म नाम से उसमें नियमित लेख भी लिखे।

'प्रताप' कार्यालय तो वैसे भी क्रांतिकारियों का अड्डा था। कांग्रेस से जुड़े होने पर भी गणेशशंकरजी क्रांतिकारियों को भरपूर सहयोग और संरक्षण प्रदान करते रहे। शौकत उस्मानी भी बहुत दिनों 'प्रताप' कार्यालय में रहे। 'मैनपुरी षड्यंत्र केस' से लेकर काकोरी और लाहौर के मुकदमों की पैरवी तक क्रांतिकारियों के प्रति उनकी पक्षधरता देखने लायक थी। वे अपनी शक्ति भर बंदी क्रांतिकारियों को न्याय दिलाने की चेष्टा करते रहे और उनके परिवार वालों को सहायता पहुंचाने में भी उन्होंने कोई कोताही नहीं की। काकोरी कांड की फांसियों के बाद वे रामप्रसाद बिस्मिल के माता-पिता, अशफाकउल्ला के भाई और शहीद रोशनसिंह की पत्नी, पुत्र व पुत्री को बड़ी मदद करते रहे। वे रोशनसिंह की पुत्री के विवाह में उनके गांव नवादा भी गए और कहा कि रोशनसिंह के अभाव में इस पुत्री का पिता मैं हूँ। इस विवाह के ठीक पहले जब हलके का एक दरोगा यह कहकर उसमें अड़चन डाल रहा था कि क्रांतिकारी की लड़की से विवाह करने वाले भी राजद्रोही समझे जाएंगे। तब भी गणेशशंकरजी ने वहां जाकर उस दरोगा की लानत-मलानत की थी। उनकी जीवनी में लिखा है--'काकोरी के सजायापत्ता नौजवानों ने अपने साथ होने वाले दुर्व्यवहारों के कारण सन् 1927 ई. में विभिन्न जेलों में अनशन शुरू कर दिया। इन अनशनकारियों में राजकुमार सिन्हा, रामकृष्ण खत्री, मुकुन्दीलाल, विष्णुशरण दुबलिश थे। विद्यार्थीजी दस दिन, पंद्रह दिन, बीस दिन, पच्चीस दिन देखते रहे, पर सरकार टस से मस न हुई। विद्यार्थीजी ने होम मेम्बर को चिट्ठियां लिखीं, तार भेजे कि जनाब और कुछ न सही, इनसानियत के ही नाते इन नौजवानों पर रहम खाकर प्राण बखो जाएं। पर कुछ न हुआ। चालीस-चालीस, पैंतालिस-पैंतालिस दिन हो गए, मौत की नौबत पहुंच गई, फिर भी जब कुछ होते न देखा तो विद्यार्थीजी का कोमल हृदय कांप उठा, उन्हें उनके अनशन को बंद कराने की

सूझी क्योंकि प्राणरक्षा का अब कोई तरीका रह नहीं गया था। फतेहगढ़ जेल में दौड़े हुए गए और बहुत समझा-बुझाकर योगेश चटर्जी, गोविन्दचरण कार और रामदुलारे त्रिवेदी का 41 दिन के उपवास के बाद अनशन बंद कराया। उसके बाद नैनी जेल गए और उपवास के 47 वें दिन दुबलिश, मन्मथनाथ का अनशन बंद करवाकर उनकी प्राणरक्षा की। आगरा तथा बरेली की जेल में रहने वालों के पास भी जाने ही वाले थे, पर इन दोनों जगहों के भाइयों के अनशन बंद करने की बात सुनकर उन्होंने स्वयं ही वहां पहुंचना स्थगित कर दिया। इसी प्रकार 1929 ई. में जब लाहौर षड्यंत्र केस के सरदार भगतसिंह, बटुकेश्वर दत्त आदि क्रांतिकारियों को अनशन करते दो-दो मास से भी अधिक हो गए थे, तो आप वहां भी दौड़े हुए गए और लोगों का अनशन बंद कराने की पूरी चेष्टा की।

कांग्रेस में रहकर इस तरह क्रांतिकारी आंदोलन को सहयोग करना गणेशशंकरजी के ही बूते की बात थी। वे संकीर्ण मनोवृत्ति के थे ही नहीं। वे हमेशा ऐसे व्यक्तियों की खूब प्रशंसा करते थे जिनसे उनका मतभेद होता था। पं. रामप्रसाद बिस्मिल की फांसीघर में लिखी आत्मकथा का प्रकाशन उन्होंने 'प्रताप' प्रेस से ही किया था और सनकी विद्रोही मनचरशा अवारी पर 'प्रताप' के एक अंक में प्रशंसनीय लेख भी लिखा था। काकोरी के क्रांतिकारियों की फांसियों पर 'प्रताप' के एक अग्रलेख में लिखी गई उनकी मार्मिक टिप्पणी इसका सबसे बड़ा साक्ष्य है। 'वे दीवाने!' शीर्षक में उनके शब्द इस प्रकार थे-

‘अनुत्तरदायी? जल्दबाज? अधीर आदर्शवादी? लूटेरे? डाकू? हत्यारे अरे ओ दुनियादार? तू उन्हें किस नाम से, किस गाली से विभूषित करना चाहता है?

‘वे मस्त हैं, वे दीवाने हैं, वे इस दुनिया के नहीं। वे स्वप्नलोक की वीथियों में विचरण करते हैं। उनकी दुनिया में शासन की कटुता से, मां धरित्री का दूध अपेय नहीं बनता। उनके कल्पना लोक में ऊंच-नीच का, धनी निर्धन का, हिंदू मुसलमान का भेद नहीं है। इसी संभावना का प्रचार करने के लिए वे जीते हैं। इसी दुनिया में उसी आदर्श को स्थापित करने के लिए वे मरते हैं। दुनिया के पठित मूर्खों की मंडली उनको गालियां देती है लेकिन यदि सत्य के प्रचारक गालियों की परवाह करते तो शायद दुनिया में आज सत्य, न्याय, स्वातंत्र्य और आदर्श के उपासकों के वंश में कोई नाम लेवा और पानी देवा भी न रह जाता। लोक रुचि अथवा लोकोक्तियों के अनुसार जो अपना जीवन यापन करते हैं, वे अपने पड़ोसियों की प्रशंसा के पात्र भले ही बन जाएं, पर उनका जीवन औरों के लिए नहीं होता। संसार को जिन्होंने ठोकर मारकर आगे बढ़ाया वे सभी अपने-अपने समय में लांछित हो चुके हैं। दुनिया खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने तथा उपयोग करने की वस्तुओं का व्यापार करती है। पर कुछ दीवाने चिल्लाते फिरते हैं--‘सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।’

ऐसे कुशल किंतु औघट व्यापारी भी कभी देखे हैं? अगर एकबार आप हम उन्हें देख लें तो कृतकृत्य हो जाएं।’

फैजाबाद जेल के फांसीघर से अशफाकउल्ला ने गणेशशंकरजी को एक पत्र लिखकर कहा था कि वे उनसे 19 दिसंबर को लखनऊ स्टेशन पर मिलना न भूलें। 1927 के दिसंबर की 19 तारीख ही फांसी की तय थी। उस रोज फांसी के बाद अशफाक की लाश उनके खानदान की कब्रिस्तान में दफनाने के लिए घर वालों को दे दी गई। रेल के जिस डिब्बे से अशफाक का मृत शरीर लाया जा रहा था, गणेशशंकरजी ने लखनऊ रेलवे स्टेशन पर पहुंचकर शहीद को प्रणाम किया और चेहरे से

कफन हटाकर उनका चेहरा भी देखा। फिर पारसी शाह फोटोग्राफर से उन्होंने अशफाक का एक चित्र खिंचवाया और अशफाक के भाई रियासतउल्ला खां से बोले--‘तुम इनकी कच्ची कब्र बनवा देना। पक्की हम करा देंगे और इनका मकबरा ऐसा बनवाएंगे जिसकी नजीर यू.पी. में न होगी।’

गणेशशंकरजी के जीवन, उनके त्याग, आदर्श और सिद्धांतप्रियता की चर्चा करते हुए एक प्रमुख सहयोगी पत्रकार कृष्णदत्त पालीवाल ने अपने संस्मरणों में बताया था--‘जब मैं मुस्लिम कालेज अलीगढ़ से एम.ए., एल.एल.बी. पढ़ने गया तभी गणेशजी ने मुझे ‘प्रताप’ में जोतने के लिए ‘प्रभा’ का प्रकाशन शुरू कर दिया जिसका मैं ‘देवदूत बी.ए.’ के नाम से संपादन करता रहा। ‘प्रभा’ के संपादकों में देवदूत के नाम के अतिरिक्त गणेशजी के नाम का जाना पत्रिका की सफलता के लिए आवश्यक था परंतु उसकी संपादकीय टिप्पणियों में मैं अपने स्वतंत्र विचार व्यक्त करता था, जो कभी-कभी गणेशजी के विचारों के प्रतिकूल भी होते थे। ऐसे ही एक अवसर पर दैनिक पत्र ने गणेशजी पर यह आक्षेप किया कि ‘प्रताप’ में वे जो विचार व्यक्त करते हैं, ‘प्रभा’ में उसी के प्रतिकूल लिखते हैं। इस पर भी गणेशजी ने मुझे टोकने के वजाय उस पत्र के आक्षेप का यही उत्तर दिया कि ‘प्रभा’ के दूसरे संपादक भी हैं। स्वयं ‘प्रताप’ में मैं 1920 में बहुधा असहयोग आंदोलन के विरुद्ध अग्रलेख लिखता था, जबकि गणेशजी असहयोग आंदोलन के परमभक्त और अनुयायी थे। मेरे इन विचारों के कारण ‘प्रताप’ को भारी हानि पहुंची। लोगों ने प्रेस को जला देने तक की धमकी दी। ग्राहक संख्या चौदह हजार से घटकर सात हजार रह गई। लेकिन गणेशजी ने मुझसे यह नहीं कहा कि तुम यह क्या कर रहे हो?’

‘उनकी त्यागवृत्ति और सिद्धांतप्रियता का एक और उदाहरण है। रायबरेली मानहानि केस आदि आघातों के फलस्वरूप दैनिक ‘प्रताप’ बंद हो चुका था। उसके कुछ दिन बाद मई सन् 1922 में होने वाली अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में शामिल होने के लिए गणेशजी और मैं लखनऊ जा रहे थे। कानपुर स्टेशन पर उसी गाड़ी में जाते हुए जमनालाल बजाज ने गणेशजी को देखकर उन्हें अपने पास बुला लिया। लखनऊ पहुंचकर गणेशजी ने मुझसे कहा कि जमनालालजी कह रहे हैं कि दैनिक ‘प्रताप’ निकालो, उसके लिए दस हजार रुपये की सहायता मैं दे दूंगा। इस पर मैंने गणेशजी से कहा--‘जमनालालजी से रुपये लेकर दैनिक ‘प्रताप’ निकालना ठीक न होगा। यद्यपि जमनालालजी आपका आदर करते हैं तथापि महात्मा गांधी में उनकी श्रद्धा आपसे भी अधिक है। इसलिए सहज ही वे आपसे यह आशा करेंगे कि ‘प्रताप’ में महात्मा गांधी के कार्यक्रम की आलोचना न की जाए। महात्माजी के कार्यक्रम की आलोचना होने पर वे चाहें कुछ भी न कहें तब ही मन में तो यह अनुभव अवश्य करेंगे कि यह तो ठीक नहीं हो रहा।.... गणेशजी स्वयं तो महात्माजी के अनन्य भक्त थे परंतु चूंकि मैं उन दिनों महात्माजी के असहयोग आंदोलन से सब बातों में सहमत नहीं था, इसलिए मेरे मनोभावों का ख्याल करके गणेशजी ने जमनालालजी की सहायता को स्वीकार नहीं किया। संसार में कितने लोग इस प्रकार के त्याग का परिचय दे सकते हैं।’

‘प्रताप’ के दैनिक संस्करण का प्रकाशन होने पर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी आशा और आशीष व्यक्त करते हुए लिखा था--‘प्रताप, तुम्हारे आविर्भाव के समय ही तुम्हारे कार्य-कलाप देखकर हृदय में यह भाव उदित हुआ कि तुम कुछ काम कर दिखाओगे। वह संभावना सच निकली। अत्यंत छोटे बीज के भीतर जिस प्रकार वट का प्रकाणु वृक्ष छिपा रहता है, उस तरह तुम्हारे उस आरंभिक

अवतार में तुम्हारा यह आज का आकार और प्रकार भी निहित था। थोड़े ही दिनों में बढ़कर तुमने अपना कर्तव्य छाया के आविष्कारक के सदृश भारतवासियों के अन्तःकरण को सुखी कर दिया। अब तो तुम उस छाया के प्रभाव को और भी दूर-दूर तक बढ़ा रहे हो। यह तुम्हारी कर्तव्यनिष्ठा, सतत चिंतन, कार्यतत्परता, सत्य, प्रीति और श्रम-सहिष्णुता का फल है।

‘ईश्वर करे तुममें पूर्वोक्त गुणों का दिन-पर-दिन आधिक्य होता जाए, ईश्वर करे, तुम्हारे मार्ग पर चलने वालों की कामनाएं सफल हों, ईश्वर करे, किसी दिन तुम्हें सभ्य, शिक्षित और स्वतंत्र देश इंग्लैंड के ‘टाइम्स’ की पदवी भारत में प्राप्त हो जाए। अपने देश को ही अपना आराधना-मंदिर और देशवासियों को ही अपना अराध्य समझो। भेद-भाव से दूर रहो। सत्य का सदा आदर करो। कर्तव्य-पालन ही को अपना सबसे बड़ा धर्म मानो। न्याय-पथ से कभी भ्रष्ट न हो। परमात्मा को सर्वसाक्षी समझकर अपनी आत्मा को अन्याय के लेश से भी संश्लिष्ट न होने दो। न किसी के कोप से विचलित हो, न किसी के प्रसाद से कर्तव्य-च्युत। याद रखो, सर्वहित चिंतक और सरल मार्गगामी सज्जन ही संसार में सफल काम होते हैं।’

‘एक बात और करो। विवेक को कभी हाथ से न जाने दो। जो करो, परिणाम पर ध्यान देकर सोच-समझकर करो। ऐसा न हो कि तुम्हारे किसी अपरिणामदर्शी कार्य के कारण तुम्हारे मार्ग का अवरोध हो जाए अथवा तुम्हारी गति मंद पड़ जाए। सर्वसाधारण जनों के सच्चे सेवक बनने की चेष्टा करो। उन्हीं के हितों को अपना हित समझो। उन्हीं की संतुष्टि, उन्हीं की उन्नति, उन्हीं की कार्य-सिद्धि को अपना सबसे बड़ा पुरस्कार जानो।’

पत्रकारिता के लिए ऐसे आदर्शों का परचम लेकर गणेशशंकरजी ने जिस रास्ते को तय किया, वह कंटों भरा था। फतेहपुर जिला राजनीतिक सम्मेलन का नेतृत्व करते हुए 1923 में उन्होंने कहा था--‘मैं संग्राम का पक्षपाती हूँ। मैं समस्त सत्ताओं का विरोधी हूँ। फिर चाहे वह सत्ता मौजूदा नौकरशाही की हो या जमींदारी की, धनवानों की हो या ऊंची जातियों की।’ इस संबंध में उन्होंने 29 जनवरी को हरदोई जेल में अपनी डायरी में लिखा था--‘जीवन भर अमानुषिकता, असज्जनता के विरुद्ध लड़ता रहा। ईश्वर बल दे कि आगे भी लड़ सकूँ।’

‘प्रताप’ को जनता का जिस तरह अभूतपूर्व सहयोग मिला उससे गणेशशंकरजी के मन में एक ट्रस्ट के गठन का भी विचार आया। उनकी इस योजना से शिवनारायण मिश्र भी सहमत थे। अतः 15 मार्च 1919 को प्रताप-ट्रस्ट का रजिस्ट्रेशन कराया गया जिसमें गणेशशंकर विद्यार्थी, शिवनारायण मिश्र, मैथिलीशरण गुप्त, डॉ. जवाहरलाल रोहतगी और लाला फूलचंद थे। उस समय तक ‘प्रताप’ के संपादक-मुद्रक-प्रकाशक के रूप में गणेशशंकरजी का नाम ही जा रहा था। पर अब इसका मुद्रक-प्रकाशक शिवनारायणजी को बनाया गया। जानने योग्य है कि जब गणेशशंकरजी मजिस्ट्रेट के पास इस आशय का घोषणापत्र जमा करने गए तो उनसे जमानत की धनराशि एक हजार से बढ़ा कर दो हजार रुपये मांगी गई। मजिस्ट्रेट मि. स्ट्राइफ ने यह भी कहा कि चूंकि नए प्रिंटर का इस ‘बदनाम पत्र’ से पुराना संबंध है और पहले वाला प्रिंटर (गणेशशंकरजी) जो हाल में ही हुई कानपुर की मजदूर हड़तालों की खुली नेतागिरी करता रहा, ट्रस्ट में भी है, अतः प्रकाशक को चेतावनी दी जाती है कि उसे पत्र प्रकाशित करने की आजादी उस समय तक नहीं है जब तक वह मेरी अदालत में जमानत न दाखिल कर दे। जमानत दाखिल कर दी गई। लेकिन ‘प्रताप’ ऐसी चेतावनियों को

मानने वाला कहां था। उसके अस्तित्व की शर्त ही देश में स्वतंत्रता की अलख जगाने और जनता को सामंती उत्पीड़न के खिलाफ जंगजू बनाने में निहित थी।

काकोरी के विख्यात क्रांतिकारी सुरेशचंद्र भट्टाचार्य ने अपने संस्मरणों में जो कुछ लिखा है, वह 'प्रताप' और उसके संपादक गणेशशंकरजी के जिंदगीनामे का बड़ा खुलासा करता है--'मेरी गिरफ्तारी बनारस में 1915 में हुई। 4 वर्ष मैं उरई में रहा। दिन भर बाहर रात में एक कोठरी में रहना पड़ता था। 4 साल बाद नजरबंदी से छूटकर 'प्रताप' में आ गए। रासबिहारी बोस चले गए थे जापान। शचीन्द्र को अंडमान की सजा हुई। 1919-20 में साप्ताहिक 'प्रताप' के स्थान पर दैनिक 'प्रताप' शुरू हुआ। इस बीच शचीन्द्र अंडमान से आ गए। एक दिन बनारस में भेंट हुई। उन्होंने कहा कि फिर राइजिंग शुरू करनी है। लाहौर फिर एक लिंक बना। वहां अपने प्रतिनिधि जयचन्द्र विद्यालंकार की इतिहास की कक्षा में भगत सिंह पढ़ते थे। इस बीच में भगत सिंह की शादी की बात चली। उस समय उनका नाम बलवन्त सिंह था। शादी की बात सुनते ही भगत सिंह चिन्तित हुए। क्रांति के आंदोलन का संबंध जयचन्द्र विद्यालंकार के जरिए था। उसने बताया कि शादी कैसे कर सकता हूं, मुझे तो क्रांतिकारी कार्य करने हैं। इस बीच शचीन्द्र का दौरा लाहौर हुआ। जयचन्द्र ने भगत सिंह की शादी के संबंध में शचीन्द्र से बात की। पार्टी के बारे में भी बात की। शचीन्द्र ने भगत सिंह को कानपुर भेजने की बात कही, वहां वे सुरक्षित रहेंगे और आंदोलन में सहायता करेंगे। वहां मैं एक पत्र दूंगा सुरेश दा के लिए। तब हम जनरलगंज में रहते थे ओर 'वर्तमान' में काम करते थे। रायबरेली में एक शूटिंग केस हुआ जिस पर नवीनजी ने एक अग्रलेख लिखा। अखबार पर मानहानि का दावा चला। विद्यार्थीजी ने लेख वापस नहीं लिया, न क्षमा मांगी। 'प्रताप' के पूरे स्टाफ को रायबरेली जाना पड़ा। गणेशजी को सजा हुई। उन्होंने संपादक होने के नाते उसकी जिम्मेदारी स्वयं पर ली। इसी बीच मैं 'वर्तमान' प्रेस में चला गया। मैं लाहौर जाने वाला था पर 'वर्तमान' प्रेस में रह गया। एक दिन एडिटोरियल लिख रहा था, तब चपरासी ने सूचना दी कि कोई बाबू बुला रहा है। जाकर देखा तो एक सुंदर नौजवान सरदार पगड़ी पहने खड़ा था। उन्होंने मुझे पत्र दिया। रामलाल पाण्डेय से एडिटोरियल लिखने के लिए कहकर मैं चला गया। रामनारायण बाजार में एक मकान था, जिसमें बंगाली मेस था। वहां जाकर मैंने रसोइये से एक आदमी का खाना ज्यादा बनाने के लिए कहा। मैं भी वहीं रहता, खाता था। पास ही बटुकेश्वर दत्त रहते थे। मैंने उनसे कहा कि भगत सिंह बैठे हैं। तुम उनका साथ दो, वे अकेले हैं। जब गणेशजी को मालूम हुआ (डेढ़ साल की सजा मानहानि के मामले में काट कर वापस आ गए थे, साप्ताहिक 'प्रताप' सुचारू रूप से निकलने लगा था) तो उन्होंने मुझसे कहा कि बलवन्त तुम्हारे पास आ गया है, वह जब तक रहेंगे 'प्रताप' में खाना खाएंगे। गणेशजी एआईसीसी के मेम्बर थे और भगत सिंह के पिता सरदार किशन सिंह भी एआईसीसी के मेम्बर थे। गणेशजी से फूलबाग में मुलाकात हुई। उन्होंने कहा कि सुरेश बाबू मैं चाहता हूं कि तुम 'प्रताप' में फिर आ जाओ। मैं साप्ताहिक 'प्रताप' में आ गया। गणेशजी ने यह जानकर कि सरदार किशन सिंह एआईसीसी के मेम्बर का लड़का भगत सिंह ही कानपुर में है, तो उसे सुरक्षा में रखने के लिए 'प्रताप' में बुला लिया। मैंने कहा कि यदि एक नौजवान सिख लड़का वहां आए-जाए तो पुलिस को शक हो सकता है। इस बीच दिल्ली में पहाड़गंज में हिंदू-मुस्लिम झगड़ा हुआ। गणेशजी ने किराया दिया ताकि पहाड़गंज जाकर उसकी रिपोर्ट ले आए। भगत सिंह रिपोर्ट

लाए। गणेशजी ने कहा कि उन्हें काम सिखाया करो। रामनारायण बाजार में 221 नंबर मकान के मेस में बटुकेश्वर दत्त और भगत सिंह की दोस्ती हुई। तभी मन्मथनाथ गुप्त और आजाद दोनों आए और इनका परिचय मुझे हुआ। ये दोनों उम्र में कम थे। आजाद वीर-स्परिटेड लड़का था। केस चलने की अवधि में भगत सिंह कई बार आए। इसके बाद नया ऑर्गनाइजेशन बना। उसके मुख्य बने भगत सिंह। विजय कुमार सिन्हा उनके दाहिने हाथ बने।’

बाद को आंध्र प्रदेश के सिकन्दराबाद में रहने लगे कानपुर के प्रसिद्ध क्रांतिकारी विजय कुमार सिन्हा जिन्हें मैं ‘विजय दा’ कहता था, उनसे गणेशशंकरजी और ‘प्रताप’ की क्रांतिकारी भूमिका के बारे में जानने को जो कुछ मिला, वह इस प्रकार है—‘जिन बहुत से लोगों को गणेशशंकर विद्यार्थी के निकट आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ उनमें से एक मैं भी था। तब मैं कानपुर के पृथ्वीनाथ हाईस्कूल का एक छात्र था, जहां विद्यार्थीजी किसी समय अध्यापक रह चुके थे। मैं केवल बारह साल का था, जबकि राजनीति की ओर मेरा झुकाव होने लगा था। मैंने जलियांवाला बाग नरसंहार की उड़ती-उड़ती खबर सुनी और रामलीला परेड ग्राउंड पर आयोजित सभा में यह मालूम करने के ख्याल से गया था कि यह सब क्यों हुआ। मैदान के कोने में बुजुर्गों के बीच दबा-सा बैठा हुआ मैंने दुबले-पतले तथा बिखरे बालों वाले एक वक्ता को हमारे सैकड़ों देशवासियों के बर्बरतापूर्वक किए गए संहार के विरोध में रोषपूर्ण शब्दों में धाराप्रवाह बोलते हुए सुना। मेरे मन पर गहरा असर हुआ और अपने बचकाने ढंग से इस बात पर अचरज करता हुआ कि इस प्रकार की अन्यायपूर्ण और दुष्टतापूर्ण बातें क्यों हुईं, मैं इन विचारों में डूबता-उतराता घर की ओर चल पड़ा। चार से भी अधिक दशाब्दियों के बीत जाने पर आज भी मैं अपनी आंखों के आगे विद्यार्थीजी के व्यक्तित्व के विविध रूप देखता हूँ—एक ऐसा सज्जन और निष्ठावान व्यक्ति जो मानवीय व्यवहार में कोई भी भद्दी तथा गलत बात बर्दाश्त नहीं कर सकता था। उनके इस रोबीले स्वभाव के बारे में मुझे बहुत अधिक उसी समय जानने को मिला। उनकी हृदयगत शालीनता प्रभावित किए बिना न रहती थी। जो भी उनके संपर्क में आता, उन जैसा ही हो जाता। मैंने देखा है कि उनकी शालीनता उन्हें घेरे रहने वाले कार्यकर्ताओं के बीच से संकीर्णता एवं अश्लीलता को धो देती थी। चूंकि वे स्वतः अत्यंत निष्ठावान थे, इसलिए जब कभी वे, विशेषतया जनसेवा के क्षेत्र में वांछनीय कार्य में छल-कपट तथा धोखेबाजी होते देखते थे, तब उन्हें मानसिक वेदना होती थी।

1925 में कांग्रेस अधिवेशन प्रायः समाप्ति पर था और उन्हीं दिनों एक रोज उन्हें अपने कार्यालय में उदास और खिन्न बैठे हुए मैंने देखा। कारण पूछने पर पहले तो उन्होंने बताना नहीं चाहा, परंतु बाद में बोले कि कैम्पों में ठहरने के दौरान एक प्रमुख नेता द्वारा किए गए खर्च की मद के विषय में वे सोचकर दुखी हैं। स्वागत समिति के अध्यक्ष के नाते उनके पास उस नेता का निजी सचिव उपयोग हेतु टी-सेट लेने पहुंचा। चूंकि विद्यार्थीजी और अधिक महत्वपूर्ण काम में लगे हुए थे, उन्होंने उससे कहा कि टी-सेट खरीद कर उसका बिल भेज दें। पांच रुपये के उस बिल पर उस नेता के दस्तखत थे, विद्यार्थीजी यह देखकर विक्षुब्ध हो गए। उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि कितना व्यय उचित होगा। अगले वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन गोहाटी में हुआ। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि इन दिनों भी विद्यार्थीजी ‘प्रताप’ कार्यालय में बैठे संपादकीय कार्य में व्यस्त थे। मैंने कहा कि विद्यार्थीजी वहां कैसे नहीं आए। मुझे यह सुनकर और भी अधिक आश्चर्य हुआ कि उन्होंने अत्यंत

सरलता और अपनी स्वाभाविक गंभीरता के साथ कहा, 'क्या जरूरत थी? मैं इतना महत्वपूर्ण नहीं हूँ कि कांग्रेस की पॉलिसी तय करने में हाथ डालूँ।' और यह उस समय हुआ जब विद्यार्थीजी का स्तर काफी ऊंचा हो चुका था। यू.पी. के थोड़े से सुख्यात जनसेवकों में से वे एक थे और उनकी कीर्ति प्रांत की सीमाओं को पार कर दूर-दूर तक पहुंच चुकी थी। विद्यार्थीजी ख्याति से सदैव दूर रहना चाहते थे और वह भी किसी प्रयत्न के साथ नहीं, बल्कि उस सरलता के साथ जिसका आंतरिक स्रोत उनके चरित्र में निहित था। उनका जीवन तो कर्तव्य के प्रति समर्पित था। कर्तव्य जो किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए था, जिसे वे योग्य समझते थे। अब मैं उन्हें अच्छी तरह पहचानने लगा था और इसलिए मुझे कोई आश्चर्य न हुआ, जब सन् 1928 में एक दिन उन्होंने मुझे अपने दफ्तर में बुलाकर कहा कि उन्होंने अपने अधिकांश समय में पास ही के नरवल नामक गांव के किसानों में चुपचाप काम करने का निश्चय किया है और वे हमारी पार्टी से पूरा समय देने वाले कार्यकर्ताओं के रूप में कुछ सहायता चाहते हैं। मैंने उन्हें बताया कि वे हमारे संगठन की स्थिति भलीभांति जानते हैं और इस दृष्टि से एकमात्र वहीं काम के लिए पांच-छह सदस्यों को ही भेजना संभव होगा। हमारे क्रांतिकारी दल ने पहले ही किसानों और मजदूरों में काम करना तय कर लिया था और इसलिए इस अवसर का स्वागत किया गया। स्वभाव और बौद्धिक क्षमता की दृष्टि से जिन साथियों को चुना गया, उनमें एक अजय कुमार घोष भी थे, जो अब भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रधानमंत्री हैं।

'अपने राजनीतिक जीवन के प्रारंभ में गणेशजी ने सर्वसम्मत समाजवादी प्रवृत्तियों के साथ जन-सेवा-कार्य प्रारम्भ किया। अपने आस-पास उत्पन्न स्थितियों के अध्ययन से उन्हें यह विश्वास हो गया कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद से वास्तविक लड़ाई लाखों की संख्या में केवल कुछ अवसरों पर भी भीड़ इकट्ठी करने मात्र से ही नहीं, बल्कि सुसंगठित जन-संस्थाओं से ही संभव है। इसलिए वे केवल किसानों में नहीं अपितु श्रमिक वर्ग में भी सक्रिय हो गए। उन दिनों एक रमजान अली ने कानपुर मजदूर सभा का संगठन किया था। सन 1927 में जब कानपुर में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, गांधीजी ने उसका पूरा समर्थन किया। स्वागत समिति के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने श्रमिक आंदोलन पर बल दिया। यह अधिवेशन इसलिए भी महत्वपूर्ण था कि लंदन के फिलिप सम्राट और ब्रैडली उसमें शामिल हुए। उन्होंने सभी अच्छे कार्यकर्ताओं की सहायता की। इसी समय हरिहरनाथ शास्त्री, लाला लाजपतराय का पत्र लेकर कानपुर आए, जिसमें विद्यार्थीजी से प्रार्थना की गई थी कि श्रमिक क्षेत्र में कार्य के लिए वे शास्त्री को सहायता दें। शास्त्रीजी का गणेशजी को पूरा सहयोग मिला और वे शीघ्र ही कानपुर के मजदूरों के नेता हो गए। इन्हीं दिनों (शौकत) उस्मानी भी कानपुर आए, जो सन् 1924 के कानपुर बोलशेविक षड्यंत्र में हाल ही में छूटकर प्रसिद्ध हो गए थे। वे ग्वालटोली में ठहरे हुए थे और अपने काम के सिलसिले में बहुधा विद्यार्थीजी से मिला करते थे। अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टी के सिद्धांत में उनकी बड़ी आस्था थी और अपने उग्र वामपंथी दृष्टिकोण को प्रकट करते हुए वे बहुधा विद्यार्थीजी से बहस छेड़ दिया करते थे, जिससे कि विद्यार्थीजी पूर्णतया असहमत थे। ऐसे किसी भी अवसर पर उस्मानी के साथ होते ही मैं यह अंदाज लगा लिया करता था कि अब मनोरंजन होगा। किंतु, सभी सच्चे राजनीतिक कार्यकर्ताओं के प्रति गणेशजी की ऐसी स्नेहपूर्ण श्रद्धा थी कि वे न तो उस्मानी का दिल दुखाते थे और न तनिक भी झुंझलाते थे। इसके बदले एक मुस्कान के साथ वे बहस को टाल दिया करते थे। यहां यह उल्लेखनीय है कि शौकत

उस्मानी अपने समय में भारतीय कम्युनिस्टों में सर्वोच्च थे और इसके थोड़े समय बाद ही उन्होंने सीमांत क्षेत्र द्वारा तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने हेतु मास्को पहुंचने की व्यवस्था कर ली।

‘क्रांतिकारियों के प्रति तो विद्यार्थीजी में अपार श्रद्धा और प्रेम था। उन्होंने यह अनुभव किया कि राष्ट्रीय संघर्ष में इस दल का सबसे अधिक त्याग था और विद्यार्थीजी के लिए यही काफी था। निहित खतरे की तनिक भी परवाह किए बगैर वे हम लोगों से निकट संपर्क रखते थे और अपनी प्रभावपूर्ण स्थिति द्वारा प्रत्येक संभव सहायता दिया करते थे। ‘प्रताप’ के स्तंभों में और बालकृष्ण शर्मा (नवीन) द्वारा संपादित मासिक ‘प्रभा’ के पृष्ठों में भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन संघर्ष में बलिदान हुए शहीदों, विदेशों में काम करने वाले निष्कासितों और सीखचों में बंद दीर्घकालीन कैदियों के संबंध में प्रोत्साहन एवं सम्मानपूर्ण लेख नियमित रूप से प्रकाशित होते रहते थे। जब सरकार ने काकोरी षड्यंत्र का मुकदमा चलाया तो उत्तर प्रदेश में प्रथम जननेता थे कि जिन्होंने बचाव के लिए संगठन प्रारम्भ किया। जब अंत में चार कैदियों को मृत्युदंड दिया गया तो उन्हें फांसी से बचाने के लिए वे पागलों की भांति जनता में इधर-उधर दौड़ने लगे। उन्होंने समस्त राजनीतिक विचारधाराओं के नेताओं द्वारा इस मांग को बुलंद करते हुए सरकार के नाम एक अपील निकलवाई। इन दिनों में जब कभी उनसे मिला तो मुझे महसूस हुआ कि वे महान् वेदना में हैं, क्योंकि वे जानते थे कि उनके प्रयत्नों की सफलता की बहुत कम आशा है। फिर भी, पत्रों से वक्तव्य देने, स्मरण-पत्रों पर हस्ताक्षर कराने और जननेताओं से मिलने के रूप में वे अंतिम समय तक प्रयत्न करते रहे और सबसे अधिक महत्वपूर्ण था अपराधी बंदियों की लंबी भूख हड़ताल, जिनके साथ साधारण बंदियों जैसा व्यवहार किया जाता था और जो राजनीतिक बंदियों को मिलने वाली विशेष सुविधाओं की मांग कर रहे थे, जो उन्हें मुकदमा चलाने की अवधि में दी गई थीं। जब विद्यार्थीजी को यह पता लगा तो वे एक जेल से दूसरी जेल गए, बंदियों से मिले और उन्होंने यह प्रयत्न किया कि इस प्रश्न का आखिरी निर्णय होने तक इन बंदियों को कम से कम अस्थायी सुविधाएं दे दी जाएं। वे क्रांतिकारियों के विशाल परिवार में बड़े भाई के समान थे और अपने छोटे भाइयों की प्रत्येक संभव सहायता के लिए वे सदैव उत्सुक रहते थे। जब कभी तनिक भी सहायता संभव न होती तो भी विद्यार्थीजी अपार स्नेह और सांत्वना के साथ उनके पास जाते। जब भूख हड़ताल में जतीन दास की हालत चिंताजनक हो गई तो वे पहले राष्ट्रीय नेता थे जो जतीन बाबू के पास पहुंचे, उनके शारीरिक कष्ट और दृढ़ संकल्प को देखकर विद्यार्थीजी इतने अधिक प्रभावित हुए कि सलाह और सुझाव का शब्द भी न कह सके। मिलने के लिए दी गई अवधि में वे चुपचाप बैठे रहे और फिर जेल से चले आए। बाहर आकर वे भूख हड़तालियों की राजनीतिक मांगों के संबंध में देशव्यापी समर्थन प्राप्त करने में जुट गए। सन् 1928 में वे एक दिन अपने दफ्तर में चिंतित बैठे थे। जब मैंने कारण के संबंध में पूछा तो पता लगा कि यूरोप को भेजने के लिए उन्हें एक बड़ी धनराशि की आवश्यकता है। जवाहरलालजी ने अपने यूरोप के दौरे से वापस आने पर विद्यार्थीजी को सूचना दी थी कि बुसेल्स में साम्राज्यवाद के खिलाफ लीग के अधिवेशन में निर्वासित क्रांतिकारी वीरेन चटर्जी उन्हें मिले थे। चटर्जी लीग में कार्य करते थे और उन्हें आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी। जवाहरलालजी ने विद्यार्थीजी से यह व्यवस्था करने की प्रार्थना की।

‘उत्तर भारत के तत्कालीन प्रमुख क्रांतिकारी विद्यार्थीजी से कभी-न-कभी और बहुधा ‘प्रताप’ प्रेस

में ही मिल चुके थे। भगत सिंह ने जब सन् 1924 में शचीन्द्र सान्याल के सहयोग से रासबिहारी बोस से सहायता प्राप्त करने के लिए पंजाब में अपना घर छोड़ा तो वे 'प्रताप' प्रेस में कई दिनों तक ठहरे और विद्यार्थीजी के स्नेह से वे अत्यंत प्रभावित हुए। 'प्रताप' के पृष्ठों में क्रांतिकारी विषयों पर स्वतंत्र रूप से लिखने की उन्हें अनुमति थी। होली के दिनों में बम्बर अकालियों की फांसी पर उसी सप्ताह 'खून की होली' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था। उन्हीं दिनों गंगा में भीषण बाढ़ आई। कई दिन-रात तक गणेशजी मौके पर सहायता जुटाने में लगे रहे और भगत सिंह सदैव ही उनके साथ रहकर काम में हाथ बंटाते रहे। कानपुर के क्रांतिकारी संगठन के तत्कालीन प्रधान सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य से भी विद्यार्थीजी सदैव निकट का संपर्क बनाए रहे। उन दिनों कानपुर और बनारस ही दो प्रमुख महत्वपूर्ण केंद्र थे। सन् 1915 के पश्चात बनारस षड्यंत्र प्रकरण में रासबिहारी बोस के दाहिने हाथ शचीन्द्रनाथ सान्याल को आजीवन कारावास का दंड दिया गया था किंतु बाद में विश्व युद्ध के पश्चात उन्हें रिहा कर दिया गया। उत्तर भारत में उन्होंने पुनः संगठन का कार्य प्रारंभ किया। इस संबंध में वे जब कभी कानपुर आए उनके और विद्यार्थीजी के मिलने की निश्चित व्यवस्था होती रही। मुझे पता लगा कि बाद में जब हम लोगों पर लाहौर में मुकदमा चलाया जा रहा था, तो अपनी बड़ी हुई जिम्मेदारी और गतिविधियों के बीच महत्वपूर्ण बातों पर आजाद नियमित परामर्श लिया करते थे।

‘अपने व्यक्तिगत जीवन में गणेशजी पहले आर्थिक संकट और गरीबी के कष्ट को भुगत चुके थे। पैसे की कमी के कारण ही वे इलाहाबाद में अपनी कॉलेज की शिक्षा चालू न रख सके और कानपुर करेन्सी के दफ्तर में क्लर्क का पद स्वीकार करने के लिए मजबूर हो गए। मुझे विश्वास है कि उन पर इसकी गहरी प्रतिक्रिया हुई और अपने हर निकटस्थ व्यक्ति के कष्टों के प्रति वे अत्यंत संवेदनशील बन गए थे। मुझे वह दिन अच्छी तरह याद है कि जब पार्टी के निर्णय के अनुसार मुझे कानपुर में अपना घर छोड़ना पड़ा। गतिविधियां बहुत अधिक बढ़ चुकी थीं और जहां तक संभव हो, पुलिस की नजर से बचने के लिए यह तय किया गया कि पंजाब और उत्तर प्रदेश के सभी प्रमुख क्रांतिकारियों को एक दिन गायब होकर बाद में विभिन्न केंद्रों से काम करना चाहिए। यह बात सन् 1928 की है। मेरे बड़े भाई को पहले ही काकोरी षड्यंत्र में 10 वर्षों की सजा हो चुकी थी, परिवार में कोई दूसरा पुरुष सदस्य नहीं था। मैं अपनी मां के लिए चिंतित था, जिन्हें मैं घर में अकेला छोड़ आया था। मैं रात को 'प्रताप' प्रेस गया। उस समय हरी बाबू जो उस समय एक छोटे बच्चे थे, गणेशजी के टेबल पर बैठे पैर हिला रहे थे और अपने पिता के हाथ से गरम इमरती खा रहे थे। इस घरेलू दृश्य के बीच बाधा डालने में पहले तो मुझे हिचकिचाहट हुई, लेकिन देर हो रही थी, इसलिए मुझे अपने प्रस्थान का समाचार देना पड़ा। जब तक विद्यार्थीजी मेरी बात सुनते रहे, वे और सभी कुछ भूल गए और मुझे बड़ी देर तक गले से लगाए रहे। उनके गालों पर आंसू ढुलक रहे थे और उन्होंने मुझसे कहा, 'विजय बाबू, आप जाइए, मां को हम देखेंगे।' बाद में पुलिस ने हमारे घर की मेरी फरारी और कैद के दिनों में कई बार तलाशी ली, क्योंकि उन्हें यह मालूम पड़ गया था कि माताजी और बहिन आजाद और क्रांतिकारी दल के अन्य सदस्यों की सहायता करती थीं। जब तक गणेशजी जीवित रहे, तलाशी का पता लगते ही वे यह जानने के लिए हमारे घर आदमी भेजते थे कि किसी प्रकार की हानि तो नहीं पहुंचाई गई और तलाशी कानून के अनुसार हुई है।

‘गणेशजी के शब्द थोड़े थे लेकिन मैं प्रेस से चला आया, यह विश्वास लेकर कि अगर आवश्यकता पड़ी तो गणेशजी माताजी के पास अवश्य ही होंगे। सादगी का तो गणेशजी ने एक उदाहरण ही प्रस्तुत कर दिया था। जनता के काम से वे पैदल ही जाते थे और जब दूरी अधिक अथवा समय कम होने के कारण यह संभव न होता, तो वे गरीब आदमी की सवारी इक्का में ही चलते थे। वे साफ-साफ और सस्ती खादी पहनते थे। ‘प्रताप’ प्रेस में अगर अधिक व्यय वाली कोई मद ध्यान आकर्षित करती थी, तो वह थी उनकी लाइब्रेरी। वे अच्छी पुस्तकें पढ़ने के बड़े लोभी थे, विशेष रूप से समस्त देशों के स्वाधीनता संघर्ष के इतिहास और उनका भावनात्मक शक्तिपूर्ण साहित्य। विक्टर ह्यूगो उनका एक प्रिय लेखक था और उन्होंने ‘प्रताप’ प्रेस से ह्यूगो की कुछ रचनाओं का अनुवाद और प्रकाशन भी किया। उन्होंने भारतीय, आयरिश और रूसी क्रांतिकारियों द्वारा संचालित संघर्षों से संबंधित अनेक पुस्तकों का प्रकाशन किया। इनमें विभिन्न देशों के राष्ट्रीय नेताओं की जीवनियां भी सम्मिलित थीं। गणेशजी अक्सर कहा करते थे कि भारतीय संघर्ष के लिए संकल्पवान कार्यकर्ता उत्पन्न करने के लिए विश्व इतिहास और राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन आवश्यक है। संघर्ष के उन दिनों में विद्यार्थीजी के मन में संसदीय जीवन के प्रति कोई आकर्षण अथवा भ्रम नहीं था। लखनऊ में यू.पी. असेम्बली में पहली बार गए तो जनसाधारण के संबंधित समस्याओं पर हिंदी में बोले। कानपुर लौटकर उन्होंने मुझे बताया कि वहां का समस्त वातावरण सारहीन और अवास्तविक है।

‘विद्यार्थीजी के जीवन के अंतिम क्षणों अथवा दो-तीन दिनों के बारे में सोचने पर मेरी यही धारणा बनती है कि भगत सिंह के विचार ही वे शक्तिशाली तत्व थे, जो विद्यार्थीजी को प्रभावित किए हुए थे, जिन्होंने सांप्रदायिक दंगे रोकने के लिए प्रयत्नों को लौह संकल्प का बल दिया था। भगत सिंह को हाल ही फांसी पर लटकाया गया था। विद्यार्थीजी जानते थे कि सरदार जिन्हें वे इतना प्यार करते थे, इसीलिए मरे कि जिससे देश क्रांतिकारी लक्ष्य की पूर्ति कर सके। फांसी का समाचार जब कानपुर में फैला तो जनता का रोष विशुद्ध ब्रिटिश विरोध के रूप में ही व्यक्त होना स्वाभाविक था। बाद में जब गुर्गे प्रचारकों के प्रयत्न द्वारा उसने साम्प्रदायिक मोड़ लिया तो तूफान की तेजी को रोकने के सर्वोच्च प्रयास के रूप में विद्यार्थीजी ने अपने जीवन की बाजी लगा दी, ताकि शहीद की अंतिम इच्छा का अंत इतना दुखद न हो और वह भी विद्यार्थीजी के अपने नगर में। अपने इसी प्रयत्न में वे हमारे बीच से दूसरी दुनिया में चले गए। शहीदों की दुनिया में।

‘चूंकि मेरा संबंध कानपुर से था, अतः विद्यार्थीजी के निकट रहने और उनके चरित्र की शालीनता के दर्शन करने के अवसर मुझे अपने अनेक साथियों की अपेक्षा अधिक मिले।’

क्रांतिकारी विजय दा के संस्मरणों में गणेशशंकरजी संघर्षपूर्ण जीवन का एक पूरा अध्याय छिपा है। स्वतंत्रता आंदोलन में जेल उनके लिए विश्वविद्यालय बनी। वहां रहकर उन्हें अपनी डायरी लिखने और साहित्यिक पुस्तकों को पढ़ने का भरपूर अवसर मिला। हरदोई जेल से भेजे गए उनके पत्रों से पता लगता है कि वे हर बार 10-15 पुस्तकें भेजने और लौटाने की बात लिखते रहते थे। विदेशी लेखकों में विक्टर ह्यूगो उन्हें बहुत पसंद थे और उनके एक उपन्यास ‘ला मिजरेबल’ का उन्होंने अनुवाद भी किया था। सनसनीखेज पत्रकारिता से उन्हें चिढ़ थी। ‘चांद’ मासिक का ‘मारवाड़ी अंक’ निकलने पर उन्होंने उसकी कड़ी आलोचना की थी क्योंकि उस अंक में मारवाड़ी समाज का मखौल

उड़ाया गया था, जिससे वह अंक खूब बिका था।

गणेशशंकरजी ने 'प्रताप' के माध्यम से सिर्फ पत्रकारिता ही नहीं की, बल्कि जहां कहीं वे कुछ गलत देखते थे तो उसके विरोध में वे सक्रिय रूप में सामने आकर खड़े हो जाते थे। एक बार वे बेड़िया (अछूत) के पीछे पुलिस के लोग बुरी तरह पड़े थे। उन्होंने लिखा-पढ़ी करके उसे पुलिस से बचाने के लिए 'प्रताप' प्रेस में बुलाकर ठहरा लिया। प्रेस के कर्मचारी उस अछूत का छुआ पानी नहीं पीते थे लेकिन गणेशशंकरजी को जब भी पानी पीना होता था तो वे जानबूझकर उसी से मंगवाते थे मौका पड़ने पर वे ऐसे लोगों और मुसलमानों के बीच बैठकर खाना खाया करते थे। विचारों से वे पूरे क्रांतिकारी थे और अपनी लेखनी के माध्यम से वे इसी क्रांति की आग को प्रज्वलित करते रहे।

गणेशशंकरजी के कुछ संस्मरण मुझे पं. बनारसीदास चतुर्वेदी से सुनने का अवसर मिला था। उनका कहना था कि हिंदी पत्रकारिता अपनी चरमसीमा पर गणेशशंकर के ही व्यक्तित्व और कृतित्व से पहुंची। इस बारे में वे अपने गुरु आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से भी आगे बढ़ गए थे। पत्रकारिता के क्षेत्र में देवव्रत शास्त्री, दशरथ प्रसाद द्विवेदी और रमाशंकर अवस्थी इत्यादि उन्हीं की देन थे। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' भी उन्हीं की प्रेरणा प्राप्त करके आगे बढ़े थे। उनके शिष्यों में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और पं. श्रीराम शर्मा का नाम भी उल्लेखनीय है। देखा जाए तो विद्यार्थी अपने समय में संपूर्ण पत्रकारिता क्षेत्र पर छाए हुए थे और अनेक नौजवान उनसे सीख लेकर आगे बढ़ रहे थे।

1931 में कानपुर में जब हिंदू-मुस्लिम दंगा हुआ तो गणेशशंकर ने उस सांप्रदायिकता की भर्त्सना करते हुए लिखा था--'रक्तपात और नरहत्या अच्छे काम नहीं। संसार के सुंदर और सबल आदमियों का एक दूसरे के गले काटना कोई मनोहर दृश्य नहीं, वह आत्मा को कोई मृदु संदेश देने वाली चीज नहीं। वही लड़ाई लाख बार शुभ और अत्यंत शुभ है, जो ऊंचे भावों को कार्य में परिणित करने के लिए लड़ी जाए, जिसके पश्चात मनुष्यों में मनुष्य को समझने की बुद्धि बढ़ सके और अपने स्वार्थ पर अपने से कमजोरों को बलि दे देने की प्रवृत्ति कम हो सके।'

25 मार्च 1931 को कानपुर की ही एक सड़क पर सांप्रदायिकता की आग को बुझाने का प्रयास करते हुए गणेशशंकर शहीद हो गए। उनके जीवनीकार देवव्रत शास्त्री ने उनके बलिदान का बहुत मार्मिक वर्णन लिखा है, जिसका कुछ अंश इस प्रकार है--'23 मार्च को भगत सिंह, सुखदेव, राजगुरु को फांसी होने के कारण सारे भारत का वातावरण क्रांतिकारी हो गया। कैसे कानपुर में इस वातावरण को हिंदू-मुस्लिम दंगे में बदल दिया गया, यह इतिहास का एक अनोखा अध्याय है। 24 मार्च, मंगलवार 1931 ई. चैत्र सुदी 5, सं. 1988 को कानपुर में हिंदू-मुस्लिम दंगा शुरू हुआ। विद्यार्थी निकले और झगड़े के स्थानों में पहुंचकर लोगों को शांत करने, उनकी प्राण-रक्षा करने और उनके मकानों और दुकानों को जलने एवं लुट जाने से बचाने की कोशिश करने लगे। शाम तक वह इसी धुन में मारे-मारे फिरते रहे।

'इसी बीच उनसे लोगों ने मुसलमानी मोहल्लों में हिंदुओं पर होने वाले अत्याचारों का हाल कहा। यह जानते हुए भी जहां की बात कही जा रही है, वहां मुसलमान ही मुसलमान रहते हैं और इस समय बिल्कुल धर्मांध होकर पशुता का तांडव-नृत्य कर रहे हैं, विद्यार्थी निर्भीकता के साथ उधर चल पड़े। उन्होंने रास्ते में मिश्री बाजार और मछली बाजार के हिंदुओं को बचाया और वहां से चौबे गोला

पहुंचे। वहां पर उन्होंने विपत्ति में फंसे हुए बहुत-से हिंदुओं को सुरक्षित स्थानों पर भेजा और औरों के विषय में पूछ ही रहे थे कि मुसलमानों ने उन पर और उनके साथ के स्वयंसेवकों पर हमला करना चाहा। इस समय उनके साथ दो हिंदू और एक मुसलमान स्वयंसेवक थे। मुसलमान स्वयंसेवक के यह कहने पर कि पंडितजी को क्यों मारते हो, उन्होंने तो सैकड़ों मुसलमानों को बचाया है, भीड़ ने उन्हें छोड़ दिया। थोड़ी ही देर बाद मुसलमानों के एक दूसरे गिरोह का एक आदमी आगे बढ़ा। मुसलमान स्वयंसेवक ने उसे भी समझाया कि पंडितजी ने सैकड़ों मुसलमान भाइयों को बचाया है, इन पर वार न करो, पर उसने इस पर विश्वास न किया और भीड़ को विद्यार्थीजी को मारने का इशारा कर दिया। इसी समय कोई एक सज्जन विद्यार्थीजी को बचाने की गरज से उन्हें गली की ओर खींचने लगे। इस पर विद्यार्थीजी ने उनसे कहा--‘क्यों घसीटते हो मुझे। मैं भागकर जान नहीं बचाऊंगा। एक दिन मरना तो है ही। अगर मेरे मरने से ही इन लोगों के हृदय की प्यास बुझती हो तो अच्छा है कि मैं यहीं अपना कर्तव्य पालन करते हुए आत्मसमर्पण कर दूं।’ विद्यार्थीजी यह कह ही रहे थे कि चारों ओर से उन पर और उनके स्वयंसेवकों पर मुसलमान टूट पड़े। लाठियां भी चलीं, छुरे भी चले और न जाने किन-किन अस्त्रों के वार हुए। मुसलमान स्वयंसेवक को थोड़ी मार के बाद मुसलमान समझकर छोड़ दिया गया। दोनों हिंदू स्वयंसेवक बुरी तरह घायल हुए। इनमें जवाहरलाल नामक एक स्वयंसेवक तो वहीं स्वर्गवासी हुए, पर दूसरे की जान बच गई। विद्यार्थीजी को कितनी चोट लगी, वह कितनी देर बाद मरे और वहां से उनकी लाश को कब, कौन, कहां ले गया, इसका कुछ भी ठीक-ठाक पता आज तक नहीं चला।’

26 तारीख को दिन भर विद्यार्थी की खोज होती रही। 27 मार्च को अस्पताल में उनकी लाश को किसी तरह पहचाना और फिर 29 को प्रातः उनका दाह संस्कार किया गया। पत्रकार जगत की वह प्रखर ज्योति सदा के लिए विलुप्त हो गई। उनके बलिदान पर जवाहरलाल नेहरू ने कहा था--‘गणेशजी जैसे जिए, वैसे ही मरे और अगर हममें से कोई आरजू करे और कोई अपने दिल की सबसे प्यारी इच्छा पूरी करना चाहे, तो इससे अधिक क्या मांग सकता है कि उसमें इतनी हिम्मत हो कि मौत का सामना अपने भाइयों की और देश की सेवा कर सके, और इतना खुशकिस्मत हो कि गणेशजी की तरह मरे। वह शान से जिए और शान से मरे और उन्होंने मरकर जो सबक सिखाया, वह हम बरसों जिंदा रहकर क्या सिखाएंगे!’

गणेशशंकर अपने जीवन में भारतीय पत्रकारिता के क्षेत्र में बहुत उच्च नैतिक आदर्श स्थापित कर गए। उनका मार्ग कठिन जरूर है, पर उस पर चले बिना मौजूदा पत्रकारिता की वह खोई हुई पहचान वापस नहीं लौट सकती और न ही वह समय और समाज का भला कर सकेगी।

यहां हम फिर ‘प्रताप’ की जनपक्षधर भूमिका की ओर लौटते हैं। नीचे हम वे संपादकीय टिप्पणियां दे रहे हैं जो नवम्बर सन् 1921 में रायबरेली कांड को लेकर चलने वाले ‘प्रताप’ मानहानि अभियोग में दिए गए जमानत-मुचलका पर विभिन्न समाचार पत्रों में लिखी गई थीं--

(1) पाठकों को स्मरण होगा कि ‘प्रताप’ के सुविख्यात संपादक गणेशशंकर विद्यार्थी पर युक्त-प्रांतीय सरकार ने कुछ दिनों पूर्व धारा 108 का प्रहार किया था। श्री गणेशशंकर उस समय रायबरेली कांड के संबंध में ‘प्रताप’ पर चलाए गए मामले की पैरवी में लगे हुए थे। सरदार वीरपाल सिंह (रायबरेली का अत्याचारी जमींदार) के साथ उनका मुकाबला था, प्रकारांतर से सरकार के साथ

ही उनका मुकाबला हो रहा था। ऐसी परिस्थिति में विद्यार्थीजी पर 'पीछे से कायर वार' किया गया। युक्त-प्रांतीय सरकार ने इस कमीनी हरकत से शायद यह फल सोचा होगा कि विद्यार्थी पंद्रह हजार की जमानत तथा मुचलका न देंगे और एक साल के लिए कारावास ग्रहण कर लेंगे। ऐसा करने से प्रताप-मानहानि वाले मामले में सरकारी कूट चालों का भंडाफोड़ काफी तौर पर न हो सकेगा। किंतु यह न हुआ। यद्यपि विद्यार्थी को सरकारी अदालतों की निष्पक्षता पर विश्वास न था, तथापि केवल सरकारी कुटिल-कार्यवाही का भंडाफोड़ करने के लिए उन्होंने 'प्रताप' मानहानि के मामले में सफाई पेश की थी। प्रारंभिक अदालत से इंसाफ जो होना था वही हुआ, पर अदालत में सरकारी तथा गैरसरकारी गवाहों की जुबान से जो बातें प्रकट हुई हैं, वे आज की सरकार को कलंकित करने के लिए भविष्यत् के इतिहास में अपना स्थान रखेगी।

(2) मुकदमे के दौरान ही युक्त-प्रांतीय सरकार ने विद्यार्थीजी की जुबान पर ताला डाला और राष्ट्र-धर्म के उस सच्चे उपासक को, आपद्-धर्म समझकर जमानत देनी पड़ी। इस समय जबकि प्रारंभिक अदालत फैसला कर चुकी है, विद्यार्थीजी को चुपचाप बैठे रहना बुरी तरह खटका और उन्होंने 4 अक्टूबर को एक चिट्ठी लिखकर डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट को सूचना दे दी कि मैं अपनी दी हुई जमानत रद्द करना चाहता हूं और 10 दिनों के बाद, अपने को 108 के अपमानजनक बंधन से मुक्त समझूंगा। एक वीर और त्यागी पुरुष के लिए देश की इस कठिन अवस्था के समय किसी राजनीतिक कार्य में भाग न लेते हुए चुपचाप बैठे रहना असंभव था। विद्यार्थीजी ने इस अपमान की अपेक्षा एक वर्ष की जेल पसंद की और मजिस्ट्रेट से अपनी चिट्ठी का जवाब पाकर, वे स्वयं तारीख 16 अक्टूबर को कानपुर जेल के जेलर के पास पहुंच गए। हम गणेशजी को इस वीरोचित कार्य पर हार्दिक बध्ताई देते हैं। विद्यार्थीजी का यह आत्मसमर्पण, 'प्रताप' और विद्यार्थीजी की आज तक की परंपरा के अनुकूल ही हुआ है। (साप्ताहिक 'कर्मवीर', 22 अक्टूबर 1921)

गणेशशंकर विद्यार्थी, एडिटर 'प्रताप', कानपुर अपनी 'आजाद खयाली' और 'दिलेराना तहरीरों' के लिए हमेशा दफ्तरी हुकूमत की आंखों में खटकते रहे हैं। चुनांचे जब रायबरेली की गोलाबारी की वजह से ठाकुर वीरपाल सिंह ने 'प्रताप' के एडिटर व पब्लिशर पर तौहीन का दावा किया, तो दफ्तरी हुकूमत ने अपना मौका देखा और जरे दफा 108 जाब्ता फौजदारी विद्यार्थीजी से पांच-पांच हजार की दो जमानतें और पांच हजार का एक मुचलका तलब किया। इससे आम-ख्याल की तसदीक हो गई कि ठाकुर वीरपाल सिंह के मुकदमे में दफ्तरी हुकूमत की हमदर्दी है। श्रीयुत गणेशशंकरजी ने उस वक्त जमानत देना मुनासिब समझा और जमानत दे दी लेकिन मुल्क की कुरह हवाई ऐसा बन गया कि उन्होंने जेल की जिंदगी को जरे दफा 108 बेकार पड़े रहने पर तरजीह दी। (प्रकाश, 29 अक्टूबर 1921)

हम सहयोगी 'प्रताप' के भूतपूर्व संपादक गणेशशंकर विद्यार्थी को उनकी इस बात पर बधाई देते हैं कि उन्होंने धारा 108 के अनुसार दी गई जमानत को मनसूख कर दिया है। यह सभी जानते हैं कि श्रीयुत विद्यार्थीजी का धारा 108 के अनुसार जमानत देना या ठाकुर वीरपाल सिंह द्वारा दायर किए हुए मुकदमे में मुद्दालेह की हैसियत से पैरवी करना उनके असहयोगी मित्रों की इच्छा के बहुत खिलाफ था।.... पर अब जबकि विद्यार्थीजी ने अपना उद्देश्य पूरा कर लिया, निष्कपटता और निर्भीकता से उन्होंने जेल जाना स्वीकार कर लिया और यह स्पष्ट साबित कर दिया कि जमानत

का तो देना या मुकदमे का लड़ना जेल के भय से नहीं था, बल्कि केवल एक सिद्धांत के अनुसार था। हम विद्यार्थीजी को उनकी जेलयात्रा के लिए बधाई देते हैं। ('स्वराज्य', प्रयाग, 27 अक्टूबर 1921)

जिस समय गणेशशंकरजी विद्यार्थी रायबरेली में 'प्रताप' के मानहानि वाले मुकदमे में पूरी तरह फंसे हुए थे, उसी समय 23 मई को यू.पी. गवर्नमेंट की आज्ञा से कानपुर के जिला मजिस्ट्रेट ने 'प्रताप' के संपादक विद्यार्थीजी और उसके मुद्रक व प्रकाशक पं. शिवनारायण मिश्र से उसी रायबरेली के हत्याकांड से संबंध रखने वाले दो लेख प्रकाशित करने के कारण जिन्हें गवर्नमेंट ने धारा 108 का अपराधी समझा था, उनसे पांच-पांच हजार के मुचलके और इतने ही की दो जमानतें मांग लीं।

विद्यार्थी 'प्रताप' के संपादक पद से और मिश्रजी मुद्रक और प्रकाशक पद से इस्तीफा दे चुके थे। नए संपादक पं. श्रीकृष्णदत्त पालीवाल एम.ए. हुए थे, और वे ही मुद्रक व प्रकाशक हुए। जब विद्यार्थीजी 'प्रताप' के मामले में फंसे थे तो उसी दशा में उसी मुकदमे से संबंध रखने वाले लेखों के कारण जमानतें व मुचलके मांगना न केवल अन्यायपूर्ण था, किंतु पूरी तरह गवर्नमेंट के संकीर्ण हृदय का भी परिचय देता था।

किंतु इच्छा न होते हुए भी केवल रायबरेली हत्याकांड के रहस्य का भंडाफोड़ करने के भाव से प्रेरित होकर ही इन सज्जनों की जमानत और मुचलके दिए। अब जब 'प्रताप' का मुकदमा खत्म हुआ और रहस्य का भी भंडाफोड़ हो चुका, तब विद्यार्थीजी ने अपनी जमानतें और मुचलके रद्द करवा दिए और प्रसन्नता से सच्चे वीर की तरह जेल चले गए। स्वतंत्रता देवी के मंदिर में उसकी पूजा करने के लिए उद्यत होने पर हम विद्यार्थीजी को सच्चे हृदय से बधाई देते हैं, और इस बात के लिए ईर्ष्या करते हैं कि ऐसा सौभाग्य उन जैसे सच्चे वीरों ही को प्राप्त हुआ करता है। विद्यार्थीजी एक बड़े ही त्यागी, चरित्रवान, सच्चे, नम्र, निर्भीक, उच्च श्रेणी के संपादक हैं। दरिद्र होने पर भी उनके पास इतना बड़ा धन है कि बड़े-बड़े धन भी उनके सामने कोई चीज नहीं।..... हमें विद्यार्थी की जेलयात्रा से संतोष है। पर गवर्नमेंट से दो-दो बातें करना चाहते हैं। 'प्रताप' वाले मुकदमे में पहले विद्यार्थीजी ही शामिल थे, फिर मिश्रजी भी ले लिए गए। जाब्ता फौजदारी की दफा 108 की कार्यवाही करके तो गवर्नमेंट 'प्रताप' और 'प्रताप' वालों का खात्मा कर देना चाहती थी, पर वह वार खाली गया। ऐसी दशा में जबकि विद्यार्थीजी या मिश्रजी 'प्रताप' के संचालन के लिए किसी प्रकार भी कानूनी दृष्टि से जिम्मेदार नहीं थे, वैसी दशा में गवर्नमेंट के लिए अपनी मान-मर्यादा बनाए रखने के लिए यही उचित था कि वह विद्यार्थीजी व मिश्रजी से जमानतें व मुचलके न लेती, क्योंकि इन सज्जनों पर तो जो दफा 108 की कार्यवाही हुई वह 'प्रताप' के संचालन से ही संबंध रखती है। उनकी कुछ व्यक्तिगत बातों से संबंध नहीं था। 'प्रताप' से उनका संबंध खत्म होते ही दफा 108 की कार्यवाही खत्म हो जानी चाहिए थी। पर यदि यह भी मान लिया जाए कि उस समय हालात ठीक नहीं थे, तो अब तो मामला बिल्कुल साफ और शांत हो गया है। अब तो सब भूल गए हैं कि मुंशीगंज और फसतगंज में क्या हुआ था? क्या ऐसी दशा में गवर्नमेंट की विद्यार्थीजी और मिश्रजी के 'प्रताप' के संबंध में लिए गए जमानत व मुचलके खारिज न करना किसी तरह भी उचित कहा जा सकता है? चाहे तिबल दल के बड़े-बड़े लीडर लोग गवर्नमेंट के इस कार्य की दुन्दुभी बजाएं, पर उनके ही दल के प्रतिष्ठित सहयोगी 'लीडर' ने जो यह लिखा है--'अर्थात्-यही समझा जाता था कि गवर्नमेंट ने कमीनेपन और संकीर्ण हृदय से काम लिया है।'

यह ठीक है। यदि 23 मई को ऐसा समझने में कुछ संदेह भी हो तो गवर्नमेंट के लिए ये विशेषण आज पूरी तरह उपयुक्त हैं। यदि गवर्नमेंट इन विशेषणों से नाराज है तो उसे जमानत व मुचलके शीघ्र रद्द करना चाहिए।

क्या माननीय मिनिस्टर मि. चिंतामणि महाशय इस ओर गवर्नमेंट का ध्यान आकर्षित कर उसे अपने कर्तव्य-पालन पर सन्नद्ध करेंगे? ('भारत बन्धु', 27 अक्टूबर 1921)

गणेशशंकर विद्यार्थी एडिटर 'प्रताप'.....(कागज फटा).... उन असहाब में हैं जिनके खलूस नियत (स्पष्ट भाषण) और हब्बुल-वतनी (देश-प्रेम) में किसी को शुबहा नहीं हो सकता। गवर्नमेंट की और आपकी अक्सर मुटभेड़ हो चुकी है, लेकिन इस साल के शुरू में ही गवर्नमेंट ने दफा 108 जाब्ता फौजदारी की जो कार्यवाही आप और हम-असर 'प्रताप' के प्रिंटर व पब्लिशर साहब पर की है....हरगिज एक बुलंद हौसला और बुलन्द.....गवर्नमेंट के 'शायाने-शान' नहीं कही जा सकती है। विद्यार्थीजी रायबरेली के मुकदमे में..... थे जब पिछली खयाल के बमूजिब लोकल गवर्नमेंट.... बेताल्लुक नहीं थी। ऐसी सूरत में गवर्नमेंट का यह बर्ताव आवाम की नजरों में बहुत ही बुरा और नामुनासिब हुआ है। विद्यार्थीजी जब आज कल एडिटरी अखबार से बिल्कुल अलग हैं, ऐसी सूरत में.... कार्यवाही.....इजहारे नागवार.....जी के मुताल्लिक आपने खत में कई गलत बयानियां की हैं। यह कहना कि विद्यार्थीजी ने गवर्नमेंट से कोई वादा किया, बिल्कुल गलत है। गवर्नमेंट ने एक दफा 'प्रताप' के साथ किसी कदर रियायत जरूर की थी, मगर हमारा खयाल है कोई वादा नहीं हुआ था। लेकिन उसका नतीजा अच्छा ही रहा था। इस मर्तबा गवर्नमेंट की तरफ से यह कहना कि दफा 124 ए व 153 ए की कार्यवाही नहीं की गई, महज बकवास है। इसलिए गवर्नमेंट के रवइया से साफ जाहिर है कि अगर इन दफात की : से मुकदमा कायम हो सकता तो उस वक्त विद्यार्थीजी के साथ कोई रियायत न होती। गवर्नमेंट का रवइया कुछ दिनों से बहुत ही इक्तदार पसन्दाना हो रहा है, जिसका हमको दिली अफसोस है। ('आजाद', 26 अक्टूबर 1921)

और अंत में दी जा रही इस टिप्पणी के अखबार का नाम पता नहीं चल सका, पर यह भी उसी दौर की एक प्रतिक्रिया है जिससे अनुमान होता है कि इस प्रकरण की कितनी तीखी हलचल सब तरफ हुई थी :

'प्रताप' अपने जन्मकाल से ही नौकरशाही की निरंकुशतापूर्ण कार्यवाहियों का कड़ा आलोचक रहा है। किसानों और संयुक्त-प्रांत की गरीब जनता का तो वह एकमात्र प्राण ही है। रायबरेली के मुंशीगंज हत्याकाण्ड के संबंध में 'प्रताप' ने बड़ी निर्भयता के साथ ऊंची आवाज उठाई थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसके प्रसिद्ध संपादक श्री गणेशशंकर विद्यार्थी तथा प्रकाशक शिवनारायणजी पर उन्हीं के एक भाई ने मान-हानि का मुकदमा चला दिया। हत्याकांड के संबंध में ही उनमें से प्रत्येक से धारा 108 के अनुसार सरकार ने पंद्रह-पंद्रह हजार की जमानतें और मुचलके लिए। उस समय विद्यार्थीजी को अपनी जान प्यारी नहीं थी, यदि प्यारा था तो उनका वह 'प्रताप' जिसके लिए आरंभ से ही उन्होंने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया था। इस कारण उस समय विद्यार्थीजी तथा मिश्रजी ने पंद्रह-पंद्रह हजार की जमानतें तलब कर दीं। 'प्रताप' की कठिनाइयों को समझने वाले कई लोगों में से कुछ ने उन पर प्रकट रूप से और कुछों ने गुप्त रूप से उन पर नीच से नीच आरोप भी आरोपित किए। निःसन्देह वे असहयोगी थे, और इस कारण उस हैसियत से मुचलके देना उनके

लिए उचित न था। संभव है उनका दृष्टिकोण भिन्न रहा हो, किंतु यह कहना सर्वथा अज्ञानतामूलक होगा कि विद्यार्थीजी ने अपने को जेल की आपत्तियों से बचाने के लिए मुचलके दाखिल किए थे। इस कथन की सच्चाई अब पूर्ण रूप से सिद्ध हो गई है।मुचलका रद्द न कराते तो विद्यार्थीजी फैसले के अनुसार तीन ही मास के लिए जेल जाते। परंतु उन्होंने अब अपनी खुशी से एक साल की सजा को मंजूर कर दिया है। नौकरशाही के चंगुल, 'प्रताप' को चिरंजीव रखकर फैसले से अधिक गुनी सजा को स्वीकार कर जेल जाने वाले श्री विद्यार्थीजी की बुद्धिमानी, साहस और सच्ची देशभक्ति के लिए हम उन्हें हृदय से बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि उनका उज्ज्वल बलिदान उनकी अनुपस्थिति में भी उनके प्यारे 'प्रताप' को और भी अधिक उत्साह और निर्भीकता से देश को धर्म-पथ पर आगे बढ़ाएगा।'

ऐसी टिप्पणियां या अग्रलेख तब देश भर के जिन अखबारों में प्रकाशित हुए थे, उनमें 'संसार', 'वैभव', 'माहेश्वरी', 'फक्कड़', 'अभ्युदय', 'कलकत्ता समाचार', 'शक्ति', 'युगांतर', 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

इसी तरह सन् 1923 में जब गणेशशंकरजी जेल गए तब भी 'आज' से लेकर 'राजस्थान केसरी', 'भारत बंधु', 'कर्तव्य', 'नवयुग', 'तरुण भारत', 'कूर्माचल केशरी', 'लक्ष्मण' और 'लीडर' में उनके समर्थन और सरकार की निंदा करते हुए समाचार प्रकाशित हुए थे।

मुझे मुंशीराम शर्मा की कविता की कुछ पंक्तियां याद आती हैं जिनमें 'प्रताप' की गौरवगाथा दर्ज हुई है--

कार्तिक, देवोत्थान, सुभण संवत सत्तर का।

शुभ मुहुर्त, शुभ घड़ी, समय शुभ, श्री शंकर का।

चमका पुण्य 'प्रताप' प्रतापी श्री गणेश का।

जनता का प्रिय भक्त, मूर्त बलिदान देश का॥

इसी तरह गणेशशंकरजी की तीसरी जेल-यात्रा पर सुरेन्द्र शर्मा ने भी कहा था--

मातृ-भूमि स्वाधीन बनेगी, हम होंगे स्वच्छंद सभी।

अमर रहे तेरा 'प्रताप' यह युद्ध न होगा बंद कभी॥

गणेशशंकरजी के 'प्रताप' की इस क्रांतिकारी जनपक्षधर भूमिका ने मुक्तिसंघर्ष के इतिहास में जिस इबारत को दर्ज किया वह वर्तमान पत्रकारिता के लिए एक मिसाल और चुनौती भी है। 'प्रताप' के पौधे को अपना रक्त देकर सींचने वाले गणेशशंकर विद्यार्थी को याद करना एक निर्भीक और कर्तव्य-पथ पर अडिग रहने वाले संपादक के जिंदगीनामे से रूबरू होना भी है।

विद्यानिवास मिश्र और हिंदी पत्रकारिता

अच्युतानंद मिश्र

पंडित विद्यानिवास मिश्र की पत्रकारिता या संपादन-कर्म पर बोलना या लिखना एक जोखिम भरा काम है, कम से कम मेरे लिए। केवल इसलिए नहीं कि उनके सृजन-संसार का विस्तीर्ण फलक और उनके अध्ययन, चिंतन तथा अनुभव को छूना मेरे लिए दुष्कर है, अपितु इसलिए भी कि समाचारपत्रों तथा वैचारिक पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी रचनाओं या समसामयिक विषयों पर लिखी गई संपादकीय टिप्पणियों को उनके संपूर्ण लेखन के विचार-सूत्र की समग्रता से अलग करके देखना मेरे लिए बेहद कठिन है। देश और देशज उनके समग्र चिंतन के केंद्रीय तत्व थे। उनके साहित्यिक और पत्रकारीय लेखन के बीच की विभाजक रेखा अमूर्त और काल्पनिक लगती है। लेखन, संपादन और संवाद उनका सर्वाधिक प्रिय तथा नवोदित प्रतिभाओं में प्राण फूंकने की अद्भुत क्षमता थी। दैनिक अखबारों में नियमित स्तम्भ लिखनेवालों को अगर शामिल न करें, तो गंभीर लेखन से जुड़े शायद ही कुछ लोग होंगे, जिन्होंने समाचारपत्रों या साहित्यिक और सांस्कृतिक पत्रिकाओं के लिए इतना प्रचुर लेखन किया है।

पंडित विद्यानिवास मिश्र के पांडित्य और वैदुष्य का फलक इतना उन्नत, उदात्त और सर्वग्राही है कि उसमें आगम और निगम, लोक और शास्त्र सहित ज्ञान-विज्ञान की आधुनिकतम विधाएं और कलाकौशल सम्मिलित है। मेरी राय में उनके चिंतन, अध्ययन और अनुभवों की समेकित ज्ञान राशि पूरी तरह उनके ग्रंथों, निबंधों या व्याख्यानों में समा नहीं पायी है। उदाहरण के लिए राजनीति, धर्म और अध्यात्म उस रूप में उनके नियमित लेखन के क्षेत्र नहीं थे जिस तरह साहित्य, संस्कृति, दर्शन, भाषा, शिक्षा या कला का क्षेत्र था लेकिन तीनों क्षेत्र उनकी चिंता और विमर्श के दायरे में गंभीरता से उपस्थित थे। राजनीति, धर्म और अध्यात्म के राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय विद्वानों से उनका गहरा संपर्क था। राष्ट्रीय राजनीति और पत्रकारिता में शायद ही कोई ऐसा बड़ा राजनेता, स्तंभकार या संपादक हो जो उनसे अपरिचित रहा हो। सामाजिक और सांस्कृतिक, मीडिया और राजनीति के मूल्यों में हो रहे क्षरण से वे निरंतर व्यथित और क्षुब्ध रहते थे। पिछले 6 दशकों की राजनीति, प्रशासन, शिक्षा, साहित्य और पत्रकारिता के सभी उतार-चढ़ावों के न केवल वे साक्षी थे बल्कि लाभार्थी और भुक्तभोगी भी थे।

पंडित जी का पहला लेख सन 1947 में प्रसिद्ध दैनिक 'भारत' में प्रकाशित हुआ था। उन दिनों उसके संपादक थे पं. बलभद्र प्रसाद मिश्र। तब से पत्रकारिता से जुड़ा उनका लेखन अविच्छिन्न और आजीवन बना रहा। वह लेखन आज उनके साहित्य का एक अटूट हिस्सा बन चुका है। उनकी

साहित्यिक यात्रा का माध्यम भी पत्रकारिता ही बनी थी। 'छितवन की छांव' एक लेखमाला के रूप में उनके आदरणीय भाई सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' की पत्रिका 'प्रतीक' में 1950 में प्रकाशित हुई थी। बाद के वर्षों में देश की श्रेष्ठ हिंदी पत्रिकाओं जैसे 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'ज्ञानोदय', 'कल्पना', 'माध्यम' और 'विवेचना' में उनके निबंध प्रकाशित होते रहे। उन लेखों की संपादित सामग्री अनेक पुस्तकों के रूप में मौजूद है। अज्ञेयजी के आग्रह पर साप्ताहिक 'दिनमान' में भाषा को लेकर उनकी जो लंबी लेखमाला प्रकाशित हुई थी, वही 'हिंदी की शब्द-संपदा' पुस्तक के रूप में उपलब्ध है। इसी तरह हिंदू धर्म जीवन में सनातन की खोज, 'फागुन दुई रे दिना', 'सपने कहां गए' जैसी अनेक पुस्तकें दैनिक 'नवभारत टाइम्स', 'जनसत्ता', 'साहित्य अमृत' या दूसरे पत्रों में प्रकाशित लेखमालाओं के संपादित संस्करण हैं। उनके ललित निबंधों की तरह इन लेखों में भी साहित्य, संस्कृति, आलोचना, शिक्षा, भाषा समाज विज्ञान, दर्शन, इतिहास, धर्म, राजनीति या पत्रकारिता पर मौलिक सोच एक गहरी अंतर्दृष्टि के साथ मौजूद हैं, जो पाठकों की न केवल जिज्ञासा शांत करती है बल्कि उन्हें रसविभोर भी करती हैं। क्या लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, गणेश शंकर विद्यार्थी, माखनलाल चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी या बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की राजनीति, स्वाधीनता-संघर्ष और पत्रकारिता के लेखन का अलग-अलग मूल्यांकन करना न्यायपूर्ण होगा?

भारतीय पत्रकारिता की परंपरा, उसके योगदान, आम आदमी के बीच उसकी विश्वसनीयता और विशिष्ट लोगों की उससे जुड़ने की मजबूरी पर विद्यानिवास मिश्र की सोच प्रचलित धारणाओं से कुछ अलग हटकर है। कोलकाता में पं. कृष्णबिहारी मिश्र की एक पुस्तक का विमोचन करते हुए उन्होंने कहा था, 'भारतीय पत्रकारिता निरी सूचना की पत्रकारिता नहीं रही है। वह एक प्रकार से भारत की सांस्कृतिक तैयारी की पत्रकारिता रही है। उसने केवल सूचना देना अपना कर्तव्य नहीं समझा। पत्रकारों ने भारतीय जनता को शिक्षित करना अपना दायित्व समझा है। शिक्षित करने का अर्थ उनको उपदेश देना नहीं है, उनको सही विकल्प देना है। उनके सामने जो भी विकल्प थे, उन विकल्पों के उत्तर में नए विकल्प देना है। यह काम भारतीय पत्रकारिता ने, भारतीय भाषाओं की पत्रकारिता ने और विशेष रूप से हिंदी पत्रकारिता ने किया है।' इसी व्याख्यान में उन्होंने कहा था 'कोई भी बड़ा राजनेता, बड़ा लेखक-चाहे निराला हों, अज्ञेय हों, नवीन हों या माखनलाल चतुर्वेदी हों, पत्रकार हुए बिना नहीं रहा है। सभी लोगों ने पत्रकारिता की, क्योंकि विवशता थी। हिंदुस्तान के साधारण आदमी से जुड़ने की भी विवशता थी और साथ-ही-साथ अपने साहित्य-कर्म को एक अलग कसौटी पर कसने की चेष्टा करनी थी।' जिन दिनों आज की तरह समाचारपत्रों का अस्तित्व नहीं था, उन दिनों संवाद कैसे होता था, यह जानना इसलिए जरूरी है, क्योंकि विद्यानिवासजी वाचिक परंपरा के प्रवक्ता और आचार्य थे। उनके ही शब्दों में, 'जब समाचार पत्र नहीं थे, तब ऐसे उपक्रम वाचिक संस्थाओं द्वारा होते थे। प्रवचन होते थे, किस्सागोई होती थी, लोग शास्त्रार्थ करते थे, विचार-विमर्श करते थे। यह सब होता रहता था। एक संवाद की सतत प्रक्रिया इस देश में चलती रहती थी, जिसको निरक्षर व्यक्ति भी सुनता था और संस्कारी हो जाता था।'

विद्यानिवासजी आजीवन प्रयोगधर्मी रहे हैं। प्रयोगधर्मिता और विविधता पत्रकारिता की विशिष्टता है। ऐसा व्यक्ति कभी रूढ़िवादी नहीं होता। वह संकुचित करने वाली परंपराओं का कायल नहीं हो सकता। अपने प्रयोग की नई दृष्टि से परंपराओं के नए-नए वृत्त बनाता है। ऐसे अनगिनत

प्रयोग उनके खाते में दर्ज है। साहित्य के वर्गीकरण में पंडितजी प्राचीन हैं, आधुनिक हैं या उत्तर आधुनिक यह तो मैं नहीं जानता लेकिन प्राचीनता, आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता के बीच एक संगति तथा संयम पैदा करने का अद्भुत विवेक उनमें था। पत्रकारिता में भी उन्होंने अनेक प्रयोग किए थे, लगभग वैसा ही, जैसा भैया साहब पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी ने दो दशक तक 'सरस्वती' के संपादन के दौरान किया था, अज्ञेयजी ने 'दिनमान' में किया था। अनेक पाठकों को लेखक बनाया था। अकेले 'नवभारत टाइम्स' में पंडितजी की लिखी संपादकीय टिप्पणियां तीन सौ से अधिक हैं। उनमें विविधता के प्रयोग भरपूर हैं। उनके लेखों में अभिव्यक्त विचारों पर गोष्ठियां और चर्चाएं होती थीं। एकाध में मैं भी शामिल हुआ था। सवाल सामाजिक हों, राजनीतिक या सांस्कृतिक, किसी संपादक की पहल को अगर विचारणीय समझा गया, तो लोक-जागरण के ऐसे प्रयोग सार्थक और सम्मानजनक माने जाते हैं। कितने समाचारपत्रों के संपादकों या टेलीविजनों चैनलों के मालिकों को अपनी यह भूमिका याद है?

पश्चिमी पत्रकारिता से आयातित हिंसा, ऐंद्रिकता और मनोरंजन की अपसंस्कृति को मीडिया का एक बड़ा समूह अपने पाठकों को सांस्कृतिक और व्यापारिक लाभ की गुलामी से बोझिल पत्रकारिता की ओर धकेल रहा है। यह खतरा शायद सबसे गंभीर है, जिसने विद्यानिवासजी को मुख्यधारा की पत्रकारिता की प्रवृत्तियों और तौर-तरीकों के प्रति बहुत तल्लू बना दिया था। 'नवभारत टाइम्स' में उनका कार्यकाल केवल दो वर्ष था। प्रबंधन के आग्रह के बाद भी उन्होंने वहां एक दिन भी अधिक बने रहना स्वीकार नहीं किया। ऐसा क्यों हुआ? एक संपादक के रूप में उनकी पीड़ा क्या थी? क्या उनका स्वाभिमान आहत हुआ था? उनके सहयोगी के रूप में इसका मैं प्रत्यक्ष साक्षी रहा हूं लेकिन अपनी ओर से कोई टिप्पणी करने के बजाय 'नवभारत टाइम्स' में संपादक के रूप में प्रकाशित उन्हीं के अंतिम संपादकीय को उद्धृत करना मुझे अधिक समीचीन लगता है। 27 अक्टूबर 1994 को प्रकाशित इस टिप्पणी में अपने पाठकों से संवाद करते हुए जो कहा गया है, वह स्वतंत्रता के बाद की पत्रकारिता में संपादक के स्वाभिमान के इतिहास का एक दुर्लभ दस्तावेज है। पूरा संपादकीय प्रस्तुत है-

'दो वर्ष समूह संचार-माध्यम के मानदंड रूप 'नवभारत टाइम्स' का कार्यभार इन दुर्बल कंधों पर संभल सका, इसका श्रेय मेरे योग्य सहयोगी बंधुओं को है तथा संवेदनशील प्रबंधतंत्र के मुख्य लोगों को है, जिन्होंने मुझे संपादक का यथोचित सम्मान दिया। मैं एक अनजान बेगाने, व्यक्ति के रूप में अपरिचित संसार में आया, संशय की दृष्टि से देखा गया, कई-कई कोणों से जैसे शीशे में तैरती मछली की तरह परखा गया, तैरता रहा। आज उस शीशे के बक्से से बाहर अपने परिचित अनंत महासागर में प्रवेश कर रहा हूं। उनका आभार मानता हूं, जिन्होंने कार्यालयीन पद्धति में मुझे चलाया, मेरी रफ्तार खो गई। उन लेखकों का आभारी हूं, जिनकी रचनाएं छपीं, उनका भी कम आभारी नहीं, जिनकी नहीं छपीं। सबने अपने-अपने ढंग से उलाहने दिए। उन उलाहनों की थाती यहीं छोड़कर जा रहा हूं। उन पाठकों का आभारी हूं, जिन्होंने 'नभाटा' को सराहा, उनका भी, जिन्होंने पढ़कर या बिना पढ़े कोसा, उससे मेरी सजगता बनी रही। स्व. प्रसादजी की कहानी है 'बिसाती'। उसमें बिसाती नए-नए सामान लाता है, छोटे आईने, कंधियां, बिंदियां, जाने कितने प्रसाधन के सामान सुई-धागे, दैनिक जीवन की छोटी-छोटी वस्तुएं, सस्ती-महंगी इत्र-परयूम की शीशियां, तरह-तरह के लोगों के

लिए तरह-तरह के सुहावने चेहरे और जाने क्या-क्या जादुई पिटारी में भर लाता है। पिटारी खोलकर बिछा देता है। रोज चुननेवाले कुछ-न-कुछ कहा सुनी, हँसी-ठिठोली करते ही हैं। एक दिन ऐसा आता है, बिसाती सारा सामान फैला हुआ छोड़कर चला जाता है। मोल-तोल करने को लोग आते हैं। बस, इतना ही कहने को शेष रहता है, बिसाती चला गया।’

‘ऐसे ही बिसाते का काम किया, अब बिसाता छोड़ता हूँ। बिसाती की भूमिका छोड़ता हूँ और अत्यंत विनम्रतापूर्वक सभी को प्रणाम करता हूँ। न मुझे इस समय कोई संदेश देना है, न सफाई देनी है। अत्यंत अनाड़ी परिचित को आपने स्नेह दिया, मन से अनमने ढंग से स्वीकार किया, आपके प्रति कृतज्ञ हूँ। इस गली में फिर कभी आना नहीं होगा, आपके पास जो भी छोड़े जा रहा हूँ, यह आपका है, मेरा नहीं। वह सपना हो, यथार्थ हो, सुख हो, दुःख हो, आपका है।’

एक स्वाभिमानी संपादक की इस तीखी प्रतिक्रिया में अपमान की गहन पीड़ा है। जिसे अपने पाठकों के साथ बांटना उसका विशेषाधिकार है। जानने वाले जानते हैं कि अज्ञेयजी भी इसी तरह नवभारत टाइम्स में लाए गए थे और अपमान की यही पीड़ा उन्होंने भी भोगी थी लेकिन उन्होंने अपने पाठकों से साझा नहीं किया था, जबकि पंडित विद्यानिवासजी ने किया था। स्वाधीन भारत में जहां समाचारपत्रों की संख्या और विविधता में प्रचंड विस्तार हुआ, वहीं संपादक के पद की अस्मिता और अस्तित्व पर खतरा बढ़ता जा रहा है। समाचारपत्रों के स्वामी और संपादक दोनों इसके लिए समान रूप से जिम्मेदार हैं। दर्जनों बड़े पदनामधिकारी संपादकों को ऐसे हादसों से गुजरना पड़ा है। कितने संपादकों ने अपनी नौकरी का मोह छोड़कर अपने पद की गरिमा बचाने की लड़ाई लड़ी अगर अखबार पत्रकार या संपादक की विश्वसनीयता का ग्राफ गिर रहा है तो इसके लिए दूसरा कौन जिम्मेदार है?

विद्यानिवासजी को दृश्य श्रव्य माध्यमों की चुनौती के मुकाबले मुद्रित पत्रकारिता (प्रिंट मीडिया) के भविष्य पर कोई खतरा नजर नहीं आता था। वे भारतीय भाषाओं की पत्रकारिता, खासतौर से हिंदी पत्रकारिता के समर्थ भविष्य के प्रति भी पूरे आश्वस्त थे। एक व्याख्यान में उन्होंने कहा था- ‘आज तो संप्रेषण के पच्चीसों माध्यम हैं। बड़े सशक्त माध्यम हैं, लेकिन लोगों को जरा भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है। ये सारे माध्यम छापे के माध्यम को विस्थापित नहीं कर सकते, क्योंकि छापे के माध्यम से जो संतोष मिलता है, जो परितोष मिलता है, वह इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों से कभी नहीं मिल सकता।’ 1994 में ‘नवभारत टाइम्स’ छोड़ने के बाद विद्यानिवासजी ने 1995 में दिल्ली के प्रसिद्ध प्रकाशन संस्थान ‘प्रभात प्रकाशन’ की पत्रिका ‘साहित्य अमृत’ का संपादन शुरू किया था और अंतिम सांस तक उसे निभाया। पूरे दस वर्ष के कालखंड में ‘साहित्य अमृत’ ने साहित्यिक पत्रकारिता में जो मानदंड स्थापित किया है वह अभूतपूर्व है। पत्रिका के प्रकाशन के उद्देश्य और नामकरण को लेकर उनकी दृष्टि क्या थी, इसके लिए प्रवेशांक की संपादकीय टिप्पणी का एक अंश उद्धृत करना उपयुक्त होगा।

‘साहित्यिक पत्रिका का अपने आप में रचनात्मक व्यापार है और इसलिए वह सब विघ्न-बाधाओं की चिंता नहीं करता, वह दुर्निवार है। दूसरे, हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता ने जो गूँजें-अनुगूँजें हमारे खुले आकाश को दी हैं, उन्हें अनसुनी कैसे किया जा सकता है। तीसरा कारण है, व्यावसायिक दृष्टि से कुछ जोखिम उठाकर भी ऐसे पाठकों की अपेक्षाओं की पूर्ति का दायित्व, जो साहित्य की रचना में सहभागिता रखते हैं।’

‘साहित्य के साथ अमृत जोड़ना दयावश या अभिमानवश नहीं है। जिस अमृत के लिए देवता और असुर इतने व्याकुल हुए, वह मनुष्यों का अमृत नहीं है, वह मरो को जिलानेवाला नहीं, मरणधर्मा जीवन को मरण से निरपेक्ष बनानेवाला है। साहित्य ही यह संभव बनाता है कि शरीर भस्म हो जाता है, शरीर से हुए कार्य कुछ समय तक ही स्मरण करते हुए रोते-बिलखते हैं, धीरे-धीरे यह सब निःशेष हो जाता है, पर बचती है उस शरीर की वीणा से बजे कुछ अनछुए रोगों की गूंज। वही साहित्य है। वही अमृत है। वह गूंज हमें इस योग्य बनाती है कि मानुष देहवल्ली को वीणा न भी बना सकें, पर वीणा की लहर पकड़ने वाली जीवंत तंत्री तो बना ही सकते हैं। मृत्यु के अंतराल को नकारकर, काल को निचोड़कर हम संवेदनाओं की अमर ध्वनि जो बहा पाते हैं, वह साहित्य की भगीरथ साधना का प्रताप है।’

‘हमारा निरंतर प्रयास होगा कि हम अपने जातीय जीवन के भीतर के मनुष्य को मथें और प्रतिस्पर्धा के भाव से, लोभ के भाव से न मथें। मथें कि हम सभी मुमूर्षु संवेदना को एक बूंद अमृत दे सकें, संवेदना जो सबकी है, अकेली मेरी-तुम्हारी-उसकी एक ही नहीं। साथ ही, हम विचारों के क्षेत्र में कितने भी उन्मुक्त रहें (और उन्मुक्त होना चाहिए) अपने साहित्य-आचार के क्षेत्र में कुछ अपेक्षाएं रखें। पहली अपेक्षा देश-काल का स्मरण और देश-काल लांघने की विधि का स्मरण। देश-काल वही लांघ सकता है, जो सीस उतारने के लिए तैयार हो। दूसरी अपेक्षा है अपने लोक का ध्यान। साहित्य अलौकिक आलंबन को भी लेकर चलता है सही, पर वह संप्रेषित लोक का होता है। देवता और असुर न साहित्य रचते हैं, न साहित्य पढ़ते हैं। मनुष्यों में जो भोग और मद से ग्रस्त हैं, वे साहित्य से निरपेक्ष ही रहते हैं। लोक का अर्थ मनुष्य तक सीमित नहीं, वह मनुष्य के सभी दृश्य और अनुभाव्य संसार तक फैला हुआ है। हम ऐसी रचनाओं को सादर आमंत्रित करते हैं, जो विचारों के आकाश में उन्मुक्त विचरण करते हुए भी उस उदार रमणीया वसुधा से, एक तिनके का ही सही, भरोसा रखते हैं, भरोसे के नाते ही अटूट रिश्ता रखते हैं।’

‘साहित्य अमृत’ के उन एक सौ बीस अंकों में जितना और जो कुछ समाहित और संकलित है उसका गहन अध्ययन किया जाना अत्यंत आवश्यक है। एक संपादक की योजकता, साहित्य और साहित्येतर विषयों को जोड़कर पाठकों की सुरुचि का निर्माण, कितने लोगों से कितना लिखवाया जा सकता है, उनकी चिंतन दृष्टि विकसित की जा सकती है, और भी बहुत कुछ निकल सकता है साहित्य अमृत के मंथन से। विद्यानिवास मिश्र के लिए साहित्य, पत्रकारिता और मुख्य रूप से हिंदी पत्रकारिता से जुड़े वे सभी लोग आकर्षण और प्रेरणा के केंद्र रहे हैं, जो ध्येयवाद और जीवन-मूल्यों के साथ साहित्य, पत्रकारिता या राजनीति के लिए प्रतिबद्ध थे। उन्होंने स्वतंत्रता-संघर्ष का अंतिम दौर और उसके पश्चात भी ऐसे मनीषियों को निकट से देखा था, जो दधीचि की तरह हड़्डियां गलाकर हिंदी भाषा, हिंदी साहित्य और पत्रकारिता के उन्नयन के लिए प्रतिबद्ध और कटिबद्ध थे। यह सत्य है कि विद्यानिवासजी की प्राथमिकता में साहित्य का दर्जा प्रथम था और पत्रकारिता का दोयम। उन्होंने आजीविका के लिए भी शिक्षा का सहारा लिया था पत्रकारिता का नहीं। इसके बावजूद हिंदी पत्रकारिता के संघर्षपूर्ण इतिहास और उसके सामाजिक सरोकारों के प्रति वे आशान्वित थे। पत्रकारिता में उनके योगदान को किसी परिभाषा या पुस्तक के दायरे में बांधा नहीं जा सकता। उनकी पीड़ा समझने के लिए एक संवेदनशील पाठक के रूप में उनका समकालीन होना पड़ेगा। उनके पत्रकारीय लेखन का कृष्ण पक्ष में ढूँढ़ नहीं पाया। आप खोज सकें तो आभारी रहूंगा।

काल, स्वरूप निर्धारक भी बनता है

शीतला सिंह

जब समाचारपत्रों के संबंध में चर्चा होगी तो यह मूल प्रश्न उद्देश्य ही कि इसकी युग संदर्भ में कितनी आवश्यकता है जिनकी पूर्ति के लिए इनकी आवश्यकता पड़ी। इसी के साथ उनका स्वरूप क्या होगा? जिसका निर्धारण उपभोक्ता और प्रयोगकर्ता की जरूरतों पर आधारित होगा। कोई भी काम निरुद्देश्य नहीं होता उसके पीछे आवश्यकताएं, निहित स्वार्थ, भावना ही दिशा का निर्धारण करते हैं। इस दुनिया के किसी स्वरूप को बांधकर तो रखा नहीं जा सकता, यह बदलती ही रहेगी क्योंकि परिवर्तनशीलता इसका गुण है। आज इसका पुराना स्वरूप बदलेगा तो नया आवरण क्या क्या अपनाया जाए। इसलिए समाचार पत्रों के इतिहास से इसके स्वरूप का निर्धारण नहीं बल्कि आवश्यकताएं ही तय करेंगी कि वह कैसा हो, यह आवश्यकता पाठकों, उपभोक्ताओं, संचालकों की होगी। समाचार पत्र का प्रकाशन स्वामित्व के हितों से मुक्त नहीं हो सकते। विचार का विषय यही होगा कि आखिर किन लोगों को किन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इसे निकालने की आवश्यकता पड़ गयी। इसलिए इसका स्वरूप निर्धारित करने के लिए जो पूंजी निवेश हो रहा है, उनके हित क्या हैं?

समाचारपत्रों के संबंध में जब उद्देश्यों की खोज होगी तो उनका वर्गीकरण भी करना होगा। इसलिए 17वीं शताब्दी से लेकर आज तक समाचार पत्रों के स्वरूप, प्रस्तुति और अंतर्वस्तु में निरंतर परिवर्तन होता आया है। आज के युग में दो चीजे प्रमुख हो गयी हैं। पहली यह कि आज समाज में निर्णायक तत्व क्या है? जो इस कार्य में सहायक की भूमिका निभाएगी। जब पूंजी ही निर्णायक तत्व बन जाएगी तो लाभ स्वतः मुक्ति बन जाएगा। फिर लाभदायी बनाने के लिए समाज में विद्यमान प्रवृत्तियां और स्वार्थों का कैसे उपयोग किया जाए यह चिंता का विषय। इससे जन्मी प्रतिस्पर्धाओं के प्रभाव भी पड़ेगे जिसमें फिर बड़ी मछली छोटी मछली को खाकर ही अपने अस्तित्व की रक्षा करेगी। इसलिए दोनों का अस्तित्व कैसे सुरक्षित रहे? उनके संरक्षण के लिए विद्यमान शक्तियां कौन सी हैं? राज्य नामक संस्था जो व्यवस्था का संचालन और नियंत्रण करती हैं वह किन वर्गों और समुदायों के हितों वाली हैं, इसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

विभिन्न वर्गों, समुदायों वाले समाज में स्वार्थों के संघर्ष भी होंगे और स्वार्थों की संख्या भी एक नहीं हो सकती, इन अलग स्वार्थों में प्रतिस्पर्धाएं और अंतर्द्वन्द्वजनित घटनाएं भी होंगी लेकिन मूल प्रश्न तो यह है कि हमने जिस समता और धर्म निरपेक्षता पर आधारित लोकतांत्रिक व्यवस्था को

आत्मार्पित किया है उसका संचालन उद्देश्यों के अनुरूप हो लेकिन इसमें मुख्य तत्व तो यही होगा कि संचालन वाली शक्तियां कौन सी हैं और वह कैसे बनी हैं। कठिनाइयां भी होंगी कि हमारा लोकतंत्र जो बहुमत पर आधारित बताया जाता है लेकिन इसके लिए हमने जो निर्वाचन और चयन पद्धति अपनाई है वह बहुमत पर आधारित नहीं बल्कि वोटों के बिखराव के फलस्वरूप जो बड़ा गुट है उसे ही इसका लाभ मिलता है। इस प्रकार देश भर में दो प्रकार की चुनाव पद्धतियां हैं, एक एकल संक्रमणीय चुनाव पद्धति जिसमें कोई भी व्यक्ति निर्धारित सीमा से कम पर जीत नहीं सकता लेकिन यह अप्रत्यक्ष चुनाव वाले क्षेत्र में ही लागू है यानी क्षेत्र पंचायतें, जिला परिषदें, विधान परिषदें और राज्यसभा इसके तहत आते हैं। राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के चुनाव भी इसी माध्यम से होते हैं। जिसमें सत्तारूढ़ दल के लिए अनिवार्यता यह है कि वह विधानसभा या लोकसभा के प्रति उत्तरदायी हो, इसका निर्वाह बहुमत पर ही आधारित माना जाता है लेकिन दुर्भाग्य यह है कि विद्यमान चुनाव पद्धति का दोष यह है कि अभी तक देश में ऐसी कोई सरकार अस्तित्व में ही नहीं आयी जिसे सकल जनसंख्या का 10 प्रतिशत का भी विश्वास प्राप्त रहा हो। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश के दूसरी विधानसभा चुनाव में आजमगढ़ जिले के सगड़ी निर्वाचन क्षेत्र से एक ऐसा उम्मीदवार चुना गया जो अपनी जमानत के लिए निर्धारित पड़े मत का 16 प्रतिशत मत भी प्राप्त नहीं कर पाया था लेकिन वह भी निर्वाचन में सफल होने की घोषणा के कारण पूरे कार्यकाल तक विधायक और उसके अधिकारों एवं विशेषाधिकारों का प्रयोग करने वाला बन गया।

ऐसी स्थिति बनने के पीछे मुख्य कारण यह था कि मतदाताओं का बड़ा समूह निरक्षर होना था जो सकल उम्मीदवारों के क्रम में अपनी प्राथमिकताएं निर्धारित नहीं कर सकता था इसलिए अलग-अलग मतपेटियां बनीं, उनके लिए चुनाव चिन्ह खोजे गए और जिस पेटि में ज्यादा मत पड़े वह उम्मीदवार चुना गया। फिर उसके बाद ऐसे मतपत्र आए जिस पर लोग अपने मनपसंद उम्मीदवार के चुनाव निशान पर मुहर अंकित करते थे। अब नयी पद्धति इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीनों की है जिसकी विशेषता यह बताई जाती है कि कई मतदाताओं को एक साथ वोट देने के कारण जो मत रद्द हो जाते थे वह अब समाप्त हो गया। इसलिए अब लोकतंत्र की सत्ता की लड़ाई में एक बड़ा समूह कैसे बने इसके लिए भी प्रयत्न होने लगे लेकिन अधिकतम चुनाव खर्च की सीमा निर्धारित होने के बावजूद पार्टियों और मित्रों के नाम पर इसमें जो ढील दी गयी वह उन रास्तों को खोलने में सहायक हो गयी जिससे धन चुनाव में निर्णायक तत्व बन जाए। जब इस चुनाव पद्धति पर चुनी सरकारें सत्ता में आएंगी तो वे वर्गीय हितों से प्रभावित नहीं होंगी, यह नहीं माना जा सकता। फिर चुनाव कैसे प्रभावित हों इसके प्रयत्न होंगे ही जिससे लाभ मिल सके।

अब मूल्यांकन का आधार किसे बनाया जाए? समाचारपत्रों के भावी स्वरूप में निर्णायक तत्व क्या हो जब यह प्रश्न आएगा तो खोज संविधान के अनुच्छेद-19 (1) क की ओर जाएगी जिसमें विभिन्न स्वतंत्रताओं का वर्णन है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रथम है जो वृत्ति, व्यवसाय और आजीविका की स्वतंत्रता से भिन्न है क्योंकि उनके लिए अनुच्छेद-19 (2) में योग्यताओं, पात्रताओं, नियमन एवं लाइसेंस की व्यवस्था आवश्यक बनायी गयी है। इसीलिए जब जस्टिस राज्याध्यक्ष की अध्यक्षता वाले प्रथम प्रेस आयोग का यह निर्णय निरर्थक बन जाता है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जिस पर मात्र 7 कारणों से युक्तियुक्त प्रतिबंधन किया जा सकता है वह वृत्ति की परिभाषाओं से

परे होगी या उसका व्यावसायिक स्वरूप नहीं होगा। तब इस आयोग की यह धारणा कि 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सबसे बड़ा खतरा इजारेदार पूंजी से है' समाचार पत्र लाभकारी व्यवसाय बनने से बचें लेकिन उनका संचालन भी होता रहे, यह कैसे संभव है। विभिन्न स्वामित्वों के वर्गीकरण में सार्वजनिक निकायों, सहकारी समितियों के बजाय आधुनिक युग परिप्रेक्ष्य में इस उद्यम के लिए आवश्यक पूंजी के निवेश का स्रोत क्या होगा? जिससे निवेश करने वालों को स्वाभाविक लाभ भी मिले जिससे यह उन्नति करता रहे लेकिन इसके लिए जिन सार्वजनिक संस्थानों का प्रश्न उठा तो खोज 'पहल' की होने लगी कि यह कहां से पैदा होगी यह तो स्वार्थ, लालसा, मनोगत पसंद और समर्पण से ही जन्मती है। यही कारण है कि सार्वजनिक क्षेत्र इस क्षेत्र में अग्रणी भूमिका नहीं निभा पाया। वैसे तो देश का कोई बड़ा उद्यम ऐसा नहीं है जिसके अपने समाचारपत्र और संवाद प्रसारण के माध्यम न हों, इनसे वह प्रभाव अर्जित करता है जिनका उपयोग व्यावसायिक लाभ के लिए करता है। राजनैतिक दलों के भी अपने मुखपत्र और माध्यम हैं लेकिन वे एकांगी होने के कारण आगे नहीं बढ़ पाए। सत्ता की ऊंचाइयों पर चढ़ने या उतरने पर बनाए रखने के लिए भी इनका सहारा लेने के अनगिनत मिसाल भी हैं। इसीलिए प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के समय जब 1956 में व्यवसायिक नीति बनाई गयी तो उसमें समाचारपत्रों को स्थान नहीं मिला लेकिन इनकी भूमिका तो बढ़ती ही गयी और 1972 के बाद इनके लिए वित्तीय संस्थाओं का दरवाजा खुला। अब हमने वैश्वीकरण स्वीकार किया है जिसका मूल उद्देश्य व्यक्ति और श्रम के बजाय पूंजी के महत्व की स्थापना थी, क्या यह उद्यम इससे प्रभावित नहीं होंगे।

चूंकि अब समाचारपत्रों का स्वरूप 18वीं, 19वीं, और 20वीं शताब्दी के विद्यमान साधनों वाला नहीं बल्कि 21वीं सदी वाला हो गया है जिसमें समाचार पत्रों का उत्पादन करने वाली मशीनों और वैज्ञानिक साधनों का समीकरण जुड़ा जिससे इनका स्वरूप भी बदला साथ ही पूंजी की इस प्रतिस्पर्धा में गांधी, नेहरू ने जिन अखबारों को निकाला था उनकी भी रक्षा नहीं हो सकी यानी वाह्य पोषण ही नहीं आंतरिक व्यवस्था और परिवर्तन की अनिवार्यता के कारण यह सीमित हो गया कि समाचार पत्र जिंदा कैसे रहेंगे इसलिए छोटे और मध्यम समाचारपत्र समाप्त होने लगे और बड़े समाचारपत्रों ने इनके क्षेत्र और आवश्यकताओं को ग्रहण करके उसे अपने विस्तार का आधार बनाया यानी बड़े अखबार ही क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति में भी आगे आए। पाठकों से किन-किन मानवीय प्रवृत्तियों का शोषण किया जा सकता है, इसके भी प्रयत्न आरंभ हो गए इसलिए अखबार के नाम पर जो माध्यम विकसित हुए नए-नए क्षेत्रों का चयन करके उन पर आधारित होने लगे यानी विशेषज्ञता का दौर चला।

इस प्रकार अब लड़ाई अरबों-खरबों कमाने की हो गयी और नया मूल्यांकन यह हुआ कि जिस देश में लगभग 90,000 अखबार पंजीकृत हैं उनमें से जीवनी शक्ति केवल 135 में ही है, यह सभी बड़े उद्योगों से भी जुड़े हैं। इसी के साथ ही विज्ञान और इलेक्ट्रॉनिक क्षेत्र ने संवाद प्रसारण को भी अपना क्षेत्र बनाया और इसके लिए अपने त्वरित प्रसारण के गुणों और उसका मोहक स्वरूप बनाने के कारण वह विज्ञापन के क्षेत्र का भी मुख्य अर्जक बन गया जिसका प्रभाव यह हुआ कि भारत को छोड़कर लगभग तमाम देशों में प्रिंट मीडिया को क्षेत्र और प्रभाव घटने लगा। भारत इसलिए उससे अलग रहा कि यहां पहले विकसित देशों की तुलना में विद्यमान प्रिंट मीडिया पीछे था। यानी एक

लाख प्रसार संख्या वाले समाचार पत्र कम थे, इनका भी विकास होने लगा और इस क्षेत्र में नित नए प्रयोग भी अपनाए जाने लगे। इसी के साथ ही समाचार पत्र जिन्हें प्रथम प्रेस आयोग ने व्यवसाय नहीं 'लोकोपयोगी सेवा' माना था, उनमें व्यवसायिक प्रवृत्तियां बढ़ने लगीं जो नियामक आचार संहिताएं बनीं उनका पालन करने के बजाय अधिकतम लाभ अर्जन प्रमुख हो गया। फिर लोकतंत्र पर कब्जे के लिए नवधनाढ्य और अपराधी वर्ग अपने प्रभावों का भरपूर प्रयोग करने लगा उसमें इन माध्यमों का भी प्रयोग करने के लिए बेनामी विज्ञापन खबर के नाम पर जिन्हे 'पेड न्यूज' की संज्ञा दी गयी, वह निरंतर बढ़ने लगी।

चूंकि मजबूत दृढ़ निश्चयी और उद्देश्यों के प्रति समर्पित सरकारों के बजाय उस पर कब्जा करने नए समूह और वर्गों का संगठन चला, लोकतंत्र जिससे इन दोषों से मुक्ति हो सके उसकी परिकल्पना ही नहीं कर पाया। इसलिए आज का मुख्य तत्व यह बन गया है कि जिस युग परिप्रेक्ष्य में हम चिंता कर रहे हैं उनका स्वरूप क्या है। जब सरकार के मुखिया राजनीतिक दलों के नेता, स्थायी व्यवस्था वाले नौकरशाह, न्यायिक अधिकारी और टेक्नोक्रेट इनमें भी अधिकतम लाभ उठाने की प्रवृत्तियां बढ़ीं तो लगा कि कोई ऐसा समुदाय है ही नहीं जो दोषों, विसंगतियों और अपराधों से मुक्त हो। जो जितना ही प्रभावशाली और शक्तिमान है वह दोषों से उतना ही ग्रस्त भी। यही कारण है कि लोकतंत्र में चार प्रधानमंत्री भी अपराधों के आरोप में न्यायालय तक पहुंचे हैं। 5 मुख्यमंत्रियों पर आय से अधिक संपत्ति अनुचित रूप से अर्जित करने का आरोप लगा। नीचे से लेकर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों पर महाभियोग भी संसद में विचाराधीन हुए। इसलिए मूल स्वतंत्रता का लोकहित के बजाय वैयक्तिक या सामुदायिक हितों के लिए प्रयोग बढ़ने लगेगा तब यह चिंता का विषय बनेगा ही। जब हम सोच ही नहीं पाएंगे कि आगे का रास्ता क्या हो और उसका निर्वाह कैसे हो, इसके लिए शक्ति की खोज निरर्थक होने लगेगी। फिर यह सवाल उठेगा कि क्या विधायी शक्तियों का प्रयोग इन स्वार्थों को नियमित करने की ओर हो सकता है।

इसी के साथ यह भी सवाल उठेगा कि हमने जो दार्डिक व्यवस्था के माध्यम से समाज को सुधारने का रास्ता अपनाया था उसका परिणाम यह हुआ कि कानूनों की संख्या बढ़ने के साथ ही अपराधों का स्वरूप और संख्या भी बढ़ी और उनका क्षेत्र भी सीमित नहीं रह गया वह घटने के बजाय निरंतर बढ़ती ही गयी। अब तो यह भी माना जाता है कि औद्योगिकीकरण और शिक्षा का विस्तार अपराधों को बढ़ाता ही है लेकिन हम इन्हें छोड़ भी तो नहीं सकते। पहले गुलामी के युग में तो एक 'अपराधशील जातियों वाला कानून' बना था, वह तो समाप्त हो गया लेकिन अपराधिक प्रवृत्तियों का क्षेत्र बढ़ता ही गया और यह अपराधिक प्रवृत्तियां हमारे अंतर्मन से वैयक्तिक लाभ उठाने से जुड़ती जाती हैं। इस लाभ के क्षेत्र में भिन्नता भी है और स्वरूप भी अलग-अलग हैं इसलिए प्रमुख तत्व यही हो गया कि हम आज जो समाज बना रहे हैं उसमें मूल निर्णायक तत्व क्या है। जब पूंजी ही निर्णायक हो जाएगी तो गुण और मूल्य स्वतः प्रभावित होंगे ही जो अपराधिक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने का काम करेगी। असहमतियां किनकी होंगी यानी वे बहुमत में रहकर भी कोई निर्णायक कदम उठाने में असफल होंगी। इसलिए इस प्रश्न यानी समाज उसके स्वरूप युग परिप्रेक्षता से अलग रखकर समाधान निकालना सहज और सरल नहीं है। इसमें आशा की किरण यही है कि हम ही नहीं बल्कि दुनिया लोकतांत्रिक व्यवस्था को अपनाने के लिए आगे बढ़ रही है इसलिए परंपरावादी देशों में भी

जो परिवर्तन हो रहे हैं उसमें भी मुख्य मांग सत्ता के स्वरूप निर्धारण में जनता की इच्छा के समावेश का ही हो रहा है। इसी से जुड़ा हुआ प्रश्न जनमत और समाचारपत्रों का भी है कि उसमें निर्णायक तत्व क्या है और समाचारपत्रों से जुड़े लोग इसे लाभ या भरण पोषण का माध्यम मानते हैं या सामाजिक बदलाव का। आचारहीनता जब पूरे समाज में फैलेगी तो उससे समाचार माध्यम कैसे मुक्त रह पाएंगे। ऐसी स्थिति में यह माध्यम वास्तव में मीडिया बन जाएंगे निर्णायक यह होगा जिनके यह हैं। वह इनका प्रयोग किन लक्ष्यों और उद्देश्यों के लिए करना चाहता है इसलिए पाठकों का समूह और क्षेत्र बढ़ाने के लिए उनकी मानसिकताओं और प्रवृत्तियों का शोषण और उत्पीड़न होगा ही। इस रूप में सबसे खतरनाक स्थिति यह है कि लोकतंत्र की रक्षा 'स्वतंत्र चिंतन प्रक्रिया' द्वारा ही संभव है और जब माध्यमों पर पूंजी निर्णायक होगी तो वह लाभ के लिए 'वैचारिक सैन्यीकरण' की प्रवृत्ति से कैसे मुक्त होगी, और इसे लोकतंत्र के लिए उपयोगी कैसे माना जाएगा। लेकिन फिर यह दुःख किसके आगे रोएं यही मुख्य प्रश्न होगा। लोक विवेक और लोकशक्ति ही इसकी रक्षा कर पाएंगी, यही मानकर संतोष कर सकते हैं।

युग परिवर्तन का प्रभाव स्वरूप पर पड़ना स्वाभाविक है। शारीरिक शक्ति, हाथी, घोड़े, ऊंट, खच्चर का 21वीं सदी के रक्षा प्रयत्नों में निर्णायक योगदान नहीं है क्योंकि अब बल का केंद्र वैज्ञानिक शक्ति ने ले लिया है यानी अमरीका अपने देश में ही द्रोण का सहारा लेकर अफगानिस्तान, पाकिस्तान और ईरान को अपना लक्ष्य बना सकता है। वह वांछित लक्ष्यों की खोज करके उन्हें भी नष्ट करने में सक्षम है। उसके पास समग्र दुनिया को सात बार तक विनष्ट करने की शक्ति भी एकत्र है। इसी प्रकार पहले माध्यम श्रुति और स्मृति या सुना, याद रखा और 'बतकही' के माध्यम से प्रचार किया लेकिन आज के माध्यम तो इतने बढ़ गए हैं कि अकबर के समय बेटा या बेटी के जन्म की जानकारी के लिए लंबी फौज खड़ी करनी पड़ी जो इस सूचना को जल्दी पहुंचाने में सहायक बने लेकिन अब तो 80 प्रतिशत लोगों के पास मोबाइल जैसे अस्त्र हैं जो क्षणों में सूचनाओं को जानने एवं विस्तारित करने का कार्य करते हैं। आवागमन, संचार के क्षेत्र में निरंतर नए प्रयोग हो रहे हैं जिससे दुनिया छोटी होती जा रही है। इसके प्रभावों से संवाद माध्यम भी मुक्त नहीं हैं। इसलिए युग परिवेश को पहचानना तदनुकूल व्यवस्था के लिए प्रयत्न करना इस माध्यम के लिए भी आवश्यक होगा। इसका सर्वाधिक लाभ किसे पहुंचेगा, जो इन साधनों का व्यापक प्रयोग और उपयोग करने में अग्रणी हो। लोकतंत्र की नए संदर्भों में व्याख्या करके लागू करना होगा जिससे वास्तव में जनता की इच्छा ही सर्वोच्च बन सके।

इस युग की मुख्य चिंता तो लोकतंत्र की रक्षा ही होगी क्योंकि हमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जानने की इच्छा की पूर्ति और जनेक्षा के अनुसार समाज का स्वरूप बनाने की शक्ति प्राप्त हुई है लेकिन लोकतंत्र में यदि अभिव्यक्ति के साधनों का उपयोग केवल लाभदायी विकल्पों तक सीमित होगा तो यह अपेक्षित स्वतंत्रताओं पर अंकुश का कारण भी होगा इसलिए विचारों पर प्रतिबंधन, उनकी खरीद फरोख्त या 'स्वतंत्र चिंतन प्रक्रिया' को बचाना ही पड़ेगा।

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार एवं दैनिक जनमोर्चा के संपादक हैं)

पत्रकारिता का मतलब ही है जन-सामाजिक सरोकार

अरविन्द मोहन

जिस तरह से नाटक बिना लोगों अर्थात् दर्शकों की भागीदारी के नहीं खेला जा सकता वैसे ही सामाजिक सरोकारों के बिना पत्रकारिता असंभव है। कई तरह की ललित कलाएं स्वांतःसुखाय भी चलती हैं और यह भी संभव है कि ऐसे स्वांतःसुखाय दौर में ही कुछ इतनी बड़ी और महत्वपूर्ण रचना हो जाए जो समाज के लिए लंबे समय तक काफी उपयोगी हो-मनोरंजक हो। साहित्य की भी कई विधाओं की रचनाएं स्वांतःसुखाय हो सकती हैं-बल्कि यही माना जाता है कि काव्य रचना का बड़ा हिस्सा स्वांतःसुखाय ही होता है पर पत्रकारिता बिना समाज के संभव ही नहीं है। और समाज की उपस्थिति सिर्फ ग्राहक, पाठक, श्रोता या दर्शक भर के रूप में ही नहीं होती। वही समाज और व्यक्ति उसके लिए खबर देने या बनने का काम करता है जो उसका पाठक, दर्शक और श्रोता होता है। ऐसे में कोई यह मान ले कि पत्रकारिता समाज से मुंह फेरकर या उसे कम महत्व देकर चल सकती है तो यह उसका भ्रम हो सकता है। या फिर वह पत्रकारिता के नाम पर जो कर रहा है वह पत्रकारिता न होकर जनसंपर्क और दलाली का काम हो सकता है।

और हमारे यहां अगर अचानक पत्रकारिता से सामाजिक सरोकार गायब होने का जो शोर मच रहा है वह काफी कुछ इसी दूसरी श्रेणी की पत्रकारिता के बढ़ने या जोर पकड़ने के चलते है। इसका दूसरा बड़ा कारण यह है कि दुनिया भर में छपे अक्षरों या तस्वीरों की ताकत और साख को स्थापित करने में पुराने पत्रकारों ने काफी कुर्बानियां दी हैं और आज भी सम्मान बढ़ाने के काम में लगे लोगों की कमी नहीं है। भारत में और खासकर हिंदी-उर्दू समेत देशी भाषाओं की पत्रकारिता का इतिहास और भी गौरवमय रहा है। इसलिए कई बार यही लगता है कि गिरावट का हंगामा हिंदी वाले ही मचा रहे हैं। पर असल में यह अपनी परंपरा और विरासत के नाश का रोना है। अंग्रेजी के ज्यादातर अखबारों ने शुरुआती दौर में ही नहीं पूरे औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों की चापलूसी की थी, इसलिए उन्हें ये बातें कम अखरती हैं। पत्रकारिता न किसी के कहने से साबुन-तेल बेचने जैसा काम हो जाएगी और ना ही किसी के दावा करने से विज्ञापन बेचने के साथ खबरें भी दी जा सकती हैं। सो एक ओर पत्रकारिता की गिरावट के प्रति चिंतित होने वाली जमात है तो दूसरी ओर देश के सबसे बड़े और प्रभावी मीडिया घरानों में से एक के मालिकों-प्रबंधकों द्वारा समय-समय पर की गई टिप्पणी के अंश उनकी सोच को बताते हैं जो आज की मीडिया इंडस्ट्री के लिए आदर्श बनते जा रहे हैं।

पर इन सबके बीच यह भी सच्चाई है कि बीते पच्चीस-तीस वर्षों में मीडिया ने हर किसी के

जीवन में जबरदस्त बदलाव ला दिया है। आज सिर्फ एक छोटा सामान खरीदने से लेकर राष्ट्रपति-प्रधानमंत्री चुनने तक के हर फैसले पर मीडिया का असर दिखता है- अच्छा और बुरा दोनों ही अर्थों में। विज्ञापन और उससे भी ज्यादा मीडिया मैनेजमेंट का असर दिखता है तो हर आदमी पहले ज्यादा तथ्यों से वाकिफ है, सच्चाई जानता है और उस आधार पर अपनी समझ से सही फैसले करता है। पांच साल सरकार में रह चुके व्यक्ति और पार्टी को दोबारा जनादेश पाना भारी पड़ने लगा है, जबकि उसके पास विज्ञापन और मीडिया मैनेजमेंट के लिए ज्यादा साधन हैं। समाज का हर व्यक्ति अपनी शिकायत लेकर मीडिया के पास आने लगा है, शासन में बैठा व्यक्ति और किसी से न भी डरे मीडिया से डरने लगा है।

सिर्फ यही नहीं हुआ है इस दौरान मीडिया की पहुंच बहुत बढ़ी है- उस प्रिंट मीडिया की भी बढ़ी है जो दो सौ साल पुरानी है। कुछ क्षेत्रों और विधाओं में प्रिंट कमजोर हुआ है तो नए मीडिया ने उससे ज्यादा तेजी से ताकत बढ़ाए है। रेडियो की ताकत भी बढ़ी है जो सौ साल से प्रभावी रही है। टीवी के पचास सालों में आज जैसी ताकत कभी नहीं रही। इंटरनेट और सोशल मीडिया तो हाल में आए और छा गए हैं। किताब, फिल्म और संगीत की भी ऐसी पहुंच कभी नहीं थी। अफ्रीका और लातिन अमेरिका की धुनें और डांस के स्टेप हमारे लिए अपने बन गए हैं। पढ़ने की कमी का शोर किताबों की बिक्री और हिट्स की बढ़ती संख्या के आगे नहीं टिकता। कागज के संकट का शोर भी है और उसकी अपूर्व खपत भी है। अपने यहां तो प्रिंट मीडिया के दिन भी सुरक्षित माने जाते हैं क्योंकि यहां साक्षरता दर और प्रति व्यक्ति आमदनी दोनों में वृद्धि हो रही है और इसके बहुत बढ़ने की गुंजाइश है।

पर यह भी हुआ है कि तकनीक का सबसे ज्यादा फायदा इसी मीडिया को हुआ है- बल्कि कई-कई तकनीकें यहां आकर मिल गई हैं। यह भी हुआ है कि बड़ी सरकारों से लेकर छोटे संगठन और लोग तक मीडिया को लेकर सचेत हुए हैं। कैमरा देखते ही हम आप भी बाल संवारने लगते हैं जैसे कम से कम वहां खराब शक्ल-सूरत नहीं जानी चाहिए। मीडिया मैनेजमेंट एक धंधे के तौर पर उभरा है। बाबा लोग भी प्रवचन करने के पहले मेक-अप कराते हैं। अभी भी मीडिया बड़ी पूंजी को आकर्षित कर रहा है-पहले से अधिक पूंजी को। और यह धंधे का एक नया चलन ही शुरू कर रहा है- लागत खर्च जो हो ग्राहक को कम से कम या लगभग मुफ्त माल बेचने का। पहली बिक्री में कीमत कम रखना- अंडरप्राइसिंग आज मीडिया उद्योग की सच्चाई है। वह मजे से पचास रुपए का उत्पाद पांच रुपए में बेच रहा है। फिर वह दूसरे तरीके से कीमत वसूलता है। यह काम विज्ञापनों और अन्य तरीकों से होता है। सो मीडिया पर पूंजी को लेकर दोहरा दबाव है- एक तो पूंजी लगाने वाले के पैसों का सुफल देना और दूसरे कम कीमत पर बिकने वाले उत्पाद के सहारे बाजार से कमाई करने का। टीवी क्व चैनल तो अखबार-पत्रिकाओं की तरह सीधे पैसे ग्राहकों से लेते भी नहीं। और हैरानी की बात है कि मीडिया के लोग तो इस शीर्षासन वाली पद्धति से कमाई कर ही रहे हैं, यह मार्केटिंग का सफल माडल बन गया है-पहला प्रोडक्ट सस्ता देकर सर्विस और सहयोगी उत्पादों के जरिए कमाई करने का। मीडिया की मुश्किल यह भी हो गई है कि जैसे ही वह अपनी लागत सीधे ग्राहक से वसूलना शुरू करेगी उसकी पहुंच सिमट जाएगी- आखिर कौन टाइम्स अफ इंडिया को पचास रुपए देकर खरीदेगा। और अगर उसकी कीमत पचास रुपए हो गई तो उसकी ग्राहक संख्या

कितनी रह जाएगी।

तो एक अर्थ में मीडिया मजबूत हुआ है, उसकी पहुंच बढ़ी है, उसके प्रभाव में वृद्धि हुई है तो दूसरी सच्चाई यह भी है कि हम-आप वही पढ़ने-सुनने-देखने को अभिशप्त हैं जो बड़ी पूंजी, उच्च तकनीक और सत्ता के ज्यादा प्रभाव में आ गई मीडिया दिखाए-सुनाए। जो ज्यादा पूंजी लगाएगा वह ज्यादा मुनाफा चाहेगा, शेयर बाजार में पंजीकृत मीडिया कम्पनियों को रोज अच्छा कारोबार करके बाजार को भी खुश रखना होता है। सो जो मीडिया अभी पचास-साठ साल पहले तक मुख्यतः सामाजिक सरोकारों से संचालित होती थी आज मुनाफे की मंशा उस पर हावी होती जा रही है। जैसे जैसे प्रभाव और पहुंच में वृद्धि हो रही है वैसे ही मुनाफे का जोर भी बढ़ता जा रहा है। इतनी पूंजी जुटाने और चलाने की क्षमता भी महत्वपूर्ण हो गई है सो हम पाते हैं कि पुरानी फिल्मों से लेकर अत्याधुनिक मीडिया तक पर कारपोरेट हाउसों का कब्जा होता गया है। अखबार, पत्रिकाएं-किताबें छापने, समाचार एजेंसियों, फिल्म निर्माण से लेकर एपल और माइक्रोसाफ्ट तक सिर्फ आठ-दस घरानों का अस्सी फीसदी से ज्यादा कब्जा हो चुका है। वे जिस तरह चाहते हैं इसे चलाने का प्रयास करते हैं।

पर अच्छी बात यह है कि पत्रकारिता की बुनियाद ही सच्चाई और तथ्यों पर खड़ी है और यह सिर्फ तथा सिर्फ सामाजिक सरोकारों के सहारे चल सकती है। कोई भी खबर तभी चल पाती है जब उसका रिश्ता उसके समाज से जुड़े। यह समाज देश-काल-भाषा के हिसाब से बदल सकता है पर खबर में उसे प्राभावित करने या उसकी दिलचस्पी के तत्व नहीं होंगे तो वह चल नहीं सकती। घुटनों का आपरेशन तभी खबर बनता है जब वह घुटना अटलबिहारी बाजपेयी का हो। पेट दर्द तभी खबर बनती है जब अमिताभ बच्चन के पेट में दर्द हो। बाजार चाहे तो बड़े जतन से किसी सुंदर हीरोइन के साथ अपने बाम का गाना-नाच कराके डाल सकता है पर यहीं तक मैनेजमेंट चलता है। जैसे ही कोई बड़ी खबर आए सारे क्रिकेट और फिल्म की मायानगरी उसे स्थान देने को बाध्य हो जाती है। और अगर मैनेजमेंट ही चलवा लेता तो देश के सबसे ताकतवर व्यक्ति-हमारे प्रधानमंत्रीजी को इतनी क्यों सुननी पड़ती। फिर न तो खाडी युद्ध के बाद बुश को हार का मुंह देखना पड़ता न अटल सरकार इंडिया शाइनिंग के बाद हारती। अभी भी मैनेजमेंट एक सीमा से ऊपर कारगर नहीं है। पर यह भी कहना होगा कि उसका प्रभाव बढ़ रहा है। अच्छी बात यह है कि मीडिया का प्रभाव भी बढ़ता गया है।

और उदाहरण देखने हों तो सेक्स या हिंसा के मामले में मीडिया की भूमिका को देखना चाहिए। और हमें इस बात के लिए खुद को सौभाग्यशाली मानना चाहिए कि सभ्य होने के साथ ही हम अपनी हिंसा वाली कमजोरी के प्रति सचेत भी होने लगे। और बुद्ध-महावीर से लेकर गांधी जैसे महापुरुषों ने न सिर्फ अहिंसा की वकालत की बल्कि हिंसा पर अंकुश और अहिंसा के गुण विकसित कराने वाला तरीका भी विकसित करने का प्रयास किया। गांधी ने तो उसके प्रयोग से बड़ी चमत्कारिक सफलताएं पाईं। अब पत्रकारों में कितने अहिंसा की ट्रेनिंग पाते हैं और सत्याग्रह का प्रयोग करते हैं यह दावा तो कोई भी नहीं कर सकता लेकिन रोज-रोज हिंसा को कवर करते हुए हिंसा की खबरें देते हुए भी वे उसी दिशा में काम करते हैं यह दावा तो किया ही जा सकता है। महाभारत के अंधे धृतराष्ट्र को संजय द्वारा खबरें सुनाने से लेकर आज के अफगानिस्तान, लेबनान, इजराइल वगैरह की खबरें देना उनका कर्म और धर्म है। इसमें जोखिम है तब भी कोई नहीं रुकता बल्कि अब तो फौज के साथ 'इंबेडेड' होकर युद्ध मैदान से खबरें भेजने का नया चलन शुरू हुआ है। कई बार मीडिया

पर 'फोर्स मल्टीप्लायर' होने का आरोप भी लगता है पर यह दुधारी तलवार है। अकसर युद्ध की विभीषिका को दिखाना उसे रोकने का सबसे अच्छा कारण बन जाता है।

उदाहरण देना हो तो सबसे अच्छा उदाहरण नागासाकी और हिरोशिमा पर एटमी हमले का दिया जा सकता है। हम जानते हैं कि तब से हजारों गुना ज्यादा ताकतवर बम बन चुके हैं और शीत युद्ध वाले दौर में होड लगाकर बम बने। आज भी आर्थिक और सामरिक प्रतिबंधों का जोखिम उठाकर भी बम बनाने का क्रम बंद नहीं हुआ है पर जापान में हुई बर्बादी को देख-भोगकर किसी की भी हिम्मत दोबारा एटमी हथियारों के इस्तेमाल की नहीं हुई है। पर इस चलते दुनिया से हिंसा खत्म हुई हो या बहुत ज्यादा कमी आ गई हो ऐसा नहीं है। आज वंचना, अपमान, और अमीरी-गरीबी का फासला हिंसा का रूप है तो नक्सलवाद, धार्मिक कठमुल्लावाद प्रतिहिंसा की श्रेणी में डाले जाते हैं। बिना इस्तेमाल वाले हथियार बनाने-विकसित करने पर अरबों-खरबों खर्च करना भी हिंसा ही है। और कोई भूख से, अपमान से, शोषण से, वंचना से परेशान होकर हथियार उठाता है तो इसे हिंसा की श्रेणी में रखते हुए भी अलग मानना होगा।

मीडिया ने सभी किस्म की हिंसा, जिसमें प्रतिहिंसा भी शामिल है, को दिखाने-बताने में, उनके जायज-नाजायज कारणों को रेखांकित करने में कोई कोताही नहीं की है। संभवतः यही कारण है कि सिर्फ एटमी हथियारों के मामले में ही नहीं सभी तरह की हिंसा के मामले में लोगों ने हाथ खींचे हैं। आज की दुनिया में कई किस्म की हिंसा के लिए जगह नहीं रह गई है जबकि ज्ञात इतिहास में ऐसी हिंसा ही सबसे ज्यादा परेशान करती रही है। आज यह असंभव माना जाता है कि दुनिया की कोई भी शक्ति अभी के भूगोल को बदलने की कोशिश करे। नए मुल्क या इलाके को जीतकर अपने साम्राज्य में मिलाने और दिग्विजयी कहलाने की लालसा आज कोई भी नहीं पालता। अब कोई सीजर, नेपोलियन, चंगेज, तैमूर नहीं होने वाला है। आज दरबार में दस-बीस नरमुंड लाकर बादशाह को खुश करने वाला दौर भी बीत गया है। अब तो चढ़ावों के नाम पर पशु पक्षियों के खिलाफ होने वाली हिंसा के खिलाफ भी माहौल बनने लगा है। देवता को मिठाई चढ़ाकर या कुम्हड़े को काटकर खुश किया जाने लगा है।

दुनिया और हमारे समाज में साफ दिख रहे इन बदलावों में मीडिया ने क्या भूमिका निभाई है या कुछ भी नहीं किया है इस पर कोई चाहे तो बहस कर सकता है। लेकिन आज कोई हिटलर-मुसोलिनी या स्टालिन-पोलपोट अपने-अपने वैचारिक अतिवादों के चलते दुनिया पर जुल्म ढाये या लाखों लोगों की जान ले ले यह असंभव बात है। विचारधाराओं ही नहीं किसी भी तरह के अतिवाद की सीमाओं का एहसास मानव-समाज को कराने में मीडिया ने, पत्रकारिता ने बड़ी भूमिका निभाई है। हिटलर द्वारा गोएबल्स की सेवाओं से लाभ लेने की सच्चाई ने मीडिया और संचार सेवाओं की ताकत के बारे में दुनिया भर में चेतना पैदा की। मीडिया स्टडीज का विषय उसके बाद ही आया है। पर आज हालत यह है कि सद्दाम हुसैन ही नहीं ओसामा बिन लादेन को भी मारकर अमेरिका दुनिया की प्रशंसा नहीं पा सका है।

पक्ष और प्रतिपक्ष को आमने-सामने करने, सभी पक्षों की बातें सामने लाने और खुद को संवाद के मंच के रूप में प्रस्तुत करके मीडिया ने दुनिया के काफी सारे विवादों को निपटाने, काफी सारी दुश्मनियों को कम करने में बड़ी भूमिका निभाई है। आखिर तिब्बत का सवाल तो दुनिया में अहिंसक

ढंग से ही उठा है। और बलशाली चीन सारे कर्म-कुर्म करने के बाद भी तिब्बत के सवाल को परदे के पीछे डालने में सफल नहीं हो सका है। अमेरिका-इजरायल की सारी ताकत और गुंडागर्दी फिलीस्तीनी लोगों की आजादी के सवाल को दरकिनार करने में सफल नहीं हुई है। हमारा समाज हिंसा और शांति के फल देख-भुगत कर कितना सीखा है और आज की संचार क्रांति ने उसे कितना सिखाया है यह हिसाब मुश्किल है। पर अज दुनिया में शांति और मेल-मिलाप का जो वातावरण बना है और दो विश्वयुद्धों की जद में रहे यूरोपीय देश भी एकजुट हुए हैं तो इसमें संचार क्रांति का बड़ा रोल है। आज शायद ही कुछ परदे में रह सकता है। आज चुनौती निजता की रक्षा की है, सूचनाओं को दबाना असंभव है। जब अमेरिकी रक्षा विभाग और विदेश मंत्रालय के लाखों पन्नों की सामग्री असांजे विकीलीक्स पर डाल सकता है आज भूमंडलीकरण की नीति उसके पीछे की मंशा उजागर होने से ही एक जगह आकर ठहर गई है। आज अमेरिका और यूरोप में ही इसके विरोधी बड़ी संख्या में हैं।

आज की तारीख में पत्रकारी काम सिर्फ विश्व शांति, अंतरराष्ट्रीय यद्ध, हिंसा, हिंसा, टकराव, प्रतिहिंसा को सामने लाना, उनके गुण-दोष को बताना और संभव हो तो सही या न्याय का पक्ष लेना भर नहीं है। स्थानीय खबरों में भी हिंसा, मारकाट को प्रमुखता मिलती है। आज भी सबसे ज्यादा अपराध की खबरें ही देखी-पढी जाती हैं। सबसे अच्छी रेटिंग अपराध वाले कार्यक्रमों को मिलती है। कई बार यह भी आरोप लगता है कि मीडिया अपने धंधे के लिए अपराध और सेक्स का सहारा लेता है पर यहां दो बातों का ध्यान रखना जरूरी है। जब भी हिंसा की बात आती है हम बलवान को, अत्यधिक महत्वाकांक्षी को ही दोषी पाते हैं और मीडिया की मुश्किल यह है कि वह बिना ताकतवर की मदद के नहीं चल सकता। आज धन के बगैर मीडिया चल ही नहीं सकता। वह लागत से कम पर या मुफ्त माल बेचने का धंधा है और आज मार्केटिंग का नया मॉडल बन गया है। पहला प्रोडक्ट कम दाम पर और पीछे से दूसरे माध्यम से कमाई करना। फिर यह सच्चाई भी है कि जो ताकतवर है उसके पास ही ज्यादा खबर होती है। ताकतवर से खबर पाने की कुछ कीमत तो देनी ही होती है। हम जिस या जिन तकनीकों का प्रयोग करते हैं वे भी ताकतवर और बाजार को मदद करते हैं।

ऐसे में पत्रकारिता एक मुश्किल काम है और इसमें कुछ वैसी ही साधना की जरूरत होती है जो हमने अपने ऋषि-मुनियों में देखी है या जैन धर्म के प्रणेता लोग कहते रहे हैं। जिन चीजों-इन्द्रियों का प्रयोग हम सामान्य जीवन जीने के लिए करते हैं उनसे विरक्ति या उन पर जीत पाना, उनके भौतिक प्रभाव से ऊपर हो जाना ही सबसे बड़ा कौशल है। इनके प्रभाव से सिर्फ अपने तन को ही नहीं मन को भी मुक्त रखना। निश्चित रूप से यह काफी मुश्किल काम है। पर पत्रकार को यही करना होता है। जिस पैसे, सत्ता, और तकनीक ही नहीं कानून, विचारधारा और पूर्वाग्रह जैसे जिन हथियारों से हम अपना काम करते हैं हमें उनसे भी मुक्त होना होता है। जिसका पैसा लेना जरूरी है, जिससे खबर पाते हैं- जरूरत होने पर हम उनके खिलाफ भी लिखें यह चुनौती सदा रहती है। और जिन लोगों ने यह काम किया है उन्होंने ही इस पेशे का नाम ऊंचा किया है। उन्होंने ही उन कामों को करने का आधार तैयार किया है जिनका जिक्र ऊपर किया गया है। कहना न होगा कि अभी इस मामले में काफी दूरी तय की जानी है और यह काम आग के दरिया से गुजरने जैसा है।

कंटेंट में बदलाव का दौर

उमेश चतुर्वेदी

आज के भूमंडलीय यथार्थ का एक भयानक पहलू यह है कि हम अपनापा खोते जा रहे हैं। हमारा घर, हमारा परिवार, हमारा गांव, हमारा शहर, हमारा जनपद, हमारा देश, हमारे देश के लोग, हमारे सगे-संबंधी, हमारे यार-दोस्त, हमारे संगी-साथी, हमारा रहन-सहन, हमारी बोली-बानी, हमारे तीज-त्योहार, हमारे गीत-संगीत, हमारे रीति-रिवाज, हमारे मेले-ठेले, हमारे लोकगीत, हमारी लोककथाएं, हमारी भाषाएं और उनमें रची गई आदिकाल से अब तक की हमारी साहित्यिक और ज्ञानात्मक रचनाएं... यानी कि हमारा जो भी अपना था, या अब भी है, मानो हमारा नहीं रहा... या वह सब पुराना, पिछड़ा हुआ, बेकार और हमारे लिए बेमतलब हो गया। लेकिन इससे हमारे जीवन में जो खालीपन पैदा हो रहा है, क्या उसे हम देख रहे हैं? और क्या हम समझ रहे हैं कि उस खालीपन को धर्म, सम्प्रदाय, व्यवसाय और अपनी-अपनी निजी हित-चिंता से जुड़ी कितनी खोखली और खतरनाक चीजों से भरा जा रहा है? (सुप्रसिद्ध कथाकार रमेश उपाध्याय की एक टिप्पणी का अंश)

साल 1991 की 25 जुलाई को नरसिंह राव सरकार के वित्त मंत्री के तौर पर जब मनमोहन सिंह ने आम बजट पेश किया तो वह महज केंद्र सरकार का आर्थिक लेखा-जोखा भर नहीं था। बल्कि वह भारतीय समाज में बदलाव की खिड़की खोलने वाला भाषण भी था। यह परिघटना समय-चक्र की चौथाई सदी की उम्र पूरी करने वाली है। इस चौथाई सदी में भारतीय अर्थव्यवस्था ही नहीं बदली है, बल्कि विचार और सोच की सरणियों को भी इसने पूरी तरह बदल दिया है। तब उदारीकरण को लेकर कई आशंकाएं भी जताई गई थीं। उदारीकरण के समर्थक तब उसे दुनिया की तरफ खुलने वाली ऐसी खिड़की के तौर पर पेश कर रहे थे, जिसके जरिए पश्चिमी दुनिया की तरफ से आने वाली खुली हवा न सिर्फ आर्थिक बदलाव का झोंका लाएगी, बल्कि हर तरफ खुशियों और समृद्धि की बरसात भी करेगी। लेकिन उदारीकरण के विरोधी उसके दूसरे पहलू को लेकर कहीं ज्यादा आशंकित थे। उनका तर्क था कि उदारीकरण की यह बयार अर्थव्यवस्था में चाहे जितना भी बदलाव लाए, संस्कृति के मोर्चे पर उसकी आंधी बड़ी तोड़फोड़ करेगी। दिलचस्प यह है कि भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में तकरीबन हर बिंदु और विचार पर एक-दूसरे के खिलाफ खड़ी रहने वाली वामपंथी ताकतें और दक्षिणपंथी कही जाने वाली शक्तियों के विचार कम से कम इस मोर्चे पर समान थे। हालांकि देश में बदलाव लाने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ नरसिंह राव की सोच और सेहत पर कोई असर नहीं पड़ा। उदारीकरण की शुरुआत के सिर्फ सवा तीन साल बाद बात इससे भी आगे बढ़ गई, जब अफ्रीकी देश मराकेश में नरसिंह राव के ही वाणिज्य मंत्री प्रणब मुखर्जी ने डंकल प्रस्तावों पर हस्ताक्षर

कर दिया। इसके साथ ही तय हो गया कि अब उदारीकरण की आंधी में अर्थव्यवस्था में चमकीले चाहे जितने भी सकारात्मक बदलाव आएँ, सामाजिक और सांस्कृतिक मोर्चे पर नकारात्मक बदलाव भी आने तय हैं। दिलचस्प यह है कि तब अखबारों की सामग्री उन दिनों इन खतरों को आगाह करने की पुरजोर कोशिश करती थी। डंकल और डब्ल्यूटीओ के प्रस्तावों के खिलाफ कहीं भी प्रदर्शन होता या गोष्ठियाँ होतीं या फिर धरने-प्रदर्शन होते, अखबार उसे रिपोर्ट करना और उस पर संपादकीय विचार पेश करना अपना पुनीत कर्तव्य मानते थे। बेशक तब भी पत्रकारिता पर विचार और उसकी धाराएँ हावी थीं लेकिन प्रेस के जो सबसे प्रमुख काम हैं, सूचना देना, शिक्षा देना और मनोरंजन करना।

उदारीकरण के पहले तक अखबार इस काम को या तो गंभीरता से करते थे। ऐसा करते वक्त कम से कम तटस्थता बरतना या उसे बरतते हुए दिखाना अखबारों और पत्रिकाओं की नैतिकता का जरूरी उपादान भी हुआ करता था। जाहिर है कि इसका असर कंटेंट पर भी था। यानी तब पत्रकारीय नैतिकता की मर्यादा रेखा के दायरे में अपने सीमित संसाधनों के बावजूद अखबार अपना नैतिक दायित्व निभाते रहे लेकिन जैसे-जैसे उदारीकरण की बयार तेज होने लगी, नैतिकता का यह दायरा संकुचित होने लगा और अब तो कई बार ऐसा भी लगता है कि नैतिकता बीते दिनों की बात हो गई है। जिन सांस्कृतिक मूल्यों के जरिए भारतीय समाज अपनी महत्ता को दूसरी संस्कृतियों के बरक्स श्रेष्ठतर साबित करने की कोशिश करता रहा है या गर्वोन्नत भाव से भरा रहता रहा है। वे मूल्य ही अब समाज और संस्कृति से तिरोहित हो गए हैं और उनकी जगह नए मूल्यों ने ले ली है। इसलिए उदारीकरण के शुरुआती दौर में पैदा हुई पीढ़ी, जो अब तक या तो जवान हो गई है या फिर युवा होने की प्रक्रिया में है, उसके लिए मूल्य और नैतिकता की बातें ऑउट ऑफ फैशन या पिछड़ेपन का प्रतीक बन गई हैं। रमेश उपाध्याय इसे ही अपना अपनापा खोने की प्रक्रिया बता रहे हैं। जिससे जिंदगी में जो रीतापन बढ़ता जा रहा है, उसकी भरपाई मुश्किल होती नजर आ रही है। हैरत की बात यह है कि इस सोच को आउट ऑफ फैशन मानने वाली पीढ़ी को तब तक ही ये विचार ऐसे लगते हैं, जब तक उसकी जेब में उदारवाद के चलते कड़कड़ाते नोट रहते हैं या क्रेडिट कार्ड की क्षमता बड़ी होती है लेकिन जैसे ही नोट और क्रेडिट कार्ड की खरीद क्षमता कम होने लगती है, उदारीकरण के दौरान पैदा हुई पीढ़ी को तब पता चलता है कि समाज सिर्फ उदारीकरण के झोंके से कुछ पल के लिए सुहाना भले लगे, लेकिन जिंदगी का अबाध सौंदर्य उस समाज में तिरोहित हो जाने में ही है, जिसके लिए मूल्य और मर्यादाएँ अर्थ की बजाए कहीं ज्यादा मायने रखती हैं। दुर्भाग्यवश आज की पत्रकारिता और उसमें पेश किए जाने वाले कंटेंट पर इस त्रासदी का नामोनिशान नहीं मिलता। खुदा न खास्ता कहीं मिलता भी है तो उसकी गूँज अपने संस्थानिक चारदीवारी में ही कहीं गुम हो जाती है या अर्थकेंद्रित व्यवस्था में विकसित हुए संपादकों और पत्रकारों के उलाहनों में ही डूबने के लिए मजबूर हो जाती है। इसका असर यह होता है कि आगे से ऐसी सोच रखने वाली पत्रकारीय शख्सियत भी यथार्थवादी कंटेंट की रचना और प्रस्तुति से बचने लगती है। उदारीकरण के दौर में विकसित अर्थकेंद्रित समाज में सरोकारी सोच की इस तरह लगातार हत्याएँ हो रही हैं। उपहास की यह प्रक्रिया दुर्भाग्यवश पत्रकारिता में सरोकारी कंटेंट की भी हत्या कर रही है।

2004 तक आते-आते उदारीकरण की शुरुआत के 13 साल बीत चुके थे। तब तक कंटेंट और सरोकारी सोच को पत्रकारिता में जिंदा करने की जद्दोजहद बाकी थी। इसी दौर में आलोक श्रीवास्तव ने 'अखबारनामा' नाम से पत्रकारिता पर एक किताब पेश की थी। उस किताब की भूमिका में आलोक लिखते हैं 'अमेरिकी साम्राज्यवाद ने कोई दशक भर पहले, जब भारतीय पत्रकारिता में नए परिवर्तन शुरू किए तो उसका मुख्य लक्ष्य था, एक विचारहीन समाज का निर्माण और विदेशी उत्पादों तथा विदेशी सांठगांठ से बने स्थानीय उत्पादों के लिए बाजार का निर्माण और विस्तार। आलोक यहीं नहीं रुकते। वे आगे लिखते हैं- पिछले दस सालों में साम्राज्यवादी असर ने अखबारों को जिन विषयों तक सीमित कर दिया है- वे हैं मनोरंजन उद्योग के जनसंपर्क माध्यम के रूप में, धर्म, अध्यात्म के प्रचार तंत्र के रूप में और हिंदुत्व, विनिवेश व वैश्वीकरण की राजनीति के प्रचारक के रूप में। आलोक श्रीवास्तव की इन स्थापनाओं से किंचित मतभेद हो सकता है लेकिन यह सच है कि अखबारों में जिस तरह विज्ञापनों की बाढ़ आई है और पाठ्य सामग्री के मुकाबले उनका वर्चस्व बढ़ा है, उसके आलोक में आलोक श्रीवास्तव की इन स्थापनाओं और आब्जर्वेशन को नकारा नहीं जा सकता। जनसत्ता और नवभारत टाइम्स के कार्यकारी संपादक और माखनलाल चतर्वेदी पत्रकारिता विश्वविद्यालय के कुलपति रहे अच्युतानंद मिश्र इस प्रक्रिया को अलग ढंग से परिभाषित करते हैं। उनका कहना है कि पहले अखबार और पत्रिकाएं पाठकों के लिए निकाले जाते थे। लेकिन अब अखबार और पत्रिकाएं विज्ञापनदाताओं के लिए निकाले जाते हैं और पाठकों के लिए उन विज्ञापनदाताओं की मर्जी से कुछ पाठ्य-सामग्री दे दी जाती है। जाहिर है, जब विज्ञापनदाता की मर्जी का खयाल रखा जाएगा तो कंटेंट की भाषा और प्रकृति वही निर्धारित करेगा। यानी बाजार की सीधी घुसपैठ अब कंटेंट में है। इसका असर देखिए कि स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान हिंदी भाषा को पत्रकारिता ने ही गढ़ा। उसे नई रवानी दी और उसे जन-जन तक प्रचारित करते हुए लोकवृत्त का भी निर्माण किया। लेकिन उसके मुकाबले अब बाजार कहीं ज्यादा हावी है।

अब विज्ञापनदाता चाहता है, इसलिए अब हिंदी के अखबार हिंदी में जबर्दस्ती अंग्रेजी के शब्दों को ठूस रहे हैं। दिलचस्प यह है कि इसे हिंदी को बचाने के नाम पर पेश किया जा रहा है। हिंदी में अपने अंग्रेजी लेखन का उल्था प्रकाशित और पेश करने वाले चेतन भगत इससे भी दो कदम आगे बढ़कर हिंदी भाषा के लिए रोमन लिपि अपनाने की वकालत कर रहे हैं। चार साल पहले हिंदी के एक मशहूर कथाकार असगर वजाहत ने भी देवनागरी को छोड़कर रोमन लिपि अपनाने का तर्क दिया था। चेतन भगत का तर्क है कि चूंकि तकनीक, व्हाट्सएप्प, एसएमएस आदि में हिंदी रोमन में लिखी जा रही है। इसलिए अगर हिंदी ने रोमन अपना लिया तो उसका विस्तार हिंदी की सीमाओं से बाहर भी हो सकता है। असगर वजाहत का तर्क था कि हिंदी फिल्मों की पटकथाएं रोमन लिपि में लिखी जा रही हैं, ज्यादातर अभिनेताओं को डॉयलाग रोमन में ही पेश किए जा रहे हैं। इसलिए बेहतर तो यही होगा कि हिंदी वाले रोमन ही अपना लें। ऐसे तर्क देते वक्त चेतन भगत और असगर वजाहत-दोनों ही यह भूल गए कि ऐसे तर्क दरअसल बाजार ही देता है और ऐसे तर्कों के जरिए आपके अपने स्पेस में सेंध लगाता है। जिसकी बात रमेश उपाध्याय कर रहे हैं। इन्हीं तर्कों के सहारे जागरण समूह ने आई नेक्स्ट तो अमर उजाला समूह ने कॉम्पैक्ट और दैनिक भास्कर समूह ने हिंग्लिश टेब्लॉयड डीबी स्टार पेश किया। दिलचस्प बात यह है कि उदारीकरण ने एक ऐसी मूल्यहीन पीढ़ी

भी पैदा की है, जिसके लिए रोमन लिपि में हिंदी पेश करने और अखबार पेश करने में नैतिकता बाधक नहीं बनती।

1994 में दूरदर्शन से इतर पहला निजी टेलीविजन न्यूज चैनल 'जी' ने शुरू किया था। तब जी ने भी खबरों के प्रस्तुतिकरण के लिए हिंग्लिश का ही इस्तेमाल किया था। तब उसे पेश करने वालों के सामने बाजार का ही तर्क था कि उसके श्रोता, दर्शक ज्यादातर मेट्रो शहरों और मध्यपूर्व यानी खाड़ी के देशों में हैं और वे हिंदी पारंपरिक तरीके से नहीं जानते, बल्कि उनकी हिंदी पर अंग्रेजी का वर्चस्व है लेकिन ऐसी परंपरा स्थापित करते वक्त जी न्यूज के शुरुआती कार्यकर्ता यह भूल गए कि वे किसी सामान्य जींस बेचने का धंधा नहीं करने जा रहे हैं, बल्कि वे संस्कृति के एक उपादान को पेश करने जा रहे हैं और उनकी बनाई परंपरा इस उपादान के भावी रूप के लिए नींव का काम करेगी। बेशक वह हिंग्लिश नहीं चली। लेकिन यह भी सच है कि उस हिंग्लिश ने हिंदी पत्रकारिता के कंटेंट में गंभीर सेंध लगा दी। यह सेंध ही अब नई पत्रकारिता की नींव के रूप में कुछ जगहों पर स्वीकृत हो गई है। जिसका हवाला बाद में प्रकाशन और संपादन की दुनिया में शामिल होने वाला अखबार या पत्रिका का हर खिलाड़ी देकर उसे बढ़ाने का तर्क पेश करता है।

उदारीकरण की चाशनी में डूबने के पहले अखबारों और पत्रिकाओं के कंटेंट पर दो चीजें साफ नजर आती थीं। भाव के स्तर पर जन के दुख, जन की परेशानियां और उस पर होने वाली राजनीति केंद्र में होती थी। तब जैसे ही महंगाई बढ़ती थी, उसे रोकने में राजनीति नाकाम नजर आती थी। भ्रष्टाचार बेकाबू होता था, तब अखबारों और पत्रिकाओं के पृष्ठ, समाचार कहानियों और संपादकीय टिप्पणियों से भर जाते थे। तब जन का सरोकार पत्रकारिता के पृष्ठों पर कुलांचें मारने लगता था। तब संपादकीय टीम की बैठकों में सरोकारी चिंताएं भी जोर मारने लगती थीं लेकिन उदारीकरण ने संपादकीय टीम की चर्चाओं से जन-सरोकारों को गायब कर दिया। वहां चर्चा होती है कि आज के दौर में महिलाओं के लिए कौन सा उतेजक परफ्यूम आया है और पुरुषों को किस परफ्यूम का इस्तेमाल करना चाहिए। संपादकीय टीम के साथियों को गाड़ियों के नए मॉडल, पड़ोसी के पास आई नई बेंचले या रेनाल्ट डस्टर कार ज्यादा लुभाती है। राजस्थान और मध्य प्रदेश जैसे राज्यों ने 2014 में श्रम कानूनों में बड़ा बदलाव किया। इससे हजारों लोगों के बेरोजगार होने की ही नहीं, बल्कि करने की राह भी खुल गई। कानून बदलने की इसी परिपाटी का अनुसरण महाराष्ट्र की नई सरकार 2015 में करने की इच्छा रखती है। संपादकीय टीम की चिंताओं में यह विषय इसलिए शामिल नहीं है, क्योंकि यह आउटडेटेड है। इसी तरह अब हायर एंड फायर यानी नौकरी से जब चाहे निकाल दो या फिर उसे जब चाहे नौकरी दे दो- वाली खबरें अखबारों की सुर्खियां नहीं बनतीं या इन पर पत्रिकाओं में गंभीर विश्लेषणात्मक रिपोर्ट नहीं प्रकाशित की जातीं। बेरोजगारी की मार से आम आदमी कितना परेशान होगा, इसकी चिंता भी संपादकीय टीम की प्राथमिकता सूची से गायब है। इस पर विचार आधुनिकतावादी दौर में दकियानूसी माना जाने लगा है। इसका असर यह हुआ कि अखबारों के पन्नों से वैचारिक पेज गायब होने लगे। तर्क यह दिया गया कि विचार आज के दौर में पढ़ा ही कहा जा रहा है। इसके लिए बड़े अखबारों ने झूठे-सच्चे सर्वेक्षणों का हवाला दिया लेकिन सोशल मीडिया ने इस झूठ पर से ही पर्दा उठा दिया है। सोशल मीडिया और ब्लॉग पर वैचारिक लेखों को ना सिर्फ पढ़ा जा रहा है, बल्कि उन पर चर्चाएं भी हो रही हैं। वैचारिक सामग्री से लबरेज

संपादकीय पृष्ठ के ठीक बाद वाले पेज को पहले जोर-शोर से तैयार किया जाता था लेकिन अब ऐसा नहीं है। खेल के पृष्ठ पर सिर्फ क्रिकेट की खबरों का जोर है। देशज खेल कबड्डी या कुश्ती की कहानियां जल्दबाजी और संक्षेप में निबटा दी जाती हैं। अब ऐसी खबरों के लिए एक पूरा पृष्ठ रहता है। जिसमें यह दिया जाता है कि किसने कितनी बार सेक्स का रिकॉर्ड बनाया या फिर ब्राजील में विवाहिता प्रेमिका के घर में पकड़े जाने के बाद प्रेमी सड़क पर नंगे ही कूद गया। कहने का मतलब यह कि ऐसी ही सस्ते मनोरंजन वाली विदेशी कहानियां इस पृष्ठ चाव से प्रकाशित की जाती हैं। अंग्रेजी के कुछ अखबारों ने तो अपने सिटी पुलआउट पेज को एक तरह से विज्ञापन का पेज ही बना दिया है जहां छपने वाली सारी सामग्री पैसे लेकर प्रकाशित की जाती है। भले ही वह समाचार या फीचर के तौर पर ही क्यों ना हो। टाइम्स ऑफ इंडिया का डेली टाइम्स हो या मुंबई टाइम्स, वह खुद उस पर छपी सामग्री को उत्पाद बताता है और उसके लिए बाकायदा पैसे लेता है। शुरू में इसे पेज-श्री पत्रकारिता के तौर पर विकसित किया गया जिसकी देखा-देखी भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों में भी ऐसे कटेंट परोसे जाने लगे। कभी ऐसे कटेंट को पश्चिमी दुनिया के सूचना और संचार के हमले के तौर पर देखा जाता था।

गुट निरपेक्ष समाचार पूल की परिकल्पना, इसी उल-जलूल सामग्री के खिलाफ तीसरी दुनिया के देशों को सरोकारी कटेंट और सूचनाएं उपलब्ध कराने के लिए सत्तर के दशक में की गई थी लेकिन अब गुट निरपेक्ष पूल को मीडिया ही भूल गया है। जाहिर है कि कटेंट की सरोकारी लड़ाई पीछे छूट गई है। हां, अंग्रेजी अखबारों के साथ उसके कथित गंभीर पत्रकारों की बौद्धिक साख भी जुड़ी हुई है इसलिए वहां संपादकीय पृष्ठ अभी बचे हुए हैं। कई बार ऑप एड पेज पर भी गंभीर और बौद्धिक चर्चाएं हो जाती हैं। उन्होंने संपादकीय पृष्ठ की गंभीरता से कम खिलवाड़ किया है लेकिन हिंदी के अखबार इससे आगे निकल गए हैं। उन्होंने संपादकीय पृष्ठ और पेज श्री का तकरीबन घालमेल ही कर दिया है। टेलीविजन ने तो अपना मुख्य धर्म पेज श्री की पत्रकारिता को ही बना लिया है इसलिए वहां चीखना-चिल्लाना ज्यादा है। अगर कभी गंभीर चर्चा के नाम सरोकारी खबर दिखाने या उस पर विमर्श की कोशिश हुई भी तो उस पर भी तमाशा संस्कृति हावी हो जाती है। कार्यक्रम का संचालन करने वाले, जिसे अब खबरिया चैनलों की भाषा में एंकर कहा जाता है, की कोशिश वहां मौजूद विषय विशेष के जानकारों में लड़ाई कराना ज्यादा रहती है, गंभीर चर्चा से नवनीत निकालना कम। फिर भी मीडिया की अब भी बड़ी साख है।

किसी को कहीं न्याय नहीं मिला तो वह मीडिया की तरफ उम्मीद भरी निगाहों से देखता है। लेकिन इसकी बड़ी वजह यह नहीं है कि मीडिया चूंकि जनसंचार का माध्यम है, बिना जन के उसका अस्तित्व मुकम्मल नहीं हो पाता इसलिए उसे जन की चिंताएं दिखानी होती हैं। उसके साथ खड़ा होना पड़ता है। विश्वसनीयता को बचाए और बनाए रखने के लिए मीडिया के पास जन का आधार जरूरी है अन्यथा सरोकार दिखाने के कथित प्रपंच को पेश करने का मंच भी नहीं रह पाएगा। मीडिया इस संकट और अपनी इस सीमा को समझता है इसलिए जन से जब भी उसका ज्यादा विचलन बढ़ता है और आम लोगों के सरोकारों से दूर जाने का आरोप उस पर कुछ ज्यादा ही चस्पा होने लगता है, वह फौरन किसी न किसी बहाने उसी जन यानी आम आदमी को साधने की कोशिश में जुट जाता है, जिसकी चिंताएं और परेशानियां राजनीति, कारपोरेट और अफसरशाही को खुश करने की

कोशिश में भूल जाता है। मीडिया में जन की सरोकारी चिंताओं का कथित प्रपंच इसी का हिस्सा होता है।

बाजार ने बाद में एक और बदलाव पेश किया। जब 1990 में खाड़ी युद्ध हुआ तो अमेरिकी न्यूज चैनल सीएनएन ने इराक पर अमेरिकी हमले की लाइव कवरेज दिखाकर यह साबित करने की कोशिश की कि खबरों को आक्रामक अंदाज में पेश किया जाए तो उससे भी कमाई की जा सकती है। भारतीय टेलीविजन में आज जो चीखम-चिल्ली है, उसकी नींव में सीएनएन की यही सोच है। बाद के दौर में जब बाजार बढ़ता गया और टेलीविजन की रेटिंग प्वाइंट के जरिए टेलीविजन की लोकप्रियता को मापा जाने लगा तो टेलीविजन कंटेंट तीन ही बिंदुओं पर सिमट गया सिनेमा, क्राइम, सेक्स और क्रिकेट पर। सबसे बड़ी बात यह है ये चारों एक-दूसरे के पूरक हैं। जब तकनीकी विस्तार के दौर में टेलीविजन ने अपनी पहुंच और पकड़ ज्यादा बनाई तो लगा कि अखबारों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। इसका असर यह हुआ कि टेलीविजन की तर्ज पर ही अखबार भी बदलने लगे। आजादी के आंदोलन की कोख से जन्मी और पली-बढ़ी प्रिंट पत्रकारिता में भी सिनेमा, क्राइम और सेक्स का छौंका बढ़ने लगा।

उदारीकरण के दौर में कंटेंट की विदाई के कई लोमहर्षक उदाहरण भी दिख जाएंगे। हाल के दिनों में स्वाइन फ्लू से सैकड़ों लोगों की जान गई, लेकिन दुर्भाग्यवश इस पर मीडिया का गंभीर ध्यान नजर नहीं आया। अगर आतंकवादी हमले में चार-छह लोगों की मौत हो जाती है और खास तौर पर दिल्ली, मुंबई, बंगलुरु जैसे महानगरों में ऐसे हमले होते हैं तो पूरी मीडिया इंडस्ट्री ही हिल जाती है..ऐसी खबरों को चलाने के लिए अपना पूरा अमला झोंक देता है.. पूरी भारतीय पत्रकारिता से किसानों की खुदकुशी की घटनाओं को लेकर खबरें कम हुई हैं। कीटनाशक, उर्वरक और इनकी वजह से कर्ज में डूबते किसानों की महाराष्ट्र और आंध्र प्रदेश में लगातार मौतें हो रही हैं। 2004 के चुनावों में एनडीए सरकार की हार का बड़ा कारण रही किसानों की आत्महत्याएं अब खबरों के केंद्र में नहीं हैं। हाल ही में मोदी सरकार ने भूमि सुधार कानून में बदलाव के लिए अध्यादेश को मंजूरी दे दिया। इससे किसानों और समुदाय का उनकी जमीनों पर हक कमजोर हुआ है लेकिन इस विषय पर द हिंदू छोड़कर मुख्यधारा के किसी भी अखबार ने खबर प्रकाशित करने की जरूरत नहीं समझी। अब अखबारों और चैनलों को लगने लगा है कि ऐसे विषयों को उठाना आर्थिक विकास की राह में रोड़ा अटकाना है। 2007 और 2012 में भूमि सुधार लागू करने और गांव-जंगल पर मूल निवासियों को अधिकार दिलाने के लिए पीवी राजगोपाल की संस्था एकता परिषद ने क्रमशः शुरू में 25 हजार और एक लाख लोगों का ग्वालियर से दिल्ली मार्च आयोजित किया लेकिन दुर्भाग्यवश दोनों ही बार एकता परिषद की इस कोशिश को व्यापक कवरेज नहीं मिली।

उदारीकरण के दौर में एक और परिपाटी विकसित हुई है। हिंदी अखबारों में हिंदी के खालिस लेखक और स्तंभकारों की औकात लगातार कम हुई है। अब्ल तो बाजारवाद के दौर में हिंदी अखबारों ने अपने लिए स्तंभकार न तो पैदा किए और न ही उनकी दिलचस्पी उन्हें विकसित करने में रही। उन्हें अंग्रेजी के छिछले लेखकों और पत्रकारों को उलथा करके प्रकाशित करने में ही अपना कंटेंट विकास नजर आने लगा। अंग्रेजी में कूड़ा लिखने वाले भी हिंदी के करोड़ों बिकने वाले अखबारों के मालिकों को अपमार्केट लेखक नजर आने लगे और हिंदी के पत्रकार की हैसियत सिर्फ और सिर्फ

इन छिछले लेखकों के अंग्रेजी लेखन का अनुवाद करने तक सीमित होती गई। इन पंक्तियों के लेखक को हिंदी के एक बड़े अखबार में काम करते वक्त बहुत ही पीड़क अनुभव रहा है..तब ऐसे कथित स्तंभ लेखकों से बात करके लेख लिखने की जिम्मेदारी इन पंक्तियों के लेखक को मिली थी...तब दो ही लोगों से बात करना प्रेरणादायक अनुभव रहा, पूर्व प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह और चंद्रशेखर से बात करके उनके नाम पर लेख लिखना। उस दौर में हिंदी में सांप्रदायिकता विरोध के नाम पर एक पूर्व सुंदरी और एक सिनेमा में अपने सरोकारों के लिए जाने जाने वाली अभिनेत्री काफी चर्चित थीं। जाहिर है कि दोनों से बात करने की जिम्मेदारी इन पंक्तियों के लेखक को मिली। दोनों हर बैठक में सिर्फ दो ही जुमले बोलती थीं, सांप्रदायिकता और फिरकापरस्ती। इन्हीं दो शब्दों के इर्द-गिर्द ही हर बार 1500 से 1800 शब्दों का लेख लिखना पड़ता था..जाहिर है कि वह लेख उनका नहीं था, लेकिन उनके ही नाम से प्रकाशित होता था। हाल के दिनों में रोशनी चोपड़ा के नाम से भी कुछ अखबारों में आलेख प्रकाशित होने लगे हैं।

हिंदी में निश्चित तौर पर इस परिपाटी का जड़ पकड़ना दुर्भाग्य की बात है और इसके लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार हिंदी के नाम पर कमाई करने वाले बड़े अखबारी घराने और उनकी तनख्वाह पर पलने वाले हिंदी के कथित संपादक हैं। उन्होंने हिंदी पत्रकारिता में मूल कंटेंट की विदाई की कहानी लिखी है और कहना न होगा कि इस विदाई की कहानी में ही हिंदी के कंटेंट के पतन की कहानी का राज छिपा है। हिंदी को बनाने वाले शिवप्रसाद सितारेहिंद हों या भारतेन्दु हरिश्चंद्र या फिर महावीर प्रसाद द्विवेदी अगर उनकी आत्माएं स्वर्ग में भी होंगी तो निश्चित तौर पर वे अपने उत्तराधिकारियों के शर्मनाक व्यवहार से कहीं न कहीं आहत जरूर महसूस कर रही होंगी।



स्वामित्व, बाजार और सरोकार

मुकेश कुमार

‘उन्नीसवीं सदी के आखिरी वर्षों में मीडिया प्रतिस्पर्धी बाजार में पाठकों-दर्शकों को आकर्षित करने में ज्यादा लग गया। इंटरनेट को चलाने वाली मुख्य ताकत मनोरंजन और विज्ञापन बन गए, जिन्होंने राजनीति एवं सामाजिक संवाद को विस्थापित कर दिया। मीडिया तेजी से बड़े व्यवसायों के नियंत्रण में चला गया। मीडिया लोकतांत्रिक विचार-विमर्श की जगह, कापोरेट हितों के लिए इस्तेमाल होने लगा। ये रूपांतरण मीडिया के पुनर्सामंतीकरण के हिस्सा थे और इसमें सोचने वाली जनता को भागीदारी वाले लोकतंत्र से दूर और अपरिचित कर दिया। उसकी जगह ऐसी जनता ने ले ली जो बहुत वैचारिक या आलोचक नहीं थी और जिसकी चिंता उपभोग भर में थी।’

(जर्गेन हैबरमास, जर्मन समाजशास्त्री एवं दार्शनिक)

मीडिया को लोकतंत्र का चौथा खंभा कहा जाता रहा है। किसी भी लोकतांत्रिक देश में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की स्थिति की जांच भी मीडिया की स्वतंत्रता के आधार पर ही की जाती है। मीडिया को बहुधा जनता की आवाज और उसके अधिकारों के सजग प्रहरी के रूप में भी देखा जाता है। उसकी इसी भूमिका और उससे की जाने वाली अपेक्षाओं से मिलकर बनते हैं मीडिया के सरोकार।

वैसे मीडिया के सरोकारों का दायरा बहुत विस्तृत माना जाता है। कहा जा सकता है कि धरती के ऊपर और आसमान के नीचे जो कुछ भी है, उस सबसे उसका सरोकार है। लेकिन ये बहुत ही अस्पष्ट परिभाषा होगी और इसके आधार पर मीडिया की भूमिका को जांचना थोड़ा दुष्कर कार्य होगा। अगर हम मीडिया के सरोकारों को मीडिया के उन उद्देश्यों के परिप्रेक्ष्य में देखें जिनका जिक्र अकसर किया जाता है तो शायद बेहतर होगा। इसके मुताबिक मीडिया की भूमिका समाज को सूचना देना, शिक्षित करना और मनोरंजन प्रदान करना (To inform, To educate and To entertain) है। इसमें मीडिया के सभी पक्ष समाहित हैं। लेकिन बेहतर समझ पैदा करने के लिए ये जरूरी है कि इन तीनों पक्षों की भी थोड़ी विवेचना की जाए। इससे मीडिया के सरोकारों को ज्यादा स्पष्टता से समझने में मदद मिलेगी।

जब हम कहते हैं कि मीडिया का काम सूचनाएं देना है तो ऐसा लगता है मानो इसका काम बिना किसी सोच-विचार के निर्लिप्त भाव से आई जानकारियों को इकट्ठा करके लोगों को दे देना है। लेकिन वास्तव में ऐसा होता नहीं है। सूचनाएं परिस्थिति या समाज निरपेक्ष नहीं होतीं। उन्हें

किस तरह, किनके लिए, किस उद्देश्य से इकट्ठा किया जा रहा है ये बहुत महत्वपूर्ण होता है। जानकारियों का चयन, उनकी पैकेजिंग और वितरण का भी उतना ही महत्व होता है। बहुत सी जानकारियों का न देना ही जनहित में होता है और बहुत सी जानकारियां ऐसी होती हैं जिनको प्रस्तुत करने के पहले काट-छांट की जरूरत होती है। जब मीडिया ऐसी सावधानियां नहीं बरतता या दूसरे स्वार्थों से प्रेरित होकर जानकारियों को तोड़ता-मरोड़ता है तो उस पर जन सरोकारों का ध्यान न रखने के आरोप लगते हैं।

मीडिया के सरोकारों में एक योग्य शिक्षक की भूमिका भी शामिल होती है। खास तौर पर ऐसे समाजों में उसकी ये भूमिका बहुत ही निर्णायक हो जाती है जहां अशिक्षा हो, अज्ञानता हो, वैज्ञानिक ढंग से सोचने और विश्लेषण करने की बौद्धिक क्षमताओं का अभाव हो। अगर मीडिया ऐसा करने की बजाय भूत-प्रेत, चमत्कार, अंधविश्वास आदि को बढ़ावा देने वाली सामग्री प्रस्तुत करने लगता है तो जाहिर है कि वह जन सरोकारों की उपेक्षा ही नहीं कर रहा उनके विरुद्ध काम भी कर रहा है। 'रहस्य, रोमांच से भरी घटनाओं में दिलचस्पी हमारी आदिम प्रवृत्ति का हिस्सा है। जीवन की अज्ञात गुफाओं में घुसकर उनको जानने की जिज्ञासा एक स्वाभाविक चीज है, मगर इसके एक वैज्ञानिक समाधान के बजाय उसे अज्ञानता और अंध विश्वास के आवरणों में ढंके रखना किसी सामाजिक अपराध से कम नहीं है।' (कसौटी पर मीडिया, मुकेश कुमार, पेज-16, 2014)।

समाज को स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करना मीडिया के सरोकारों का तीसरा महत्वपूर्ण हिस्सा माना जाता है। मनोरंजन समाज की अनिवार्य आवश्यकताओं में से एक है और मीडिया इसे पूरी करने का एक बड़ा स्रोत। मनोरंजन के पारंपरिक साधन धीरे-धीरे खत्म हो चुके हैं या लुप्त होते जा रहे हैं। उनकी जगह मीडिया ने ले ली है। लेकिन क्या वह ऐसा मनोरंजन दे रहा है जो समाज के विभिन्न वर्गों में किसी तरह के विकारों को जन्म न दे। जाहिर है कि समाज इस मोर्चे पर भी मीडिया की भूमिका से संतुष्ट होने की बजाय क्षुब्ध है। अपवादों को छोड़ दिया जाए तो मनोरंजन के नाम पर जो कुछ परोसा जाता है वह फूहड़ता की श्रेणी में ही रखा जा सकता है। 'इसमें भी संदेह नहीं कि न्यूज चैनलों ने अब या तो जन सरोकारों को छोड़ दिया है या फिर उनकी परिभाषा बदल डाली है। कभी-कभी सरोकारों से जुड़े होने का भ्रम जरूर पैदा किया जाता है लेकिन वास्तव में ऐसी कोई भी गतिविधि या अभियान टीआरपी से प्रेरित होती है।' (टीआरपी, टीवी न्यूज और बाजार, पेज 109, 2015)।

यानी एक जिम्मेदार एवं जनपक्षधर मीडिया वही होगा जो उसे सौंपे गए तीनों दायित्वों का निर्वाह करने के लिए निरंतर प्रयास करे, उसके लिए संघर्षरत रहे। लेकिन जैसा कि स्पष्ट है हाल के वर्षों में बड़े स्तर पर ये महसूस किया जाने लगा है कि मीडिया अपनी इन भूमिकाओं से हट रहा है और जिम्मेदारियों का निर्वाह करने में चूक कर रहा है। उसकी इस प्रवृत्ति ने मीडिया और उसके सरोकारों पर सवालिया निशान लगा दिया है।

निर्मम चीर-फाड़ की जरूरत

मीडिया के चरित्र को लेकर शिकायतों का पुलिंदा बहुत भारी हो चुका है। जिधर जाइए, जिससे भी बात कीजिए, घूम-फिरकर मीडिया के किसी न किसी पक्ष को लेकर नकारात्मक आलोचना शुरू हो जाती है। अगर ये कहा जाए कि वह यत्र, तत्र, सर्वत्र होने वाली निरंतर आलोचनाओं के केंद्र में है तो गलत न होगा बल्कि शायद वह ऊपर के उन पांच क्षेत्रों में से होगा जिन्हें सबसे ज्यादा

निंदा-भर्त्सना झेलनी पड़ रही है। कभी खबरों को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करने के लिए, कभी तथ्यों को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने को लेकर, तो कभी पेड न्यूज, मुनाफाखोरी जैसे मुद्दों की वजह से उसे कठघरे में खड़ा कर दिया जाता है। सामाजिक जिम्मेदारियों और लोकतांत्रिक सरोकारों से जुड़े सवालों पर तो उसे लगभग अपराधी ही घोषित कर दिया गया है। स्पष्ट है कि ये मीडिया से बड़े मोहभंग की स्थिति है। इसीलिए ये भी देखा जाता है कि लोग उससे उम्मीदें करना भी बंद करने लगे हैं। यानी उनकी निगाह में मीडिया की स्थिति उस बिगड़े-बदचलन लड़के जैसी मान ली गई है, जिसमें सुधार की कोई गुंजाइश ही नहीं बची हो।

निश्चय ही ये बेहद दुखद स्थिति है, लेकिन वास्तविकता यही है और इससे मुंह नहीं चुराया जाना चाहिए, बल्कि निर्मम होकर इस स्थिति की चीर-फाड़ की जानी चाहिए। अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो किसी तरह के सुधार की जो थोड़ी-बहुत संभावना बची होगी, वह भी हाथ से निकल जाएगी। हमें मीडिया के सरोकार से जुड़ी चिंताओं पर गहराई से सोचना होगा और उन चुनौतियों को पहचानना होगा जिनसे निपटा जाना बेहद जरूरी है। लेकिन मूल विषय पर आने से पहले कुछ चीजें स्पष्ट करना जरूरी है। इससे उसे सही परिप्रेक्ष्य में समझने में मदद मिलेगी।

मीडिया के सरोकारों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

मीडिया में सरोकारों की वर्तमान स्थिति के कारणों की पड़ताल करने से पहले ये देखना जरूरी है कि अतीत में उनकी क्या स्थिति थी, क्योंकि तभी ये तय करना संभव होगा कि उनमें कमी आई है या नहीं और यदि वे बदले हैं तो किस तरह से।

वास्तव में मीडिया सरोकारों के संबंध में आई गिरावट की शिकायतें नई नहीं हैं। ये दस-बीस या चालीस-पचास साल पुरानी नहीं बल्कि तब से है जब इसने अपने पंख पसारने शुरू ही किए थे। सन् 1450 में गुटेनबर्ग द्वारा प्रिंटिंग प्रेस के आविष्कार ने मुद्रित समाचार-पत्रों का रास्ता खोला था। छिटपुट प्रयासों की असफलता के बाद सन् 1605 में जर्मनी में रिलेशन नामक अखबार के प्रकाशन के साथ मुद्रित समाचार-पत्रों का सिलसिला शुरू हुआ था। शुरुआती अखबारों की सामग्री सनसनी से भरी होती थी। खास तौर पर युद्ध से जुड़ी खबरों में। उनका जन सरोकारों से केवल इतना ही लेना-देना था कि कुछ जानकारियां वे पाठकों को उपलब्ध करवाते थे। बाद में जब उनकी मांग बढ़ी और प्रसार संख्या में भी बढ़ोतरी होने लगी तो व्यापारी वर्ग ने उन्हें अपने साधन के रूप में इस्तेमाल करना शुरू कर दिया। यानी वे उनके उत्पादों के प्रचार-प्रसार के जरिया बन गए। विज्ञापन से जुड़े लोग इसे भी जन सरोकारों से जुड़ा देखते हैं। उनके मुताबिक समाज को उनकी जरूरत की चीजों की जानकारी देना भी जन सरोकार का ही एक रूप है। लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं, क्योंकि ये जानकारियां अकसर असत्य और अतिशयोक्ति से भरी होती हैं।

बहरहाल, सन् 1780 में जेम्स अगस्त हिकी द्वारा शुरू किए गए भारत के पहले अखबार द बंगाल गजट की सामग्री पर भी गौर किया जाना चाहिए। इस मामले में हमें दो तरह की राय देखने को मिलती हैं। एक तो ये कि अखबार ब्रिटिश राज के विरोध में साहस के साथ लिखता था और दूसरी राय के मुताबिक वह दुर्भावना से ग्रस्त था, अधिकारियों एवं सैनिकों तक के स्कैंडल छापता रहता था और वारेन हेस्टिंग्स की पत्नी के खिलाफ ऊलजलूल लिखने की उसे धुन सवार रहती थी। यही वजह थी कि उसके संपादक-मालिक को दो बार सजा हुई। ऑनलाइन हिस्ट्री पत्रिका

newhistories.group.shef.ac.uk में छपी जोसिलीन वुडेंड द्वारा संपादित सुहासिनी गांगुली की टिप्पणी इसी ओर इशारा करती है कि वह कोई सरोकारी पत्रकारिता नहीं थी।

हमारे यहां एक धारणा ये भी है कि आजादी की लड़ाई के दौरान मीडिया पूरी तरह से सरोकारों में रचा-बसा था। उसे मिशनरी पत्रकारिता का नाम दिया जाता है और कहा जाता है कि वह तमाम जोखिम उठाते हुए जनता के साथ खड़ा होकर उनके अधिकारों की लड़ाई लड़ रहा था। ये भी एक तरह से सर्वमान्य धारणा है कि इस सरोकारी भावना का असर स्वतंत्रता पश्चात के कई वर्षों तक कायम रहा और फिर धीरे-धीरे उसमें घुन लगनी शुरू हो गई। लेकिन शायद आपको ये जानकर हैरानी होगी कि मीडिया में जिन खामियों को लेकर हम आज सिर धुनते रहते हैं, वे उस समय भी न केवल मौजूद थीं बल्कि उन पर गरमागरम बहस भी हुआ करती थी। उदाहरण के लिए 'चांद' और 'प्रताप' के बीच चलने वाली कटु प्रतिस्पर्धा में इसके दर्शन किए जा सकते हैं। बीस के दशक में जब 'चांद' ने महिला कंडोम पर एक लेख छपा तो प्रताप ने उस पर कारोबारी मकसद से अश्लील सामग्री छापने का आरोप लगाते हुए हल्ला बोल दिया। दोनों के बीच चले इस विवाद में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और जन सरोकार के मुद्दे भी उठे।

दरअसल, हमारी याददाश्त बहुत कमजोर है। हम बहुत जल्दी भूल जाते हैं, लेकिन सचाई यही है कि मीडिया का चाल-चरित्र हमेशा से संदिग्ध रहा है। सरोकारों के मामले में उसने ढोंग ज्यादा किया है। आपातकाल में मीडिया की भूमिका पर ये चर्चित वाक्य याद करें-उनसे झुकने को कहा गया तो वे रेंगने लगे (You were asked to bend, but you began to crawl)। खुद को चौथा खंभा मानने का दंभ भरने वाला मीडिया लोकतंत्र की हत्या के वक्त चुप हो गया, बल्कि एक बड़े हिस्से ने तो हत्यारों का साथ भी दिया। उदाहरण बहुत से दिए जा सकते हैं, मगर यहां उद्देश्य मीडिया को लांछित करना नहीं है, बल्कि ये बताना है कि वह जनता और लोकतंत्र की कसौटी पर पहले भी खरा नहीं उतरा है। अलबत्ता ये जरूर है कि सन् 1991 में जब भारतीय अर्थव्यवस्था के खिड़की-दरवाजे खोल दिए गए और भूमंडलीकरण तथा निजीकरण की आंधी ने सत्ता को जन सरोकारों से काटने का अभियान शुरू किया तो मीडिया उसके लिए बड़ा औजार बनकर आया। देशी-विदेशी कंपनियों ने भारतीय बाजारों के दोहन के लिए पहले पूरे शासक वर्ग की मानसिकता बदली और फिर वह उच्च एवं मध्यवर्ग के जहन पर छा गया। इसी ने मीडिया इंडस्ट्री में भी संरचना के स्तर पर बड़े बदलाव किए, जिसके नतीजे में जनसंचार क्रांति का विस्फोट तो हुआ और मीडिया का विराट विस्तार भी देखने को मिला मगर वह उन मूल्यों एवं लक्ष्यों से भी हट गया, जिनकी चर्चा आज हम यहां कर रहे हैं।

वैश्विक संदर्भ में मीडिया के सरोकारों की स्थिति

मीडिया की जो हालत हम हिंदुस्तान में देख रहे हैं, वही लगभग पूरे विश्व में है, बल्कि कई जगह तो और भी बदतर है। यानी ये एक विश्वव्यापी ट्रेंड है। इसीलिए सरोकारों और जिम्मेदारियों को लेकर वह हर जगह निशाने पर है। मीडिया का मक्का कहे जाने वाले देशों में तो मीडिया की दशा-दुर्दशा को लेकर चिंताएं कितनी घनीभूत हैं इसका एहसास ब्रिटेन के जस्टिस लेवसन की रिपोर्ट से किया जा सकता है। रूपर्ट मर्डोक की पत्रिका न्यूज ऑफ द वर्ल्ड के बहुचर्चित टैपिंग कांड की जांच करने के बाद जस्टिस लेवसन ने जो रिपोर्ट दी, उसमें कहा था-मीडिया जनहित से ज्यादा

सनसनी को महत्व दे रहा है। यही नहीं, अपने असावधान बर्ताव से उसने अँधेरगर्दी मचा दी है और उसे अनुशासित रखने के लिए कड़े नियमनों की जरूरत है। (द हिंदू, पृष्ठ संख्या-1, 30 नवंबर, 2012)।

अमेरिकी मीडिया में आई विसंगतियों की चर्चा तो पिछले तीन दशकों में इतनी ज्यादा हुई है कि वह पूरी तरह से नगनावस्था में हमारे सामने खड़ा है। अमेरिकी चिंतक एडवर्ड एस. हर्मन एवं नोम चोम्स्की ने अमेरिकी मीडिया को आधार बनाकर ही प्रोपेगंडा मॉडल की अवधारणा सामने रखी, जो कि विश्व स्तर पर चर्चित एवं मान्य हुई। मीडिया की राजनीतिक अर्थव्यवस्था (Political economy) का अध्ययन करते हुए उन्होंने बताया कि कैसे सरकार और कार्पोरेट के शिकजे में फंसकर वह सामाजिक-लोकतांत्रिक सरोकारों से दूर हो चुका है। उनके मुताबिक- बड़ी मीडिया कंपनियों को बहुत धनी लोग नियंत्रित करते हैं और वे विभिन्न तरह के मुनाफा देने वाले मार्केट से बंधे होते हैं। उनके बीच निकट के संबंध होते हैं और बड़े निगमों, बैंकों और सरकारों के साथ उनके साझा स्वार्थ होते हैं। (मैन्यूफैक्चरिंग कंसेंट, पेज 35, विंटेज बुक्स, लंदन)

इसी तरह जेम्स केरी ने अमेरिकी मीडिया में आए परिवर्तनों के बारे में लिखा है-इक्कीसवीं सदी की शुरुआत में ही अमेरिका में पत्रकारिता न्यूज कंपनियों के हाथों से छूटने लगीं और बहुराष्ट्रीय कंपनियों का हिस्सा बनने लगीं। अब मनोरंजन उद्योग और इंटरनेट व्यापार अमेरिकी पत्रकारिता को खरीद रहा है। मनोरंजन उद्योग और इंटरनेट कारोबारी आज वही कर रहे हैं जो 1930 में स्टील और रसायन उद्योग कर रहे थे। (द एलीमेंट्स ऑफ जर्नलिज्म, एटलांटिक बुक्स, लंदन, 2003)

हाल के दिनों में सोशल मीडिया की स्वतंत्रता की बात बहुत जोर-शोर से होती रही है। इसकी पहचान एक क्रांतिकारी माध्यम के रूप में करने की कोशिशें भी हुईं और अभी भी लोगों को इस तरह की भ्रांतियां हैं लेकिन रॉबर्ट मैकचेस्नी ने डिजिटल डिसकनेक्ट में बताया है कि किस तरह बड़े निगमों ने डिजिटल मीडिया को डेमोक्रेसी के खिलाफ खड़ा कर दिया है। यानी जिसे हम स्वतंत्रता का माध्यम मानकर चल रहे थे वास्तव में वह हमारी स्वतंत्रता को छीनने का काम कर रहा है। फेसबुक और गूगल के बीच चल रही व्यावसायिक लड़ाई अंततः उनके उपयोगकर्ताओं पर ही भारी पड़ने वाली है। नेट न्यूट्रिलिटी के बारे में यहां विचार किया जा सकता है।

पिछले दो-तीन साल के अंदर दुनिया के कई जाने-माने अखबारों में बड़े परिवर्तन हुए हैं। कुछ बंद हुए हैं तो कुछ ने अपनी संपादकीय नीतियों में इस तरह के फेरबदल किए हैं जिनसे ये पता चलता है कि खुद को बचाने या मुनाफे में बढ़ोतरी के लिए वे किस तरह के समझौते करने के लिए तैयार हो चुके हैं। इसमें पेड न्यूज को स्वीकृति प्रदान करना भी शामिल है। यहां देश के सर्वाधिक शक्तिशाली मीडिया समूह टाइम्स ऑफ इंडिया के प्रबंध निदेशक विनीत जैन के उस बयान का भी उल्लेख करना आवश्यक है जिसमें उन्होंने कहा था कि वे खबरों के नहीं विज्ञापन के कारोबार में हैं (द न्यू यार्कर, 8 अक्टूबर, 2012)। खबरों के बजाय विज्ञापनों को वरीयता या प्रमुखता देने की ये नीति बताती है कि मीडिया को किस रूप में ढाला जा रहा है या ढाल दिया गया है।

उपरोक्त परिप्रेक्ष्य में अब ये देखने की जरूरत है कि क्या सचमुच में मीडिया कभी भी उन सरोकारों से बंधा हुआ था, जिनकी हम चर्चा करते हैं या उससे अपेक्षा करते हैं? कहीं ये हमारा भ्रम तो नहीं है? कहीं हम इस मृगतृष्णा के शिकार तो नहीं हैं जो रेगिस्तान में पानी ढूंढती फिर रही है, जबकि वह कहीं है ही नहीं?

मीडिया के सरोकारों की स्थिति

मीडिया से दो तरह के सरोकारों की अपेक्षा रखी जाती है। अव्वल तो ये कि वह संविधान से मिली उन नागरिक आजादियों की रक्षा करने में भूमिका निभाए, जो कि लोकतंत्र के जिंदा रहने का पहला लक्षण मानी जाती है। संविधान में इसे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के तहत व्यक्त किया गया है। मीडिया इसी से शक्ति प्राप्त करता है और दावा करता है कि वह उसका रखवाला है। जब गाहे-बगाहे इसको लेकर जिहादी तेवरों के साथ विरोध का झंडा भी उठाता रहता है। लेकिन ये अकसर देखा गया है कि उसकी चिंता और सरोकार प्रभु वर्ग के अधिकारों की रक्षा तक ही सीमित रहते हैं। वह उन वर्गों और जातियों की स्वतंत्रता के हनन पर चुप रहता है, जो आर्थिक एवं सामाजिक रूप से कमजोर हैं, शक्तिहीन हैं। कम से कम वैसी तत्परता और प्रतिबद्धता तो नहीं दिखाता जैसी उच्च वर्गों के मामले में जाहिर होती है। 'भारत कृषि प्रधान देश होने के बावजूद खेती-किसानी से जुड़ी खबरें न के बराबर रहती हैं। किसानों की समस्याएं जब तक आंदोलन का रूप नहीं ले लेतीं, या वे हिंसक रूप में सामने नहीं आतीं, टीवी चैनल किनारा किए रहते हैं।' (टीआरपी, टीवी न्यूज और बाजार, पेज 105, 2015)

हाल के वर्षों में उपभोक्ता संस्कृति के विस्तार के साथ उसका रवैया संपन्न वर्ग के प्रति और भी झुक गया है। वह उसकी पैरवी में तैनात रहता है, जिसकी क्रय शक्ति अधिक है। यानी जिसके पास क्रय शक्ति नहीं है, वह उसकी चिंता की परिधि से भी बाहर है।

आपसी प्रतिस्पर्धा, मुनाफाखोरी और बाजार के प्रति वफादारी ने उसमें और भी ऐसे कई विकार पैदा किए हैं, जो बताते हैं कि मीडिया का जन सरोकारों से कोई लेना-देना नहीं है। मीडिया के नए एजेंडे ने सरोकारों को बाहर कर दिया है। वास्तव में मुख्यधारा का मीडिया बाजार प्रेरित पॉप संस्कृति से प्रेरित है, जिसका उद्देश्य अपने उपभोक्ताओं को उनके उपयोग की हल्की-फुल्की जानकारियां मनोरंजन की चाशनी में लपेटकर देना भर है। वह फास्ट फूड तैयार करता है, उसने खुद को उन नूडल्स में तब्दील कर लिया है, जो दो मिनट में तैयार हो जाते हैं और दस मिनट में खत्म। दिक्कत ये है कि उसके पैकेट में न तो ये लिखा होता है कि उसकी सामग्री किन तत्वों से बनी हुई है और न ही कोई चेतावनी का जिक्र किया जाता है।

लोग अकसर अपराध की खबरों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने से दुखी होते हैं। वे एक ही खबर को खींचने पर कुढ़ते हैं। बेमतलब के मुद्दों को हवा देने की गैर जिम्मेदारियों पर गुस्सा प्रकट करते हैं और वे एंकर-रिपोर्टर तो उसकी हिटलिस्ट में सबसे ऊपर होते हैं जिन्होंने चीखने-चिल्लाने, नाटक करने को अपनी विशेषता बना लिया है लेकिन वे ये नहीं समझ पाते कि ऐसा क्यों हो रहा है। या समझते भी हैं तो केवल ये कि सब कुछ टीआरपी के लिए किया जा रहा है। तो क्या टीआरपी या अखबारों के मामले में सर्कुलेशन ही मीडिया का मुख्य सरोकार बन गया है, इसलिए बाकी के सरोकार उसने रद्दी की टोकरी में डाल दिए हैं।

कुछेक पत्रकार मीडिया के बारे में इस तरह के निष्कर्षों से असहमति जताते हैं। वे अन्ना के जन लोकपाल आंदोलन और निर्भया की नृशंष हत्या के बाद हुए विरोध-प्रदर्शनों को दिए गए कवरेज का हवाला देते हुए कहते हैं कि मीडिया अपनी भूमिका से थोड़ा-बहुत विचलित भले ही हुआ हो मगर मोटे तौर पर वह अपनी भूमिका निभाने में पीछे नहीं रहा है लेकिन समय के साथ ये साबित हो गया है

कि ये बहुत ही कमजोर बचाव था। आलम ये है कि अब वे खुद बचाव की मुद्रा में हैं इसीलिए उनका आत्मनियमन का प्रयास भी पूरी तरह विफल रहा और हास-परिहास का विषय भी बन गया।

सरोकारों में आए परिवर्तनों के कारण

सवाल उठता है कि आखिर मीडिया के सरोकारों में परिवर्तन क्यों आया है। क्यों वह उन जिम्मेदारियों से हट गया है जिनकी उससे अपेक्षा की जाती है और क्यों वह लोकतंत्र में अपनी भूमिका के निर्वहन में चूक रहा है।

यहां थियोडोर अडोर्नो को याद किया जा सकता है। अडोर्नो के मुताबिक हर व्यवस्था अपनी जरूरतों के मुताबिक एक कल्चरल इंडस्ट्री (सांस्कृतिक उद्योग) का निर्माण करती है। इस सांस्कृतिक उद्योग का मकसद प्रभु वर्ग के हित में समाज की मनोदशा इस तरह निर्मित करना होता है, ताकि वह उसे अपनी इच्छा के अनुरूप चला जा सके। इस सांस्कृतिक उद्योग के तहत विचार, कला, साहित्य और दूसरे ज्ञान के क्षेत्र तो आते ही हैं, मीडिया भी आता है। यानी मीडिया शासक वर्ग के औजार की तरह काम करता है।

वर्तमान मीडिया भी भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारवाद के प्रभाव में रची गई विश्व अर्थव्यवस्था के सांस्कृतिक उद्योग की निर्मिति है। इसका मतलब है कि उसके एजेंडे में उन आर्थिक नीतियों के लिए स्थितियों को अनुकूल बनाना है जो बड़े औद्योगिक घरानों के स्वार्थों को आगे बढ़ाती हैं, उनके हितों की रक्षा करती हैं। संचार विज्ञानी मैक्वेल के अनुसार-जैसे-जैसे मीडिया बड़े कारोबार में बदलता चला गया मार्केट शब्द का महत्व भी बढ़ता चला गया। मार्केट ने मास (जन) की जगह ले ली (सेलिंग ऑडिअंस- द रोल ऑफ मीडिया न क्रिएटिंग कंज्यूमर कल्चर, पेज-399, 2005)। इसका मतलब यही निकला कि मीडिया मास के बजाय मार्केट की सेवा में तैनात हो गया है।

इन्हीं नीतियों का असर है कि दुनिया भर में मीडिया पर बड़ी पूंजी का कब्जा हो गया है। ये प्रक्रिया पिछले तीन दशकों से निरंतर जारी है। भारत में इसकी शुरुआत अभी हुई ही है। मुकेश अंबानी की कंपनी रिलायंस के द्वारा 'नेटवर्क 18' को खरीदना इसी की कड़ी थी। खबर तो ये भी है कि 'एनडीटीवी' भी उसकी झोली में चला गया है। इसके अलावा मुकेश अंबानी ने कन्वर्जेंस की संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए हर माध्यम में अपनी घुसपैठ बना ली है। दूसरसंचार के क्षेत्र में बड़ी ताकत होने की वजह से उन्हें अतिरिक्त लाभ मिलेगा। इसीलिए वह डिजिटल, रेडियो, प्रिंट, टीवी, मोबाइल आदि क्षेत्रों में अपना वर्चस्व कायम करने में लगे हुए हैं।

अमेरिका में ये ट्रेंड अस्सी के दशक में शुरू हो गया था। सन् 1983 में वहां 253 मीडिया कंपनियां मीडिया के कारोबार में थीं, लेकिन सन् 2012 के आते-आते तक केवल 50 बचीं (विकीपीडिया)। विलय और अधिग्रहण की आंधी के बीच सन् 2015 में क्या स्थिति हो गई होगी सोचा जा सकता है।

बड़ी पूंजी का ये वर्चस्व लोकतंत्र विरोधी है। लोकतंत्र की शक्ति विविधता और बहुलता में निहित होती है। यानी जितने ही भिन्न प्रकार के विचारों को समाज में जगह मिलेगी, वहां वैचारिक उदारता, समानता, स्वतंत्रता और सामाजिक समरसता की गुंजाइश बढ़ेगी। इस विविधता और बहुलता को खत्म करके एक तरह के विचारों को बढ़ावा देने के पीछे पूंजीपति वर्ग का यही उद्देश्य है कि केवल वही विचार लोगों के दिमाग में काबिज रहे जिसे वे परोसें और जाहिर है वह उनके

स्वार्थों की पूर्ति करने वाला ही होगा। रॉबर्ट मैकचेस्नी की बहुचर्चित किताब रिच मीडिया, पुअर डेमोक्रेसी इसका बहुत ही विश्वसनीय तरीके से खुलासा करती है।

मीडिया के स्वामित्व का सवाल

विश्व अर्थव्यवस्था में आए परिवर्तनों ने दुनिया के व्यापारिक-औद्योगिक ढांचे में बुनियादी प्रभाव डाले हैं। मीडिया उद्योग में भी हम इसके असर को देख सकते हैं। खास तौर पर स्वामित्व का रूप-रंग बदला है। मीडिया उद्योग का बड़ी तेजी से निगमीकरण हुआ है, जिसके फलस्वरूप पूंजी का नियंत्रण बढ़ा है यानी पूंजी लगाने वालों का नियंत्रण मजबूत हुआ है। इसका पहला प्रभाव तो ये हुआ है कि पूंजीनिवेशकों के सरोकार जन सरोकारों पर हावी हो गए हैं। इस परिवर्तन ने मीडिया की आंतरिक व्यवस्था को पूरी तरह से बदल डाला है। प्रबंधन और संपादकीय विभाग के बीच जो झीना सा परदा हुआ करता था वह हट गया है। संपादकीय सामग्री का निर्माण करने वाले लोगों यानी मीडिया कर्मियों की स्वतंत्रता चली गई है। संपादक नामक संस्था बेहद कमजोर हो चुकी है। अब संपादक की भूमिका प्रबंधक की ज्यादा हो गई है। विपणन विभाग के सामने उसकी नहीं चलती, बल्कि उसे विपणन की जरूरत के हिसाब से कंटेंट के निर्माण के लिए कहा जाता है। नई व्यवस्था में जन सरोकारों के प्रति वैसी संवदेनशीलता एवं गंभीरता के लिए गुंजाइश न के बराबर रह गई है क्योंकि स्वामित्व की उनमें दिलचस्पी नहीं है, वह तो बही-खाते देखता है, लाभ-हानि को ध्यान में रखता है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि अब मीडिया के सरोकार बदल गए हैं। वह जनता के बजाय स्वामित्व के सरोकारों से बंध गया है। आज जन सरोकारों के मामले में मीडिया की स्थिति पर चिंता जाहिर की जाती है, दरअसल, वह इसी वजह से है।

हालांकि मीडिया पर नियंत्रण पहले भी मालिकों का ही होता था, वे ही मोटे तौर पर तय करते थे कि अखबार की दशा-दिशा क्या होगी लेकिन बड़ी पूंजी के खेल ने इस स्थिति को एक झटके ने बदल डाला। अस्सी के दशक के पूर्वार्द्ध तक संपादक की सत्ता काफी हद तक बनी रही इस वजह से मीडिया उतना बदनाम नहीं हुआ लेकिन सन 1991 के आते-आते तक निजीकरण का दौर शुरू हो गया और पूंजीपतियों ने संपादकीय विभाग की बागडोर भी पूरी तरह से अपने हाथों में लेनी शुरू कर दी। इस बीच आर्थिक उदारवाद ने भी उन्हें प्रोत्साहित किया। बाजार के साथ बन रहे नए संबंधों में उन्हें ज्यादा फायदे दिखने लगे और वे उस दिशा में आगे बढ़ गए।

मीडिया में अगंभीर किस्म के लोगों द्वारा पूंजी निवेश करने से भी सरोकारों पर चोट पहुंची। बिल्डर, चिट फंड कंपनियों, अपराधियों और राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मीडिया में आने वाले लोगों की बाढ़ आ गई। इन सभी का एजेंडा अपने स्वार्थों को बढ़ावा देना या अपने अवैध कारोबार को संरक्षण प्रदान करना था। जाहिर है इसने मीडिया से की जाने वाली अपेक्षाओं की परवाह नहीं की, बल्कि उन्हें ठेंगा दिखाते हुए मीडिया उत्पादों का संचालन किया।

मीडिया के इस बदले हुए माहौल का असर मीडियाकर्मियों पर भी पड़ा। वे मालिकों के स्वार्थों के लिए काम करने के लिए मजबूर हो गए। उन्होंने बड़े-बड़े समझौते किए और बहुत से पत्रकार तो कारपोरेट दलाली तक में संलग्न पाए गए।

इसके बरक्स पब्लिक ब्राडकास्टिंग को रखकर भी देखा जाना चाहिए कि वह सरोकारों की

कसौटी पर कितनी खरी उतरती है। सन् 1997 में प्रसार भारती के गठन के बाद उम्मीद की गई थी कि सरकारी स्वामित्व से मुक्त होने के बाद वह जन सरोकारों के प्रति ज्यादा निष्ठा और तत्परता से प्रतिबद्ध हो जाएगी। लेकिन लगभग दो दशक बाद हम बेहिचक ये निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उसके चरित्र में रत्ती भर भी बदलाव नहीं हुआ है। अभी भी वह सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय से नियंत्रित होता है और सरकार के एजेंडे पर ही काम करता है। इसीलिए सरकार नियंत्रित जन माध्यमों की विश्वसनीयता बहुत कम, न के बराबर है।

मार्शल मैकलुहान ने कहा था- मीडियम इज द मैसेज यानी माध्यम ही संदेश है। इसे बड़े पैमाने पर स्वीकृति मिली लेकिन इस पर सवाल भी उठाए गए। कहा गया कि इसमें ज्यादा जोर टेक्नालॉजी पर दिया गया है, जो कि उचित नहीं है लेकिन मैं आपको मीडिया को समझने का एक दूसरा सूत्र देता हूँ और मुझे उम्मीद है कि वह ज्यादा स्वीकार्य होगा। ये सूत्र है ओनरशिप इज द मैसेज यानी स्वामित्व ही संदेश है। इसका सीधा सा मतलब है कि स्वामित्व का जैसा स्वरूप होगा वैसा मीडिया भी होगा। अगर स्वामित्व स्वतंत्र, निष्पक्ष है और वह समाज के नियंत्रण में है तो वह सामाजिक सरोकारों के प्रति ज्यादा प्रतिबद्ध होगा। अगर स्थिति इसके विपरीत हुई, जैसी कि आज है तो हमें वही मिलेगा जो आज मिल रहा है। स्वामित्व ही नियंता है सरोकारों का।

मीडिया के जन सरोकार और संभावनाएं

मीडिया के स्वामित्व में ऐसे बदलाव की संभावनाएं बहुत कम हैं, जो उसे जन सरोकारों से जोड़े। वर्तमान ट्रेंड यही संकेत देती हैं कि स्वामित्व का शिकंजा मीडिया पर कसता जाएगा और वह उसके स्वार्थों की पूर्ति में ही काम करने के लिए विवश रहेगा। प्रायवेट और पब्लिक दोनों तरह के मीडिया के अधिकाधिक बाजारोन्मुख होते जाने की आशंकाएं ही अधिक हैं, जिसका मतलब है जन सरोकारों की अनदेखी।

ऐसा नहीं है कि परिवर्तन असंभव हैं। भारतीय दूरसंचार नियामक प्राधिकरण यानी ट्राई ने ऐसी बहुत सी सिफारिशें सरकार को की हैं जिनसे संपादकीय विभाग की स्वतंत्रता एवं सत्ता बहाल हो सकती है और स्वामित्व की दखलंदाजी कम की जा सकती है। इसके अलावा मीडिया में बढ़ते एकाधिकारवाद को नियंत्रित करने की सिफारिशें भी उसने सरकार से की है। अगर सरकार चाहे तो उन पर अमल करके मीडिया को सशक्त बना सकती है, जिससे जन सरोकारों को तो बल मिलेगा ही, लोकतंत्र भी मजबूत होगा।

मीडिया के लिए एक स्वतंत्र नियामक बोर्ड बनाकर भी जन सरोकारों की रक्षा की दिशा में महत्वपूर्ण काम किया जा सकता है। मीडिया परिषद बनाने की मांग भी अरसे की जा रही है, मगर अभी तक कुछ किया नहीं गया। इसी तरह कटेंट कोड आदि के मसले भी ठंडे बस्ते में डाल दिए गए हैं। जब तक इन सभी मसलों पर निर्णय लेकर ठोस कार्रवाई नहीं होगी तब तक मीडिया के सरोकार अपने मालिकों और बाजार की सेवा से ही जुड़े रहेंगे।

अंत में हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं-

1. मीडिया में जन सरोकारों को लेकर पहले भी अंतर्द्वंद्व रहे हैं। ऐसा नहीं था कि पूर्व में मीडिया जन सरोकारों से बंधा हुआ था। उसमें पतन के वे बीज या लक्षण देखे जा सकते हैं जो हमें बड़े पैमाने पर दिखलाई देते हैं।

2. मीडिया में जन सरोकारों से बढ़ती दूरी केवल भारत में ही नहीं बढ़ी है, बल्कि ये एक विश्वव्यापी परिघटना है। विभिन्न शोधकर्ताओं ने तो इसे रेखांकित किया ही है, साथ ही मौजूदा प्रवृत्तियों के आधार पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं।

3. विश्व स्तर पर आने वाले इन बदलावों की वजह भूमंडलीकरण, उदारवाद एवं बढ़ता निजीकरण है। मीडिया बाजारोन्मुख हुआ है। उसके स्वामित्व के ढांचे में बड़े परिवर्तन आए हैं। ये तमाम परिवर्तन नई व्यवस्था की मांग के हिसाब से हैं, क्योंकि उसे अपने अनुकूल वातावरण तैयार करने के लिए मीडिया का इस्तेमाल करना था।

4. स्वामित्व मीडिया के संपादकीय पक्ष पर हावी हो गया है। अपने विभिन्न प्रकार के लाभों के लिए उसने कंटेंट को बिकारू बना दिया है जिससे अन्य बीमारियां तो पैदा हुई ही हैं, साथ ही, जन सरोकारों से भी वह हट गया है।

5. उद्योग जगत एवं मीडिया के स्वामित्व के स्वरूप में आए परिवर्तनों से मीडिया में जो बदलाव आए हैं वे लोकतंत्र के लिए भी घातक हैं, क्योंकि वे विविधता तथा बहुलता का सम्मान नहीं करते।

6. स्वामित्व के नए रंग-ढंग ने पत्रकारिता को बुरी तरह दुष्प्रभावित किया है। उसमें स्वतंत्रता, निष्पक्षता और संतुलन की मात्रा लगातार कम हुई है और उसे ऐसी दिशाओं में धकेल दिया गया है जो समाज विरोधी कही जा सकती है।

7. वर्तमान परिस्थितियों में मीडिया का जन सरोकारों पर ध्यान देना असंभव है। आशंका यही है कि इस मामले में हालत आने वाले समय में और खराब होगी, क्योंकि नकारात्मक प्रवृत्तियों के पूर्ण नियंत्रण का स्पष्ट खतरा है।

8. यदि कुछेक उपाय किए जाएं तो शायद स्थिति को बदतर होने से रोका जा सकता है। मसलन, ट्राई द्वारा दी गई सिफारिशों पर अमल करके सरकार संपादकीय विभाग की सत्ता को एक हद तक बहाल कर सकती है। इसी तरह कंटेंट कोड का निर्माण, स्वतंत्र एवं निष्पक्ष नियामक की स्थापना भी इस उद्देश्य की प्राप्ति में महती भूमिका निभा सकती है।



जनमत-निर्माण में बहुलता एक भ्रम है

प्रांजल धर

आज जब मीडिया के विस्तार और बहुलता पर ढेर सारी चर्चाएं लगातार हो रही हैं, तब यह सवाल बहुत ही प्रासंगिक है कि मीडिया की जनमत निर्माण में क्या, कितनी और कैसी भूमिका है? जनमत पर शास्त्रीय तरीके से विश्वविख्यात काम करने वाले विद्वान वाल्टर लिपमैन ने अपनी कृति 'पब्लिक ओपिनियन' में कभी ठीक ही लिखा था कि जनता नाक से सोचती है। उनकी यह बात आज कई दशकों बाद पहले से भी ज्यादा उचित प्रतीत होती है क्योंकि आज हम समाचार माध्यमों द्वारा जो भी देखते, सुनते और पढ़ते हैं उसे 'कम्युनिकेशन' की बजाए 'मीडिएटेड कम्युनिकेशन' कहना अधिक तार्किक जान पड़ता है। मीडिएटेड का मतलब यह है कि स्रोत यानी संचारक और श्रोता यानी रिसीवर के बीच कुछ है। यह कुछ असल में मीडिया का अपना एजेंडा है क्योंकि कोई भी मीडिया निर्वात में काम नहीं करता। इसके बिल्कुल ताजा उदाहरण के रूप में दिल्ली विधान सभा के चुनावों को लिया जा सकता है, जहां समाचार माध्यम कुछ और कह रहे थे और जनमत किसी और ही दिशा में जा रहा था। यह तब हो रहा है जब आज पहले से कई गुना ज्यादा रेडियो चैनल काम कर रहे हैं, पहले से न जाने कितने अधिक अखबार प्रकाशित हो रहे हैं और टेलीविजन चैनलों ने चौबीसों घंटे चलने वाली खबरों को प्रसारित करने में महारत हासिल कर ली है।

सबसे बुनियादी चिंता तो यह है कि मीडिया का यह बहुत विशाल फलक किस तरीके के मुद्दों को तूल देता है? ऐसे कौन से मसले हैं जो जनमत को निर्मित करते हैं या कहना चाहिए कि विकृत करते हैं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि यह पूरा मीडिया-तन्त्र कुछ अधिक वास्तविक मुद्दों से जनता का ध्यान हटाकर कुछ अधिक लोकप्रिय किंतु महत्वहीन मुद्दों की तरफ ले जाता है? अभी जब जम्मू-कश्मीर में बाढ़ आई थी, तब तमाम चैनलों ने उसकी तस्वीरें दिखाईं। तस्वीरें देख-देखकर वहां की तबाही का अन्दाजा जनता की निगाह में और भी ज्यादा गहराया। उधर किसी दूसरे चैनल पर बहस चल रही है कि बिकिनी बड़ी या परमाणु बम? ऐसा इसलिए क्योंकि हाल ही में गोवा के एक विधायक ने टिप्पणी की थी कि बिकिनी इस देश को महाशक्ति बनने से रोक रही है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो परमाणु बम तो हमें शक्तिशाली बनाना चाहता है, लेकिन यह बिकिनी ही है जो हमें आगे बढ़ने से रोक लिया करती है। इधर एक तीसरा चैनल बताते नहीं थक रहा है कि अपने इस जन्मदिन पर अमुक अभिनेत्री ने अपनी कमर इक इंच कम कर ही ली और अब वे अधिक लचकदार दिखती हैं। क्या कहा जाए, यही आज के टीवी समाचार चैनलों की 'वैचारिकी' है। इसी

बीच तरह-तरह के उत्पादों के विज्ञापन आते रहते हैं, छोटे-से कॉमर्शियल ब्रेक की गोद में बैठकर। ये ब्रेक और वैचारिकी मिलकर दावा करते हैं कि हम नॉलेज सोसायटी बना रहे हैं। इस पूरी प्रक्रिया में न सिर्फ जनमत को बेहद बारीकी से बरगलाया जाता है, बल्कि नॉलेज जैसे शब्दों की परिभाषा भी बदलने की पुरजोर कोशिश की जाती है।

नॉलेज सोसायटी यानी ज्ञान समाज की दिशा में आगे बढ़ रही हमारी सभ्यता में सबसे बड़ा सवाल तो यही है कि संचार माध्यमों के मुताबिक यह नॉलेज है क्या? इसकी परिभाषा क्या है? असल में यह बहुत बड़ी वैचारिक घपलेबाजी है कि तमाम संचार माध्यमों से मिल रही तमाम ऊलजलूल सूचनाओं को ही हम ज्ञान समझने की भूल करते जा रहे हैं। हमें बताया जाता है कि एक साइकिल दुर्घटना और एक सभ्यता के ध्वंस में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है। इस ज्ञान के लिए शिक्षण भी विचित्र किस्म का होता चला गया है। फ्रेयरे के शब्दों को उधार लें तो कहना चाहिए कि यह किसी बैंकिंग कॉन्सेप्ट की तरह का हो गया है जहां आप अपना पैसा कुछ दिनों के लिए जमा करते हैं और फिर निकाल लाते हैं। मीडिया ही इसे जमा करवाता है और समय आने पर वही इसे निकलवाता भी है और आज का मीडिया प्रायोजित ज्ञान भी यही है। निष्क्रिय उपभोक्ताओं यानी पाठकों, दर्शकों और श्रोताओं के मन और मस्तिष्क में सूचनाओं की धुंआधार बौछार की जा रही है। यह बौछार किसी को सूचित तो कर सकती है, ज्ञानी नहीं बना सकती। और सूचित भी कुछ इस तरीके से किया जाता है कि दर्शक अतिसूचित होकर असूचित रह जाने को अभिशप्त हो जाता है। कुछ इसी तरह 'जनमत' निर्मित किया जाता है। दर्शक उन्हीं चीजों को बार-बार देख, सुन और पढ़ रहा है और फिर उन्हीं चीजों को बगैर समझे बक रहा है। असल में वह वक्ता न होकर 'बकता' है। वह बकता इसलिए है क्योंकि बैंकिंग कॉन्सेप्ट में डिपॉजिट करते समय यह उम्मीद होती है कि विदड़ाल करते समय उपभोक्ता भी इन्हीं संचार माध्यमों की भाषा में बोलें, उन्हीं को दुहराएं, अपनी पसंद को जाहिर करने के लिए मीडिया तक अपने विचार यानी तथाकथित फीडबैक पहुंचाएं।

असल में समाचार माध्यमों की बहुलता हमारे समाज का सबसे बड़ा भ्रम है। पेरिस की पत्रिका शार्ली एब्दो पर किया गया खतरनाक आतंकी हमला इस बहुलता की हवा निकाल देता है। कहा जाता है कि बहुविध और सर्वसमावेशी जनमत निर्माण के लिए यह जरूरी है कि जनता शिक्षित हो और जनसंचार के साधन कुछ ही हाथों में सिमटकर न रह जाएं। वास्तव में, बहुलता के विपरीत तथ्य तो यह है कि मीडिया में स्वामित्व कुछ ही हाथों में सिमटता चला गया है और स्वामित्व में ऐसा एकाधिकारमूलक संकेंद्रण भारत ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व के स्तर पर हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जनमत निर्माण की प्रक्रिया को पूरी दुनिया में दीमक लग गया है। पब्लिक स्फीयर यानी लोक क्षेत्र सिकुड़ता चला गया है, संवाद की बहुदैशिकता घटी है और उन्हीं लोगों के स्वर मीडिया में अधिक ऊंचे सुनाई देते हैं जो संगठित हितों के साथ सौदेबाजी करते हुए चलते हैं। यहां हमें इस बात की व्याख्या मिलती है कि हमारे मीडिया और उसके द्वारा संपादित किए जा रहे जनमत में गांवों की गरीब जनता का मत क्यों नहीं शामिल है? असल में ये तमाम संचार माध्यम एक विस्तृत और विविध संसार को एकरूपता की अधिकतम संभव सीमा तक ले जाने को प्रतिबद्ध दिखते हैं। यह एक खास तरीके की संस्कृति, एक खास भाषा, एक नीली जींस और एक खास जीवनशैली को स्थापित और फिर उसे श्रेष्ठ साबित करने का उपकरण है।

असल में जनमत-निर्माण के लिए प्रयोग किया जाने वाला यह उपकरण आज्ञापालन सिखाता है, तोतारटंत की तरह विचार और संवेदना की धार को कुंद करता है और निष्क्रिय प्रातिनिधिक लोकतंत्र में लोगों को औद्योगिक सभ्यता और न्यूनतम नागरिकता के लिए तैयार करता है। हालांकि कहा यह जाता है कि नई भूमंडलीय अर्थव्यवस्था, संस्कृति और पॉलिटी की बुनियादी दरकार यह है कि लोग पहले से कहीं अधिक संसूचित हों, वे अधिकाधिक सहभागिता करने के प्रयास करें और सक्रिय नागरिकता का पूर्ण परिचय देने के काबिल हों। पर मीडिया यह भी तय कर देता है कि अधिकाधिक सहभागिता क्या है और कैसे करनी है। मसलन, एकध्रुवीय विश्व के महानायक ने पश्चिमी एशियाई देश पर आक्रमण किया हो और आपको अपने मोबाइल से चौबीसों घण्टे वाले खबरिया टीवी चैनलों के मुताबिक अपना वोट डालना है मोबाइल से। हो गई आपकी सहभागिता। आपको ऐसी सहभागिता करने की जहमत नहीं उठानी है जहां किसी गरीब की झोपड़ी को जलने से रोकने की कोशिशें करनी पड़ें। वह जल रही है तो जल जाने दें क्योंकि वहां झोपड़ी नहीं रहेगी तो कुछ दिनों बाद मॉल-मल्टीप्लेक्स या फिर फ्लार्डओवर होगा। दर्शकों को युद्ध के फुटेज किसी वीडियो गेम की तरह दिखाए जाते हैं, और प्रसारण के समय का चुनाव ऐसा किया जाता है जब अमेरिकी लोग सुबह-सुबह उठकर नाश्ते की टेबल पर हों। यहां आकर मीडिया जनमत की मैनुफैक्चरिंग के जरिए सांस्कृतिक वर्चस्व का एक ऐसा आधार तैयार कर रहा होता है जो नए या असहमतिमूलक विचारों और नवाचारी प्रवृत्तियों के लिए बेहद खतरनाक होता है।

तथाकथित वैश्विक गांव के इसी 'ग्लोबल' प्रभाव ने पत्रकारिता यानी जर्नलिज्म के स्थान पर 'मीडिया' शब्द को स्थापित किया और जनमत के संदर्भ में आज जो भी संचार है वह मीडिएटेड है। उसमें पत्रकारिता जैसी मिशन की कोई भावना नहीं है। इसके उलट एक तरीके का 'डेफिनेशनल कंट्रोल' काम कर रहा है जो वर्चस्वशाली संस्कृति को 'एपीसोडिक जर्नलिज्म' के लबादे में लपेटकर पेश कर रहा है। यहां मामला न्यायालय में जाने से पहले ही ट्रायल शुरू करके 'दूध का दूध और पानी का पानी' अलग कर दिया जाता है। इसका लक्ष्य नव-उदारवादी अर्थशास्त्रीय लकीरों पर चलते हुए अधिकाधिक मुनाफा कमाना है। ब्राण्डिंग के तरीकों का इस्तेमाल करते हुए। तभी बेहद सुरीले म्यूजिक के साथ चैनल बताते हैं कि अब जेम्स बाण्ड आपके शहर में भी आ चुका है। दर्शक खुश होते हैं कि चलो जेम्स बाण्ड हमारे देश में पधारे तो! अल्लाह तेरा लाख-लाख शुक्र है, हमें भी वैश्विक होने का मौका मिला, नहीं तो स्थानीय स्तर पर ही रहते हुए सारी जिंदगी बीत जाती और खत्म भी हो जाते!! पर ध्यान रखना चाहिए कि जेम्स बाण्ड का यह आना उस तरीके का आना नहीं है जिस तरह का मीडिया बता रहा है। बल्कि यह उस तरह का आना है जिस तरह बहुत पुराने जमाने में भी व्यापारी एक देश से दूसरे देश को जाया करते थे, महज व्यापार करने के लिए। यह तो उस तरह का आना है जिस तरह सात समुंदर पार धर्म-प्रचारक और पादरी जाया करते थे, महज अपने धर्म और उसके पाठ के वर्चस्व को कायम करने के लिए। तो जेम्स बांड के आने से आप न सिर्फ लुटने के लिए तैयार हो जाते हैं, बल्कि मीडिया के जरिए आप लुटते हुए आनंद भी पाते हैं। किसी भी स्वस्थ विश्लेषण के दौरान यह सोचने पर विवश होना पड़ता है कि जनमत-निर्माण में बहुलता सिर्फ कोरा भ्रम तो नहीं!

जनमत के निर्माण में मीडिया की भूमिका की बात करते हुए हमें 'वी फीलिंग' पर भी अवश्य

ध्यान देना चाहिए। हमें बताया जाता है कि हम 'हम' हैं। दर्शकों के सामने 'हमारा सेंसेक्स', 'हमारी अर्थव्यवस्था' या 'हमारा परमाणु कार्यक्रम' जैसे जुमले उछाले जाते हैं। इन जुमलों को वैधता का जामा पहनाने के लिए जननेताओं, अर्थशास्त्रियों और पत्रकारों से वार्ताओं और चर्चाओं के कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं, जनता का मत रूपायित करने वाला वाक्सपॉप दिखाया-सुनाया जाता है। पूछा जा सकता है कि इस 'हम' में क्या हमारे देश की वह हाशिए की जनता शामिल है जिसकी तुष्टि करने के लिए मीडिया उसे किसान की बजाय 'अन्नदाता' कहना पसंद करती है? बजट में गरीबों पर सबसे कम ध्यान दिया जाता है और उसे मीडिया कहता है 'हमारा बजट'। आखिर यह कैसा 'हमारा' बजट है, जिसमें किसानों को दी जाने वाली सब्सिडी लगातार घटाने के प्रयास जारी हैं! इसीलिए जनमत के निर्माण और 'मैन्युफैक्चर्ड कंसेंट' की लकीरों पर रेंगते हुए मीडिया की भाषा और उसके वर्चस्व का सवाल थोड़ा टेढ़ा है। इस कवायद के निष्कर्ष के रूप में यह बात तथ्य की तरह पेश की जाती है कि अंग्रेजी चूंकि एक 'वैश्विक' भाषा है, इसलिए आपको यह सीखनी ही पड़ेगी। अगर फरटिदार अंग्रेजी नहीं बोल सकते, तो लड़खड़ाती हिंदी बोलिए। लोगों को लगेगा कि आपको हिंदी कम आती है क्योंकि यह तो एक 'लोकल लैंग्वेज' है। अंग्रेजी आपको बाकी दुनिया से 'कनेक्टेड' रखेगी। चलिए, अगर आपको इस भाषा को लेकर कोई दिक्कत पेश आ रही है तो घबराइए बिल्कुल मत! बस गूगल पर जाइए, वह भाषा का सबसे बड़ा और अंतिम प्रामाणिक पुस्तकालय है, वहां से अनुवाद कर लीजिए।

यह अनुवाद की ही देन है कि तमाम पश्चिमी मूल्य अनूदित होकर हिंदी साहित्य और हमारे देश के मीडिया में 'जनता की मांग' के ठप्पे के साथ प्रविष्ट हो रहे हैं। यह अकारण नहीं है कि बड़े-बड़े समाचार घरानों के नौसिखिए पत्रकारों ने 'गांधीजी दूरदर्शी थे' का अनुवाद 'गांधीजी वॉज टेलिस्कोप' किया है। दो देशों के बीच 'कॉन्फिडेंस बिल्डिंग' को 'विश्वास भवन' लिखा गया है। वैचारिकी के क्षरण पर इससे ज्यादा क्या कहा जाए कि संघ लोक सेवा आयोग तक ने 'टेबलेट कंप्यूटर' का अनुवाद 'गोली कंप्यूटर' किया है। वैसे आयोग नव-दक्षिणपंथ के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले 'न्यू राइट' को 'नया अधिकार' तक छाप चुका है अपने प्रश्नपत्रों में! यह दशा तो लोकतंत्र की पूजनीय संस्थाओं की है, तो फिर कॉर्पोरेट के चंगुल में फंसे मीडिया के बारे में भला क्या कहा जाए? मीडिया का निहित एजेण्डा यह साबित करना होता है कि जो चीज अंग्रेजी के एक शब्द में बयां की जा सकती है, उसे अन्य भाषाओं के हजारों शब्द मिलकर भी व्यक्त नहीं कर सकते। यह शब्दों का ही हेरफेर है कि इजराइल-फिलिस्तीन की लड़ाइयों के दौरान हमें यह वैश्विक मीडिया बताता है कि फिलिस्तीनी लोग 'एरिया' में रहते हैं, जबकि इजराइली लोग 'कम्युनिटीज' में। एरिया बिखराव का और कम्युनिटी सामाजिक सूत्रों के जरिए एकजुट रहने का नाम है। इसलिए यह बात समझ में आसानी से आनी चाहिए कि अमरीकी राजनीति में इजराइली लॉबी इतनी मजबूत क्यों है। मीडिया ही उसे मजबूत दिखाता है, दिखाते-दिखाते मजबूत बनाता है।

जनमत को मनचाही दिशा में ले जाने के लिए आज किन विजुअलों को प्रसारण के लिए चयनित करना है, उनका प्रसारण कब और किस रूप में करना है, इसका निर्धारण किसी संपादकीय नीति की बजाय प्रबन्धकीय जरूरतों के मुताबिक किया जाता है। कई बार तो संपादक की जगह मैनेजर शब्द भी देखा जा सकता है। इसीलिए कहा भी जाता है कि मीडिया माध्यम है, पर प्रश्न

उठता है कि किस चीज का माध्यम है? खबरों का, विमर्शों का या ऐसे विज्ञापनों का जो हमें तब तक हीन बताते रहते हैं जब तक हम विज्ञापन में बताई गई वस्तु खरीद न लें। आज मीडिया का जोर इस बात पर है कि पाठकों, श्रोताओं और दर्शकों को उपभोक्ताओं की तरह देखा जाए ताकि उपभोक्ता संस्कृति के पनपने के लिए खाद-पानी तैयार किया जा सके। रिचर्ड और जायस वाल्कोमोर ने ठीक ही लिखा है कि 'आप हैं वह, जो आप खरीदते हैं।' जिस प्रकार पहले का विश्व इतिहास महज यूरोप का ही इतिहास था, उसी प्रकार आज का वैश्विक मीडिया सिर्फ एंग्लो-सैक्शन मीडिया है। यह मीडिया जनता की मनोवृत्तियों और सामासिक संस्कृति पर गहरा और मर्मवेधी असर छोड़ता है। यह एक तरफ तो 'मास कल्चर' और 'पॉपुलर कल्चर' में घालमेल करता है, वहीं दूसरी तरफ सरकारों की 'पॉपुलिस्ट' नीतियों और 'पॉपुलरिस्ट' नीतियों में अर्थों का घालमेल करके जनमत का सत्यानाश करता है।

यह कम दुर्भाग्यपूर्ण नहीं है कि खबरों तक को प्रोडक्ट माना जाने लगा है। 'न्यूज इंडस्ट्री' जैसे शब्दों के चलन को देखते हुए इससे कुछ-कुछ 'फिल्म इंडस्ट्री' वाले गंध की भनक मिलती है, जहां सब कुछ काल्पनिक होता है, सब कुछ गल्प होता है। इसके विपरीत खबर तो सच्चाई से जुड़ी चीज है। फिर 'न्यूज मैन्युफैक्चरिंग' जैसे प्रयोगों के अर्थ आखिर क्या कहते हैं! ये बताते हैं कि न सिर्फ समाचारों को मैन्युफैक्चर किया जाता है, बल्कि अब तो जनमत और सहमति भी मैन्युफैक्चर की जाने लगी है। इसी के चलते मीडिया ने सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को फलीभूत किया है और यह काम कुछ इस प्रकार किया जाता है कि वैश्विक खबरों में स्थानीयता के पुट का हल्का समावेश करके स्थानीय लोक संस्कृतियों के प्रति चिंता जताने का भ्रम पैदा किया गया है। अमेरिकी मैक्डोनाल्ड, नाइके व एडिडास जैसी बहुराष्ट्रीय कंपनियां किसी देश में प्रचार के लिए उस देश विशेष की स्थानिकता के साथ संगति बैठाती हैं। मसलन, यह भारत में 'बिहू' या 'ओणम' के साथ प्रकट होती है और अफ्रीका में 'स्वाहिली' की लिपियों में। यह बात अलग है कि इन्हें भारत के बुनकरों की या अफ्रीका के विलुप्त होती लोक संस्कृतियों की कोई फिक्र नहीं होती। छलनेवाली इसी शैली को रोलांद रॉबर्टसन ने 'ग्लोकलाइजेशन' कहा है। अखबार, रेडियो, टेलीविजन चैनल और इंटरनेट के जरिए संचार की यह प्रक्रिया आगे बढ़ती जाती है और यह प्रश्न धीमे-धीमे पीछे छूटता चला जाता है कि क्या मीडिया आज सम्प्रेषण का एक माध्यम भर है या उससे कुछ अधिक है?

पूँजीवाद ने जनसंचार के साधनों का बड़ी चालाकी से इस्तेमाल करते हुए पीड़ित वर्ग के असंतोष को संवेदनशून्य और भोथरा बना दिया है क्योंकि वह तुच्छ भौतिक इच्छाओं को उत्तेजित करता है जिन्हें संतुष्ट करना बहुत सरल होता है। परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य का बहु-आयामी व्यक्तित्व लुप्त होता जा रहा है और व्यक्तित्व का केवल एक ही आयाम शेष बचा है उसकी तुच्छ भौतिक इच्छाओं की संतुष्टि। यह उपभोक्ता संस्कृति के मानवीय व्यक्तित्व पर हावी होने की करुण गाथा के सिवा और कुछ नहीं है। क्या ऐसी दशा में मीडिया से यह उम्मीद की जा सकती है कि वह विविधता की या संस्कृतियों की बहुलता की हिफाजत करेगा? असल में बहुसंस्कृतिवाद यानी मल्टीकल्चरिज्म सांस्कृतिक विविधता पर बल देने वाला एक राजनीतिक आंदोलन तो है ही, यह वैचारिक और सांस्कृतिक आंदोलन अधिक है। अगर अमेरिकी समाज की अवधारणा 'मेल्टिंग पॉट' की है जिसमें विविध जातीय संस्कृतियां अमेरिकी धारा में विसर्जित हो जाती हैं तो इसके बरअक्स

बहुसंस्कृतिवाद 'सलाद पॉट' की अवधारणा पर जोर देता है जिसमें एक राष्ट्र की सीमाओं में रहते हुए भी संस्कृतियां अपनी अलग-अलग पहचान नहीं खोतीं। वे अपनी विशिष्टता को बचाए और बनाए रखती हैं। क्या वर्तमान मीडिया इस विशिष्टता और अनोखेपन से भरे स्वस्थ जनमत को बचाए या बनाए रखने के प्रति जरा भी चिंतित है? और अगर वह इस बात को लेकर फिक्रमंद है, तो इसके लिए जिस तरीके के मीडिया-साक्षरता अभियान की जरूरत है, उसे कितना बल प्रदान किया जा रहा है! असल में इसी मीडिया साक्षरता से कुछ आशा बंधती है कि वह स्वस्थ जनमत को बनाने और बचाने में अपना योगदान दे सकेगी। ऐसा करके ही हमारे गांव, गरीब और हाशिए के लोगों की सुध भी ली जा सकती है और उन्हें सच्चे अर्थों में जनमत में भागीदार भी बनाया जा सकता है। जनमत-निर्माण के संदर्भ में बहुलता तब महज भ्रम नहीं रह जाएगी, वह सर्वसमावेशी और लोककल्याणमूलक वास्तविकता बन जाएगी।



हिंदी के शीर्षस्थ आलोचक डॉ. नामवर सिंह के
जीवन के नब्बे वर्ष
पूर्ण करने के उपलक्ष्य में 'बहुवचन' (अंक 50)
की विशेष प्रस्तुति

संभावित रचनाकार

केदारनाथ सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, निर्मला जैन, सीताकांत महापात्र, भालचंद्र नेमाड़े, काशीनाथ सिंह, अशोक वाजपेयी, मैनेजर पाण्डेय, आनंद प्रकाश दीक्षित, प्रयाग शुक्ल, प्रतिभा राय, रघुवीर चौधरी, हरीश त्रिवेदी, के. सच्चिदानंदन, हरबंश मुखिया, योगेन्द्र सिंह, नंद किशोर नवल, मंगलेश डबराल, राजेश जोशी, अरुण कमल, रामशरण जोशी, अब्दुल बिस्मिल्लाह, ए. अरविंदाक्षन, गोपेश्वर सिंह, संतोष भारतीय, वीरेंद्र यादव, भारत यायावर, अवधेश प्रधान, पी.एन. सिंह, सदानंद शाही, रामबक्ष, ओमप्रकाश सिंह, बलराज पाण्डेय, आशीष त्रिपाठी आदि।

बाजार का छद्म यथार्थ और बढ़ता संकट

हरीश अरोड़ा

विगत कई वर्षों से भारतीय मीडिया (विशेषकर हिंदी पत्रकारिता) के सामने यह प्रश्न मुंह बाए खड़ा था कि वह मुख्यधारा की पत्रकारिता से अपने आपको आबद्ध कब करेगा? लेकिन आश्चर्य इस बात का है कि आखिर विश्व के मीडिया विशेषज्ञों ने भारतीय मीडिया की विशेषज्ञ विद्वानों और भीष्म पितामहों से इस विषय में विचार-विमर्श करना आवश्यक ही नहीं समझा कि वैश्विक स्तर पर मीडिया के लिए किन मानदंडों को तय किया जाए। ऐसे में यह मुख्यधारा की पत्रकारिता क्या है, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। दरअसल भूमंडलीकरण और वैश्वीकरण जैसे तमाम नए विमर्शों की आधारभूमि पश्चिम रही और इसके केंद्र में पूंजी और शक्ति की प्रमुखता को स्वीकार किया गया। लेकिन पश्चिमी देशों के लिए तीसरी दुनिया के देशों पर आरोपित यह भूमंडलीकरण विश्व संस्कृतियों के समन्वय का विमर्श नहीं था बल्कि इन देशों के बाजार पर नियंत्रण स्थापित कर अपनी आर्थिक और सांस्कृतिक सत्ता को मजबूत करना था।

दरअसल आरंभ से ही हिंदी पत्रकारिता आम आदमी की पत्रकारिता के रूप में ही जानी जाती थी। हिंदी पत्रकारिता कॉरपोरेट घरानों की पत्रकारिता में तब्दील हो गयी। शायद यही कारण है कि ओम थानवी जैसे पत्रकार को हिंदी समाचार-पत्रों में संपादक के गिरते महत्त्व के लिए कहना पड़ा कि- 'एक तो बाजार पत्रकारिता पर ज्यादा हावी हुआ है। असल में पत्र-पत्रिकाओं के प्रबंधन ने यह महसूस किया कि संपादक बहुत प्रासंगिक नहीं रहे। संपादक को अगर पूरा महत्त्व दिया जाए तो वह जिस किस्म की पत्रिका या अखबार निकालेगा प्रबंधन उससे खुश नहीं होगा। तो प्रबंधन ने या मालिकों ने कई जगह तो इसका उपाय यह किया कि संपादन अपने हाथ में ले लिया। करने वाले दूसरे पेशेवर लोग हैं लेकिन नाम मालिक का है।' यह स्पष्ट है कि आज के दौर की पत्रकारिता में इसी बंधन के चलते ही समाचार-पत्र हो अथवा किसी अन्य माध्यम की पत्रकारिता उसमें छद्म यथार्थ की अभिव्यक्ति की संरचनागत बाध्यता से बच पाना संभव दिखाई नहीं देता।

दरअसल मीडिया को उद्योग बनाने के पीछे भी एक षडयंत्र दिखाई देता है। सत्ता पर पत्रकारिता के गंभीर प्रहारों के चलते ही सत्ता और औद्योगिक घरानों के बीच अप्रत्यक्ष रूप से कहीं-न-कहीं यह समझौतावादी राजनीति दिखाई देती है। इसी के चलते ही बड़े बड़े-बड़े औद्योगिकी घरानों ने अपने समाचार-पत्रों को मिशन की पत्रकारिता से अलग प्रोफेशन की पत्रकारिता के साथ संबद्ध कर दिया।

वास्तव में संचार प्रौद्योगिक के विकास के चलते और भूमंडलीकरण की अवधारणा की आड़

में तीसरी दुनिया के देशों को अपनी तकनीकी बेचने के उद्देश्य से ही पश्चिमी देशों ने वैश्वीकरण की नीतियों को अपनाया। इसी के चलते विगत कुछ वर्षों से टेलीविजन पत्रकारिता में निजी चैनलों की आई बाढ़ ने अचानक ही जनसंचार के क्षेत्र में एक जबरदस्त परिवर्तन ला खड़ा किया। विश्व के लिए (विशेषकर तीसरी दुनिया के देशों के लिए) यह परिवर्तन अप्रत्याशित नहीं था। भारत और उसके जैसे विकासशील देशों के लिए यह परिवर्तन तकनीकी विकास की एक प्रक्रिया का ही स्वरूप था। अचानक ही वैश्वीकरण के नाम पर यूरोपीय और कुछ पूंजीवादी देशों के द्वारा विश्व को एक परिवार के रूप में नजदीक लाने और उनके साथ आपसी संबंध बनाने की जो पहल की, वह सुनने में भले ही भारत के 'वसुधैव कुटुंबकम' के सिद्धांत का यथार्थ प्रतिरूप लगता हो लेकिन सच इसके विपरीत था। अचानक ही विश्व में भूमंडलीकरण और वैश्वीकरण जैसे नारों के चलते विश्व समुदाय विकास की नई दिशाओं की ओर ताकने लगा। नई सूचना प्रौद्योगिकी इन नारों का प्रमुख आधार बनी। इस नई प्रौद्योगिकी ने विश्व में जहां तकनीक के क्षेत्र में अद्भुत क्रांति ला दी वहीं जनसंचार के इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों को इस प्रौद्योगिकी ने तेजी से विकसित और पोषित होने का सहारा दिया।

भूमंडलीकरण की इस नई विचारणा के पीछे के सच को विश्व-समाज जब तक समझ पाता तब तक इसने पूरे विश्व पर अपना आधिपत्य जमा लिया। भूमंडलीकरण की अवधारणा ने यथार्थवाद की परंपरागत अवधारणा को ही ध्वस्त कर दिया। इसने विश्व की समूची जीवन-धारा के अर्थ ही बदल दिए हैं। पूंजीवादी का यह नया संस्करण विश्व में मीडिया के माध्यम से ही उत्पन्न हुआ। नॉम चोम्स्की के विचारों के संदर्भ में जगदीश्वर चतुर्वेदी का कहना है कि 'पूंजीवाद की एक शर्त है कि तुम मुझे बिना किसी शर्त के स्वीकार करो, समर्पण करो। जो वर्ग, राष्ट्र, समूह आदि पूंजीवादी के आगे समर्पण नहीं करता उसके प्रति हिंसाचार, आर्थिक नाकेबंदी, वैचारिक हमले आदि तेज कर दिए जाते हैं।' पश्चिम की भोगवादी संस्कृति ने मीडिया के द्वारा तीसरी दुनिया के देशों के बाजार पर कब्जा जमाने के लिए जो सांस्कृतिक आक्रमण किए उनसे ये देश संभल पाने की स्थिति से पहले ही बाजार के दबाव में आ गए। भारत की महान संस्कृति इस अप्रत्याशित हमले को समझ ही नहीं पाई और भारतीय जीवन-यथार्थ इस भूमंडलीय यथार्थवाद के नीचे दब गया।

मार्क्यूज़ का मानना है कि 'आज हम श्रेष्ठ संस्कृति का मासकल्चर के रूप में पतन ही नहीं देख रहे हैं अपितु संस्कृति के द्वारा यथार्थ का खंडन भी देख रहे हैं। श्रेष्ठ संस्कृति का सामाजिक यथार्थ के साथ हमेशा अंतर्विरोध रहा है।' वास्तविकता यह है कि व्यक्तिवादी और भौतिकतावादी विचारधाराओं तथा भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण जैसे नए अवधारणामूलक शब्दों के साथ-साथ उत्तरआधुनिक विमर्श की इस नई दुनिया में 'मीडिया का समाजशास्त्र' अब 'बाजार का समाजशास्त्र' बन गया है। अब मीडिया सामाजिक विसंगतियों और विद्रूपताओं के कारण उपजी जटिलताओं से नहीं बल्कि पूंजीवादी सत्ता से शक्ति पाता है। अब उसके लिए किसी समाज का सांस्कृतिक वैभव उस समाज का यथार्थ नहीं बनता बल्कि बाजार के दृष्टिकोण के अनुरूप उसे लाभ पहुंचाने वाला 'वर्चुअल यथार्थ' ही उसका सच बन जाता है। घर-घर में टेलीविजन माध्यम का आम सामाजिक की दिनचर्या का महत्वपूर्ण हिस्सा होने के कारण इन मीडिया साम्राज्यवादी शक्तियों ने इसी को आधार बनाकर आम समाज पर सांस्कृतिक आक्रमण तेज कर दिए।

आज बदलती हुई तकनीक ने माध्यम साम्राज्यवाद के साथ-साथ सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को

भी जन्म दिया है। इस नई तकनीक का हाथ पकड़कर किसी भी देश की संस्कृति चाहे तो क्षण भर में ग्लोबल बन सकती है लेकिन तकनीक की इस दौड़ में भारत अभी पीछे है और वह पूंजीवादी शक्तियों से इस दौड़ में मुकाबला कर पाने में अपने का असमर्थ पा रहा है। बाजार को अपना हथियार बनाकर विश्व के सभी देशों पर अपना आधिपत्य जमाने वाली इन साम्राज्यवादी शक्तियों ने जनसंचार के नए माध्यमों के बल पर अपनी संस्कृति को हम पर इतना हावी कर दिया कि आज की युवा पीढ़ी 'मोबाइलीय' और 'इंटरनेटीय' संस्कृति को अपनाकर अपने को थर्ड जनरेशन की पीढ़ी कहलाने में गर्व महसूस करती है।

तकनीक के इस नए हथियार ने यथार्थ के मायने ही बदल दिए। उसने टेलीविजन की विभिन्न विधाओं की संरचना को ही पूरी तरह से बदल दिया। विशेष रूप से समाचार जैसी गंभीर विधा जिसे समाज के सामने यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति की महत्वपूर्ण विधा के रूप में जाना जाता है, जो समाज को समाज का ही सच पूरी नैतिकता के साथ दिखाता है, उस समाचार विधा में इस नई प्रौद्योगिकी के आगमन के कारण ऐसा अप्रत्याशित परिवर्तन आया कि उसने समाचार की सैद्धांतिक संरचना को ध्वस्त कर दिया। एक ओर जहां पहले समाचार सत्य की अभिव्यक्ति के समय मानवीय मूल्यों और नैतिक परंपराओं के प्रति सद्भावना बनाए रखते थे वहीं वैश्वीकरण की इस नई चाल ने समाचार-मूल्य की अवधारणा पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया। भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण से जहां समाज की मूल्यवादी परंपरा में नए मूल्यों का आगमन होना चाहिए था वहीं इसके आगमन ने परंपरागत मूल्यों को तहस-नहस करना शुरू कर दिया।

सूचना प्रौद्योगिकी की इस जंग में पूंजीवाद ने समाज को नई तकनीकों के संजाल में इस तरह से फंसा दिया है कि समाज उससे निकल पाने में असमर्थ है। उसके सामने यथार्थ अब कृत्रिम यथार्थ (Virtual Reality) के रूप में परोसा जा रहा है। बदलती हुई दुनिया में सच के मायने भले ही बदल जाते हों लेकिन सच कभी नहीं बदलता। लेकिन पूंजीवाद 'माध्यम साम्राज्यवाद' की आड़ में नए यथार्थ की रचना करता है। यहां सच नहीं बदलता लेकिन उसे कृत्रिम यथार्थ में बदलकर समाज के सामने एक भ्रामक सत्य को प्रस्तुत किया जाता है। प्रभु जोशी के शब्दों में कहें तो 'अब अस्त्रों और उसकी किस्में बदल गई हैं। अब तमाम निपटारे, संस्कृति के कुरुक्षेत्र में ही कर दिए जाते हैं। इसलिए, अब सत्ता का संकट हो या फिर आर्थिक-संकट, इन्हें सांस्कृतिक संकट में बदल दिया जाता है। यह संकटों का कायान्तरण है।' यही संकट टेलीविजन पत्रकारिता की दुनिया में भी उठ गया है। अब टेलीविजन पर प्रसारित होने वाले समाचारों की अपनी दुनिया में आम-आदमी की जगह बाजारवाद ने ले ली है। अब महाराष्ट्र या उड़ीसा में भूख से तड़पते किसानों की आत्महत्याएं उनके लिए उतने मायने नहीं रखती जितने ग्लैमरस फैशन शोज। जो चैनल्स फैशन शोज के बाईट्स अपने चैनलों पर नहीं दिखाते तो उन्हें बाजार की दुनिया में अनपढ़ और गंवार चैनलों की श्रेणी में समझा जाने लगता है।

टेलीविजन पर प्रसारित होने वाले धारावाहिकों ने संयुक्त परिवार की भारतीय अवधारणा को तहस-नहस करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। जहां समाज में संबंधों और विश्वास को दृढ़ आधार माना जाता हो वहां ऐसे धारावाहिकों ने संबंधों के बीच विभाजन की रेखा खींच दी है जो समाज कभी विश्वास और आस्था के मूल्यों पर जीवित रहता था इन धारावाहिकों ने उनमें अविश्वास और अनास्था

को भर दिया है। ऐसे आरोपों के प्रत्युत्तर में टेलीविजन माध्यमों का कहना है कि वे आम जनता की रुचि के अनुरूप ही कार्यक्रमों का निर्माण करते हैं लेकिन सच इसके विपरीत है।

यह स्पष्ट है कि तकनीक के विकास से समाज और राष्ट्र का विकास होता है। लेकिन भारत के संदर्भ में ही नहीं बल्कि तीसरी दुनिया के देशों के लिए यह अजीब सी उलझन है कि तकनीक के विकास के साथ-साथ पूंजीवादी-वर्चस्व के कारण माध्यम-यथार्थ पर ही संकट छाता चला जा रहा है। छद्म यथार्थ के कारण ही मीडिया पर से समाज का विश्वास धूमिल होने लगा है। अब समाज के सामने प्रश्न यह नहीं है कि हम तकनीकी रूप से कितने विकसित हुए बल्कि तकनीक के बढ़ते प्रभाव के कारण कहीं सूचना की विश्वसनीयता पर से हमारा विश्वास ही तो नहीं उठ गया? दरअसल भूमंडलीकरण के नाम पर बाजारवादी संस्कृति को मीडिया पर हावी करने वाले उद्योगपतियों और धनाढ्यों ने अपनी प्रतिष्ठा का माध्यम भी बना लिया है इसीलिए वे अपने चैनल के स्वयं ही मालिक होते हैं और उसके प्रबंधक भी खुद ही होते हैं। जहां तक बेहतर प्रबंधन की बात है तो निश्चित रूप से इन चैनल मालिकों से उनकी बेहतर व्यवस्था की अपेक्षा की जा सकती है लेकिन कार्यक्रमों के निर्धारण और समाचारों के चयन में कंटेंट से समझौता करने वाले इन लोगों का हस्तक्षेप पत्रकारिता के लिए घातक है। बिजनेस मैनेजमेंट और कंटेंट मैनेजमेंट के अंतर को समझने की बजाए ये बाजार के दृष्टिकोण से समाचारों के कंटेंट को जारी करने के निर्देश देते हैं। ये सामाजिक सरोकारों को दबाकर लाभ के दृष्टिकोण से कार्यक्रमों की दिशा तय करते हैं। पत्रकारिता में ऐसी स्थिति का आगमन कहीं-न-कहीं उस पर साम्राज्यवादी व्यवस्था का हावी होना है इसलिए इसे 'माध्यम साम्राज्यवाद' की संज्ञा से अभिहित किया जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। अब इस साम्राज्यवादी स्थिति में चैनलों में 'संपादक' नाम की संस्था गौण हो गई है। प्रबंधकों का दबाव संपादकों पर पूरी तरह से हावी हो चला है।

नई सूचना प्रौद्योगिकी का वास्तविक उद्देश्य सामाजिक हितों के लिए जनसंचार माध्यमों को मजबूती प्रदान करना था। कुछ देशों की सोची-समझी साजिश के तहत पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के कारण यह प्रौद्योगिकी सांस्कृतिक मूल्यों के पतन का आधार बनी। जहां नई तकनीक के द्वारा समाज को बेहतर तरीके से सामाजिक यथार्थ से परिचित कराया जा सकता था वहीं इसने उन्हीं समाचारों की वस्तु को संप्रेषित करने की नई प्रक्रिया के द्वारा ऐसा सनसनीखेज और भ्रामक बना दिया कि समाचार गढ़ा हुआ प्रतीत होने लगा। गम्भीर समाचार की भाषा पर बाजार की भाषा हावी हो गई। चमत्कार और रोचकपूर्ण तरीके से समाचारों की भाषा दर्शकों के लिए मनोरंजन का केंद्र बन गई। समाचारों के केंद्र आम समाज की समस्याओं से हटकर बड़े उद्योगपतियों के आपसी झगड़े; फिल्मी हीरोईनों के प्रेम-प्रसंग; राखी सावंत के नाटकीय स्वयंवर; दीवारों, पेड़ों, जमीनों आदि पर उभर आई 'ईश्वरीय' आकृतियां; नेताओं पर चलने वाले जूते; फैशन समारोहों की धूम और प्रतिष्ठित लोगों की निजी जिंदगियों के स्टिंग ऑपरेशन से मची हलचल आदि बन गए। जिसने समाज की जमीनी सच्चाई को इस तरह परोसा कि वह गंभीर सच भी मनोरंजन का आधार बन गया। जनहित के नाम पर, महिलाओं को उनके अधिकार दिलाने के नाम पर, उनके पतियों के घर के बाहर बैठकर नाट्य-कथाओं के रचाव द्वारा नारी की प्रताड़ना को दिखाने या उसके लिए न्याय की मांग के नाम पर उसके जीवन में अनधिकृत हस्तक्षेप करने से नारी को भले ही समुचित न्याय या अधिकार न

मिल पाए लेकिन उसके निजी जीवन में तलाक और घृणा जैसी स्थिति लाने में ये अपनी भूमिका बखूबी निभाते हैं। इस स्थिति में पति और उसके परिवार की मान-हानि उनके लिए जनहित के अधिकार के नाम की संवैधानिक स्वीकृति बन जाती है।

इतना ही नहीं आपके घर पर किसी जैनेटिक प्रोबलम के कारण पैदा हुआ चार हाथों वाला बच्चा निश्चित रूप से आपके लिए परेशानी का कारण हो सकता है लेकिन टेलीविजन चैनलों के लिए यह समाचार किसी वरदान से कम नहीं। उनके लिए यह बच्चा ईश्वर का साक्षात धरती पर अवतार बन जाता है। सामाजिक अंधविश्वास समाचार का विश्वास कैसे बनता है यह टेलीविजन के कुछ समाचार-चैनल हमारे सामने अकसर सिद्ध करते हैं। केवल समाचारों में ही नहीं बल्कि टेलीविजन पर प्रसारित होने वाले कुछ धारावाहिकों ने भी भारतीय समाज की आस्था और श्रद्धा को कैश करने के लिए अनेक ऐसी धार्मिक कथाओं के धारावाहिकों का निर्माण आरंभ कर दिया जो उनकी आस्था से खिलवाड़ करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। कुछ चैनलों के लिए तो यह अपने चैनल की टी. आर.पी. बढ़ाने का सबसे बढ़िया हथियार है और जिसकी टी.आर.पी. सबसे अधिक होगी, उसी का बाजार की पूंजी पर सबसे बड़ा अधिकार होगा।

आश्चर्य है कि मूल रूप से पत्रकारिता के जिन सिद्धांतों पर चलकर टेलीविजन पत्रकारिता को समाज के भीतर पनपती अंधपरंपराओं को ध्वस्त करना चाहिए था, जिसका मकसद समाज को जड़-परंपराओं से बाहर निकालकर नई तकनीकी दुनिया के द्वारा विकास की नई राह पर चलने का संदेश देना चाहिए था, वही टेलीविजन पत्रकारिता आज अंधविश्वास को पोषित और विकसित करने का माध्यम बन गई है।

सच यह है कि पत्रकारिता अब मिशन नहीं प्रोफेशन बन गयी है। पत्रकारिता या किसी अन्य क्षेत्र को प्रोफेशन के रूप में अपनाना गलत नहीं है लेकिन अब यह प्रोफेशन बाजार की नियति पर टिका है। अब 'विचार की पत्रकारिता' बाजार की पत्रकारिता बन गई है। पत्रकार का व्यावसायिक दृष्टिकोण चैनलों के हितों के साथ संबद्ध हो गया है और चैनलों का हित बाजार तय करता है। इसीलिए अब कार्यक्रमों का संबंध सामाजिक सरोकारों से नहीं बल्कि व्यावसायिक हितों से है।

दरअसल अब टेलीविजन पर प्रसारित होने वाले सभी कार्यक्रमों की दिशा बाजार ही तय करता है। समाज की संवेदनाएं और भावनाएं भी बाजारवाद की इस नई चुनौती में एक वस्तु की तरह बन गई हैं। इन संवेदनाओं को भी मीडिया बाजार के साथ संबद्ध कर उन्हें बेचता है। वरना कुरुक्षेत्र के एक गांव में प्रिंस नाम के बच्चे के एक गड्ढे में गिरने के बाद उसे निकालने की घटना का लगभग 52 घंटे तक टेलीविजन चैनलों पर लगातार सीधा प्रसारण हो या फिर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाले व्यक्तियों द्वारा स्वयं को जलाकर मारने का सीधा प्रसारण, प्रत्यक्ष रूप से ये कार्य मीडिया के सकारात्मक दृष्टिकोण को तो सामने लाते ही हैं लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से ये समाज की भावनाओं का बाजारीकरण करने की प्रमुख नीति भी हैं।

भले ही समाचार का सामाजिक महत्त्व अब क्षीण हो गया हो लेकिन सामाजिकों के भावात्मक लगाव और उनकी संवेदनाओं के कारण इस क्षेत्र में अब पूरी टीम काम करने लगी है। समाचार अब दिखाए नहीं जाते बल्कि बेचे जाते हैं। कौन बेहतर तकनीक और अलग कंटेंट के साथ समाचार को चैनल के मालिक के पास ले आता है, कौन अन्य से बेहतर प्रस्तुत करता है, अब यही मानदंड

समाचार के संवाददाताओं के चयन का आधार भी बनते हैं। इसीलिए यह आश्चर्य नहीं होगा अगर प्रत्येक चैनल पर एक ही घटना के समाचार प्रसारित होते समय सभी चैनल उस समाचार को एक्सक्लूसिव लिखकर प्रसारित करें। यह 'एक्सक्लूसिव' बाजार की पूंजी को अपनी ओर आकर्षित करने का एक नया फंडा है।

यह सही है कि नई सूचना प्रौद्योगिकी ने टेलीविजन कार्यक्रमों की तकनीक में बदलाव लाकर एक नए दर्शक वर्ग को अपनी ओर आकर्षित किया है। टेलीविजन में प्रसारित होने वाले धारावाहिकों और समाचार की गंभीर शैली के कारण इसमें अरुचि दिखाने वाले दर्शकों का वर्ग फिर से इस ओर अपनी रुचि दिखाने लगा है। इसने बाजार की दृष्टि से अपने हितों को साधने के लिए भारतीय मूल्यों और संस्कृति के विपरीत जैसे कार्य किए हैं वे कहीं-न-कहीं टेलीविजन पत्रकारिता की शुचिता पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं।

वैसे भी परिवर्तन सृष्टि का नियम है लेकिन इस परिवर्तन से सामाजिक और राष्ट्रीय हितों का चोट न पहुंचे, इस बात का ध्यान रखना भी जरूरी है। बदलाव से किसी को परहेज नहीं है लेकिन बदलाव के पीछे की वास्तविकता और बदलाव की विध्वंसकारी परिणति को दृष्टिगत रखे बिना इसे स्वीकार कर लेना समाज और मीडिया दोनों के लिए ही घातक होगा। हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि बाजारवाद अब समाज का ही नहीं बल्कि संसार का यथार्थ बन गया है लेकिन बाजार समाज पर इस कदर हावी हो जाए कि वह किसी भी समाज की सांस्कृतिक अस्मिता को ही तहस-नहस कर दे, ऐसे बाजार का टेलीविजन पत्रकारिता में आना किस समाज को स्वीकार होगा। इसलिए यह जरूरी है कि समाज और शासन दोनों को ही मीडिया पर धनवानों और किसी के एकाधिकार के वर्चस्व को तोड़ना होगा तभी समाज में सामाजिक प्रगति और उन्नति के दावों को सत्य कर पायेंगे अन्यथा भारत आने वाले कई वर्षों तक अपनी ही समस्याओं से जूझता रहेगा और पूंजीवादी देश उसका आर्थिक शोषण करते रहेंगे। इसलिए यह आवश्यकता है कि अपनी सामाजिक और राजनैतिक जीवन-शैली में परिवर्तन लाते हुए समाज को उन्नत बनाने में मीडिया को अधिक प्रयास करना होगा। पत्रकारिता की इस पवित्र लक्ष्मण-रेखा को लांघने के लिए सत्य रूपी सीता को बाध्य करने वाला पूंजीवादी-रावण भले ही कितना सशक्त क्यों न हो लेकिन इस समाज को सांस्कृतिक संकट से बचाने और पत्रकारिता को पुनः मिशन के रूप में स्थापित करने वाले मर्यादित पत्रकारों को ही उस वास्तविक यथार्थ को फिर से लौटाना होगा और छद्म यथार्थ से इस समाज को बचाना होगा।



मीडिया, बदलती दुनिया और हिंदी

गिरीश्वर मिश्र

मीडिया का आविष्कार आज सभी समाजों के समूचे ताने-बाने को नये ढांचे में ढालता जा रहा है। कहा जा सकता है कि मीडिया हमारे अनुभव का, जीने के अवसर का व्याकरण नए सिरे से लिख रहा है। अब 'होने', 'हो सकने' और 'न होने' के बीच की दूरी मीडिया ही तय करता नजर आता है। हमारी आज की दुनिया में अब कुछ भी मीडिया के प्रभाव से अछूता नहीं बचा है और हम सब मीडियाजीवी बनते जा रहे हैं। अब मीडिया दृश्य तो बनाता ही है अपने तेज असर से द्रष्टा, यानी-पाठक, श्रोता, और दर्शक को सीधे-सीधे या फिर प्रच्छन्न रूप से रचता रहता है। वह उनकी आंख बन रहा है और मन मस्तिष्क की जगह ले रहा है। आज टी वी, अखबार, सिनेमा और इंटरनेट को देख-देख बच्चे, बड़े बूढ़े सबका नजरिया बदल रहा है और सोचने-समझने का स्वाद बदल रहा है। यही नहीं, मीडिया का व्यसन या 'एडिक्शन' भी तेजी से बढ़ रहा है और जीवन शैली, आदतें, भावनाओं की दुनिया, समय का प्रबंधन और लोगों की पसंद नापसंद, इन सबको हमारा मीडिया नियोजित और निर्धारित करने लगा है। मीडिया चुनता है, परोसता है और हम बड़े स्वाद से उसे चखते हैं पर मीडिया में सब कुछ सुस्वादु या स्वास्थ्यवर्धक ही हो ऐसा जरूरी नहीं है। पर स्वाद चखने की लत हमें सब कुछ का उपभोग करने के लिए मजबूर करती है और इस तरह हमारा देखने सुनने का स्वाद बदलने लगता है और हम भी बदल जाते हैं। वैसे बदलाव स्वाभाविक घटना है पर मीडिया से जो बदलाव आ रहा है वह पूरी तरह सुरक्षित और श्रेयस्कर हो ऐसा नहीं कहा जा सकता।

मीडिया अब हमारी एक खास जरूरत बन चुका है। ऊपर से लगता है कि मीडिया हमें सशक्त कर रहा है पर कहीं न कहीं आज वह हमारे पूरे अस्तित्व को एक नए ढांचे में पुनर्परिभाषित करने में जुटा हुआ है। उसने सोचने, समझने, फैसला लेने की हमारी क्षमता और आदत पर पहरा बैठा दिया है और इन जिम्मेदारियों को अपने पर ओढ़ लिया है। अब हम वह नहीं रहे जो हम पहले थे। उसका क्षेत्र बड़ा व्यापक हो गया है। अब जीवन का शायद ही कोई कोना अंतरा बचा हो जो मीडिया के प्रभाव दायरे में न आया हो या उससे अछूता रह गया हो। हमारा खान-पान, शौक, हमारी चाहतें, रिश्ते-नाते, सब कुछ प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से मीडिया से निर्देशित और संचालित होने लगे हैं।

अगर तनिक अमूर्त स्तर पर कहना चाहें तो हम यह कह सकते हैं कि अब मीडिया की उपस्थिति केवल सत्य के प्रतिवेदन और साक्षी के रूप में ही नहीं सत्य के अवतार के रूप में भी होने लगी है। सचमुच आज मीडिया हमारे संसार का 'विश्वकर्मा' हो चला है। जो हो रहा है वह

इस कदर मीडिया से भावित और परिपूरित है कि लगता है मानों मीडिया पर ही उसका पूरा वजूद टिका हुआ है, मीडिया न होता तो शायद उन चीजों का अस्तित्व ही न होता। एक अर्थ में यह सही भी है। हमारे मनो-जगत पर अपनी गहरी छाप छोड़ते हुए मीडिया वास्तविकता और संभवना को एक दूसरे के पास लाता है। मीडिया की भूमिका तेजी से बदल रही है और वह 'रिपोर्टिंग' से आगे बढ़कर बहुत सारे नए काम भी हथिया चुका है।

आज जीवन में मीडिया की व्याप्ति और विस्तार का क्षेत्र आश्चर्यजनक रूप से बढ़ा है और साथ ही बढ़ा है उसकी भूमिका और दायित्व का क्षेत्र। बहुत दिनों तक हम मीडिया के नाम पर सिर्फ 'अखबार' और 'सिनेमा' से ही परिचित थे। बोलने वाले या सवाक सिनेमा के पहले मूक सिनेमा बनते थे। अब तो त्रिआयामी (श्री डाइमेंशनल) सिनेमा बनने लगे हैं। पहले अखबार सिर्फ बड़े शहरों में छपते थे और उन्हें अन्य शहरों में भेजा जाता था। उनकी संख्या भी सीमित ही होती थी और उनकी पहुंच भी शहरों तक बंधी थी। पर आज सूचना की तकनीकी में युगांतरकारी बदलाव आ चुका है। उपग्रह या सैटेलाइट की सहायता से सूचना के आदान-प्रदान में अद्भुत सफलता मिली है। इंटरनेट के चलते अब अत्यंत तीव्र गति से और परिशुद्धता (एकूरेसी) के साथ अंतरराष्ट्रीय, राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और स्थानीय स्तरों पर सूचना की बेरोकटोक आवाजाही हो रही है और संचार-जगत का कायापलट हो चला है। अब एक साथ अनेक लोगों से और अनेक स्थानों पर एक साथ संवाद और चर्चा संभव हो पा रही है। आज मीडिया देश काल की सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए हर कहीं पहुंच रहा है- पल-पल जो घटित हो रहा है उससे खबरदार करता मीडिया हमेशा हमें किसी और धरातल पर पहुंचाने के लिए बेताब रहता है और इसके लिए होड़ लगी रहती है। अर्थात् वह चित्त को अस्थिर बनाए रखने में ही अपनी सार्थकता समझता है। साइबर की दुनिया का कोई ओर-छोर नहीं दिखता।

मुद्रित (प्रिंट) मीडिया भी सूचना क्रांति से प्रभावित हुआ है। अखबार को ही लें। अब न सिर्फ उनकी पाठक संख्या बढ़ी है बल्कि हर अखबार के अनेक संस्करण छपने लगे हैं जो स्थानीय जरूरतों और पाठकीय रुचियों के अनुरूप होते हैं। इन स्थानीय संस्करणों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ रही है। हिंदी के अखबारों का वितरण काफी बढ़ा है और यह जानकर हिंदी-प्रेमी प्रसन्न हो सकते हैं कि आज हिंदी का अखबार भारत में सर्वाधिक छपाई वाली संख्या का अखबार बन गया है। कई अखबारों के देश में विभिन्न स्थानों से अलग-अलग संस्करण भी अब निकल रहे हैं। अधिकांश अखबारों के 'ई' संस्करण भी प्रस्तुत हो रहे हैं और घर बैठे इंटरनेट की बदौलत कोई भी अखबार पढ़ा जा सकता है।

आज मीडिया के भी अनेक रूपों का प्रचलन हो चला है और उन सब के प्रभाव भी अलग-अलग ढंग के पड़ रहे हैं। हम सचमुच एक नए युग में प्रवेश कर चुके हैं जहां सूचना और मीडिया का ही बोलबाला है। मीडिया हमारे सामाजिक जीवन का प्रवेश द्वार बन रहा है और उसी के रास्ते चल कर सांस्कृतिक जीवन की उपलब्धियां जैसे- कला, राजनीति, शिक्षा और मनोरंजन हमारे समाज में प्रवेश करती हैं और हमारी संस्कृति को रचती हैं। उदाहरणार्थ टीवी आज अत्यंत व्यापक रूप से प्रचलित हो रहा है और उसने दैनिक जीवन में घुसपैठ कर हमारे समय का एक बड़ा हिस्सा अपने कब्जे में कर लिया है और व्यस्तताओं तथा वरीयताओं को पुनर्व्यवस्थित कर रहा है। समय तो सीमित ही है अतः अपने निजी और सामाजिक कामों और दायित्वों के लिए समय टीवी के लिए सुरक्षित

चार पांच घंटे छोड़कर ही उपलब्ध रहता है। पर इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण बात है टीवी की सामग्री या कंटेंट जो अनुमानतः पचास प्रतिशत तमाम तरह की वस्तुओं के विज्ञापन से पता रहता है। यह कहना गलत नहीं होगा कि आज टीवी, संचार और संवाद का माध्यम न हो कर बाजार का विस्तार बन चुका है। आप चाहें या न चाहें कोई भी कार्यक्रम देखते हुए खुद को चंद मिनटों के बाद बाजार में खड़े पायेंगे और यह क्रम कुछ कुछ अंतराल के बाद दुहराया जाता है। अर्थात् टीवी, उपभोक्ता और व्यापारियों के बीच की कड़ी बनता जा रहा है। नागरिक, सामाजिक और अन्य विभिन्न भूमिकाओं को छोड़ हमें सिर्फ और सिर्फ उपभोक्ता की भूमिका में ढलने को विवश किया जा रहा है। इसका परिणाम यह है कि उपभोक्ता की मानसिकता और सारी भूमिकाओं, सरोकारों और दायित्वों पर भारी पड़ रही है

हम सब उपभोक्ता के रूप में बाजार में शामिल हो रहे हैं। व्यापार की वृद्धि के लिए जरूरी है कि चीजों की मांग हमेशा बनी रहे। जीने की परिस्थितियां और सुविधाओं की बढ़त-घटत के साथ मीडिया की कृपा से हमारी आवश्यक आवश्यकताओं की सूची लंबी होती जा रही है। साथ ही पैसा कमाने के लिए बाजार में प्रतिस्पर्धा भी तेजी से बढ़ रही है। बाजार पनपे इसके लिए यह कोशिश लगातार जारी रहती है कि कोई भी माल बाजार में ज्यादा दिन न टिके और चीजों के एक से बढ़ कर एक नए मॉडल और संस्करण आते जाते हैं। चूंकि नवीनता का आकर्षण हर आदमी में बढ़ा प्रबल होता है इसलिए बाजार कुछ ऐसा प्रबंध करता है कि ताजा और टटका माल आता रहे और उपभोक्ता ललचाई नजरों देखता हुआ हमेशा कुछ न कुछ की कमी महसूस करता रहे। ऐसे में हम आधे-अधूरे बने रहने लिए अभिशप्त से होते जा रहे हैं।

बाजार के प्रसार में मीडिया की विशेष भूमिका है। आज देश और काल दोनों ही दृष्टियों से व्यापक होता हुआ मीडिया अपनी तीव्र उपस्थिति के साथ हमारे यथार्थ को सतत् रचता जा रहा है। मीडिया सूचना और ज्ञान का माध्यम तो है पर उसका एक गहरा रिश्ता बाजार के साथ बना है। मीडिया पर बाजार काबिज है और यह कहना गलत नहीं होगा कि वह व्यापार का ही हिस्सा है बनता जा रहा है जो उभरते वैश्विक ढांचे में पूंजी के प्रवाह से परिचालित हो रहा है। आज मीडिया के प्रयोजन और आशय अंततोगत्वा पूंजी निर्माण से जुड़ते जा रहे हैं। मीडिया की सहायता से बाजार अपने उपभोक्ताओं को यह संदेश देता रहता है कि तुम चाहे जो हो, किसी भी हाल में पुराने न पड़ो। औरों के साथ तुलना करते हुए हम पिछड़े होते हुए से लगना ओछेपन का अहसास दे जाता है। अपने आस-पास के सामाजिक परिवेश में हमारी अपनी छवि चीजों को रखने न रखने से बनती बिगड़ती रहती है और उसको लेकर हम सचेत भी रहते हैं। अपनी छवि भी हम प्रस्तुत करने का प्रबंध करते हैं क्योंकि वही बाजार में प्रस्तुत होती है। उपभोक्ता को विराम लेने का भी अवकाश नहीं होता। कुछ नया सामान (चाहे वह नए पेकेज के साथ पुरानी चीज ही क्यों न हो!) बाजार में आ जाता है। उपभोक्ता को अपनी तरफ आकर्षित करने के लिए किस्म-किस्म के उपहार की स्क्रीम और 'दो खरीदने पर एक फ्री' की युक्ति का भी उपयोग करते हैं। बाजार उपभोक्ता को सोचने समझने का मौका की नहीं देता है।

बाजार अपने उपभोक्ता को कई-कई तरह से बांधते चलते हैं ताकि वे बाजार की ओर से रुख न मोड़ें और 'शापिंग' करते रहें। पैसा न हो तो ईएमआई की सुविधा और ब्याजमुक्त ऋण आदि

के प्रलोभन से अपने चंगुल में फंसाते जाते हैं। अब बाजार हमें आदर्श जीवन का नुस्खा बताता है, वह सपने बेचता है और आदमी उसी की दी हुई कसौटी पर अपने को तौलता है। बाजार साथ में यह भी बताता है कि जीवन में क्या संभव है। बाजार का चौतरफा हमला हमारी निर्णय और विवेक की क्षमता को बाधित कर देता है। बाजार का गणित हमें बाध्य सा करता है कि हम वही करें जो बाजार कहता है। बाजार अनजाने ही हमें वस्तु बनाता जा रहा है और हमारा स्वभाव उसी के तर्ज पर ढलता जा रहा है।

यह अकारण नहीं है कि बाजार ने खास तौर पर कास्मेटिक क्षेत्र में जबरदस्त दस्तक दी है। भारत की जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा युवा वर्ग का है। कौन सुंदर नहीं दिखना चाहता है? इसका लाभ लेते हुए तरह-तरह के सौंदर्य प्रसाधनों जिसमें क्रीम, तेल, वेशभूषा, आभूषण, उपकरण और सौंदर्यवर्धक सर्जरी जैसे उपायों से देह को मनचाहा रूप देने के लिए तमाम उपाय और नुस्खे प्रचारित किये जा रहे हैं। इनके अस्वास्थ्यकर प्रभाव भी हैं पर इसकी अनदेखी करते हुए बाजार उपभोक्ता को चुनने या वरण करने का अवसर देता है। नियंत्रण, चाहे उसका भ्रम ही क्यों न हो, बड़ा आकर्षक होता है और उससे बचना संभव नहीं है। अपने सामने भिन्न-भिन्न ब्रांड वाली चीजों को देख यह भ्रम सहज रूप में पैदा होता है हमारे सामने चुनने की छूट है। औद्योगिकीकरण के बाद चली वैश्वीकरण की हवा में उपभोक्तावाद, वस्तुपरकता और आर्थिक उन्नति का सब पर नशा सा छाया हुआ है पर वास्तविकता यह है कि आर्थिक विकास और जीवन की संतुष्टि के बीच सीधा रैखिक संबंध नहीं है। यह साबित हो चुका है कि भौतिक समृद्धि ही सब कुछ नहीं होती है। हमारी अस्मिता या पहचान जरूर आर्थिक मामला नहीं है।

मनुष्य अपनी अस्मिता या पहचान कई ढंग से और कई कई स्तरों पर स्थापित कर सकता है। व्यक्ति, परिवार, समुदाय, लिंग, जाति, समुदाय, देश, मानव समुदाय किसी भी स्तर पर हम अपनी पहचान स्थापित कर सकते हैं। इनमें से कुछ पक्ष जन्मजात होते हैं जैसे- देश, लिंग, धर्म, जाति, क्षेत्र, आदि जिन्हें नवजात शिशु स्वयं नहीं बल्कि उसके माता-पिता तय करते हैं। बच्चे को इसे खुद चुनने का हक नहीं है। हां बाद में इसे विभिन्न सीमाओं तक बदला जा सकता है पर हम अनेक अस्मिताओं को अपनी पसंद के हिसाब से चुनते भी हैं। आज अस्मिताओं के संघर्ष चल रहे हैं। लोग अस्मिताओं से असंतुष्ट होकर उसे बदलने का यत्न करते हैं। कई जगहों पर इस तरह के आन्दोलन, संघर्ष और तनाव हो रहे हैं। भारतीय संविधान चार मूल्यों की बात करता है : स्वतंत्रता, न्याय, भ्रातृत्व और समता। ये सामाजिक जीवन और निजी आचरण की ओर संकेत करते हैं। चूंकि ये निरपेक्ष नहीं हैं अतः इनका आदर करने के लिए हमें अपने लिए व्यापक अस्मिता चुननी होगी जो दूसरों को भी जगह दे। दुर्भाग्य से 'अस्मिता' को अस्तित्व का संकेत या अभिव्यक्ति नहीं बल्कि एक उपकरण या युक्ति के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। उसका विभिन्न लाभों के लिए राजनैतिक उपयोग हो रहा है। बाजार हमारा स्वभाव, मानस को बदल रहा है। हमारी स्मृति और धैर्य की कठिन परीक्षा ली जा रही है। बेतरतीब हो रहे आज के समय में अपनी पहचान को खोजना और संवारना कठिन चुनौती बन रहा है।

सच तो यह है कि हर किसी की एक नहीं कई पहचानें होती हैं। हम उनमें से अपने लिए एक पहचान चुनते हैं। अपनी पसंद के मुताबिक पहचान को लेकर आगे बढ़ते हैं पर जो भी पहचान

होती है एक सीमा बनाती है। वह एक चहारदीवारी खींचती है जिसके अंदर रहने वाले सब लोग एक जैसे होते हैं और उसके बाहर जो भी हैं वे अलग होते हैं। अपना और पराया का भेद बनना शुरू होता है पर अपनी परिधि और सीमा का अतिक्रमण करना, उसे समावेशी पहचान बनाना जिसमें और भी समा सकें एक बड़ा अवसर प्रदान करता है। जुड़ने का भाव लेकर बन रही अस्मिता घ्सी होनी चाहिए जिसमें सभी शामिल हो सकें।

अब मुद्रित और इलेक्ट्रॉनिक दोनों प्रकार के मीडिया समाज के मानस और उसके कर्म की गति दोनों को तय कर रहे हैं। अब सरकार, नेता, अभिनेता, ज्ञानी, ध्यानी, योगी और विज्ञानी किसी की भी मीडिया की शरण में गए बिना खैर नहीं। चूंकि मीडिया में आये बिना अब कोई किसी की 'नोटिस' नहीं लेता इसलिए बिना मीडिया के किसी की भी गाड़ी आगे नहीं खिसक पाती है। जन संपर्क और विज्ञापन का यह विलक्षण और लोकप्रिय उपकरण, आज निश्चित रूप से विश्वस्तर पर एक बड़ा और प्रभावशाली व्यापार बन चुका है जिसमें बड़ी पूंजी लगी है। अतः मीडिया का अर्थतंत्र राजनीति, समाज और पर्यावरण सब को प्रभावित करता है। मीडिया का उपयोग और दुरुपयोग दोनों ही हो रहा है। उस पर अंकुश के प्रयास व्यर्थ साबित हो रहे हैं।

वास्तविक दुनिया के समानांतर एक और दुनिया बनाती-बसाती मीडिया हमारी वास्तविक और सजीव दुनिया को गढ़ने और बनाने-बिगाड़ने में खास भूमिका अदा कर रहा है। अब टीवी पर तरह-तरह के, जाने कितने चैनल जानी कितनी तरह की चीजें बड़े प्रभावी ढंग से दर्शक के सामने लगातार परोसते जा रहे हैं, कभी-कभी तो ऊब की हद तक। दर्शक के पास इस बात की छूट होती है कि वह वही देखे जो वह देखना चाहता है। समाचार, खेल, संगीत, सिनेमा, मनोरंजन, व्यापार, राजनीति और सामाजिक मुद्दों पर बहस मुबाहिसे से लेकर आध्यात्म सब कुछ वहां हाजिर है। अखबार, खास तौर पर हिंदी के (ज्यादातर!) अखबार विज्ञापनों से भरे पड़े होते हैं। आज प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से हमारा अनुभव जगत संतृप्त या 'सेच्यूरट' होता जा रहा है।

इंटरनेट की दुनिया जैसे-जैसे बढ़ रही है मीडिया का एक और प्रतापी रूप 'ट्विटर'। 'फेस बुक' और 'ब्लॉग' जिसे 'सोशल मीडिया' कहा जाता है अभिव्यक्ति, संवाद और संचार के रूप में अनेक प्रयोगों को जन्म दे रहे हैं जिसमें अभिव्यक्ति के नए रूप और विधान सामने आ रहे हैं। ई-पत्र और ई-पत्रिकाओं की भी वृद्धि हो रही है। इसका एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि इन ई-प्रकाशनों तक व्यापक पहुंच हो पाती है और इनमें छापे की समस्या भी नहीं रहती है। ये 'साफ्ट' रूप से उपलब्ध रहती हैं और आसानी से उनको प्रेषित और संचारित करना सुगम होता है। शीघ्रता से और दूर-दूर के, देश देशांतर के लोगों तक क्षण भर में पहुंचने का ऐसा सक्षम माध्यम जो (लगभग) असंख्य लोगों तक पहुंचा देता है पहले अकल्पनीय था। सूचना और ज्ञान का इस तरह का अनुभव क्रांतिकारी ही है।

आज का मीडिया शुष्क न होकर जीवंत और अत्यंत प्रभावी होता है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में घटनाएं और वार्तालाप आदि को इतने शक्तिशाली ढंग से सचित्र, गतिशील और सजीव रूप में उपस्थित किया जाता है कि यही लगता है मानों यही सब कुछ सच है। 'वर्चुअल' और और यथार्थ की दुनिया के बीच की खाई पटती जा रही है। आप इस अहसास से जुजराते से लगते हैं कि मानो सब कुछ आपके सामने ही तुरत-फुरत घटित हो रहा है और आप उसके एक प्रत्यक्षदर्शी गवाह ही

नहीं बल्कि घटनाक्रम के भागीदार हैं। हमारे अनुभव में भी किसी भौतिक वस्तु से उस वस्तु की जो छाया पड़ती है वह उससे आकार में बड़ी होती है। मीडिया की दुनिया में भी ऐसा ही होता दीखता है। एक घटना के होने और उस घटना की अनुकृति इन दोनों के बीच में अनुकृति ही बाजी मार ले जाती सी लगती है। इस माध्यम का बच्चे बूढ़े सबके मन मस्तिष्क पर बड़ा गहरा असर पड़ता दिख रहा है। मीडिया की यह दुनिया बड़ी तेजी से हमारी सोच, हमारे सोचने के तरीके, हमारी स्मृति और हमारे व्यवहार के साथ खेल रही है। वह सब कुछ को उलट-पुलट रही है। 'वर्चुअल' के साथ सब कुछ मीडिया से अनुबंधित होता जा रहा है। साथ ही पुरानी दुनिया के हिसाब से एक तरह की निष्क्रियता और जड़ता भी बढ़ती जा रही है। उसकी पहुंच का दायरा बहुत व्यापक हो चुका है। भूमंडलीकरण के दौर में अनुभव के देश काल के सतत विस्तार के साथ घटना और उसके साक्षात्कार से हमारे सीधे रिश्ते कम होते जा रहे हैं और मीडिया द्वारा मध्यस्थता के बाद ही हम उन तक पहुंच पाते हैं।

मीडिया में हिंदी की उपस्थिति असंदिग्ध रूप से बड़ी तेजी से बढ़ी है। जहां अखबार, और तरह-तरह की साहित्यिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक पत्रिकाएं विभिन्न आकार प्रकार में और अंतराल पर निकल रही हैं वहीं टी वी पर हिंदी के चैनलों की संख्या भी बढ़ रही है। टीवी चैनल, अब विशिष्ट होते जा रहे हैं और खेल, संगीत, सिनेमा, भक्ति और आध्यात्म आदि अनेक विषयों को समर्पित करते हैं। चूंकि मीडिया अर्थसाध्य है और उसके लिए अच्छी मात्रा में पूंजी निवेश करना पड़ता है इसलिए इस तरह के ज्यादातर उद्यम पूंजीपति के घरानों के कब्जे में हैं। उनकी राजनैतिक रुझान की प्रकृति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है और उसे आसानी से देखा जा सकता है। सभी अखबार-मालिक अपने संपादकों को अलग-अलग ढंग से और भिन्न-भिन्न सीमाओं तक की अभिव्यक्ति की छूट देते हैं।

ऐतिहासिक रूप से देखें तो यह स्पष्ट हो जाती है कि हिंदी के या अन्य भाषाओं के आरंभिक अखबार खास उद्देश्य से निकलने शुरू हुए थे। 'देश' उनके सरोकारों के केंद्र में बना हुआ था। वे स्वतंत्रता संग्राम के लिए काम कर रहे थे। साथ ही अधिकांश सम्पादक साहित्यिक पृष्ठभूमि के थे और उनकी रुचि सामाजिक-सांस्कृतिक हस्तक्षेप में थी। भाषा की दृष्टि से वे सचेत रहते थे और उनका प्रयास रहता था कि व्याकरण और शब्द चयन की दृष्टि से अनुशासन बरता जाए। वे यह सोच लेकर चल रहे थे कि समाचार पत्र या पत्रिका पाठकों की रुचि को परिष्कृत करते हैं। समाज का निर्माण उनका लक्ष्य था। आज की तरह उनके सामने बाजार के सवाल बहुत महत्त्व के नहीं थे। आज हिंदी के अखबारों पर नजर डालें और अंग्रेजी के अखबारों से तुलना करें तो सतर्क पाठक की नजरों में कुछ बातें स्पष्ट रूप से उभरकर आती हैं जो कमोवेश सभी अखबारों पर लागू होती हैं :

- इनमें विज्ञापनों की भरमार रहती है और पठनीय और संग्रहणीय सामग्री की कमी होती है।
- भाषा और व्याकरण की दृष्टि से सतर्कता कम होती है वर्तनी और वाक्य विन्यास में त्रुटियां होती हैं। इनका प्रस्तुति का स्वरूप कम प्रभावी होता है और पृष्ठ संख्या भी कम होती है। इनकी समग्र उपस्थिति से गंभीरता का अहसास नहीं होता है।
- कुछ अखबार मूल प्रकाशन संस्थान के अंग्रेजी अखबार की कमजोर अनुकृति जैसे प्रतीत होते हैं।

- दृष्टि और मुद्दों का चयन सतर्कता /सजगता से नहीं किया जाता है। फलतः कला, संस्कृति, साहित्य और अन्य क्षेत्रों में हो रहे विमर्शों पर विशेष बल नहीं दिया जाता है। यह भी उल्लेखनीय है की सम्पादकीय कर्म से जुड़े कर्मियों की पगार में भी भेदभाव होता है। हिंदी पत्रकारिता में लगे लोगों के वेतन अंग्रेजी अखबारों की तुलना में कम होते हैं। फिल्मों के द्वारा हिंदी का प्रचार प्रसार हुआ है पर यह भी देखने में आता है कि फिल्मों में हिंदी भाषा के साथ अत्याचार भी होता है। अक्सर हिंदी का भोंड़ा रूप हास्य के लिए प्रयुक्त होता है। शिष्ट प्रयोग से रहित भाषा निर्जीव होने लगती है।

आज भूमंडलीकृत हो रही व्यवस्था में हिंदी निशाने पर है। संवाद, संचार और व्यापार की बड़ी भाषा अब 'हिंगलिश' हो रही है जिसमें अंग्रेजी शब्दों की भरमार होती है। हिंदी के शब्दों को हटा कर उनकी जगह अंग्रेजी के शब्द आकर हिंदी शब्दों को विस्मृत करने लगे हैं। हिंदी का हिंगलिश रूप क्रियोलीकरण है जो 'ग्लोबल' बनने के लिए शर्त के रूप में पेश किया जा रहा है। इस तरह हिंदी भारत में ही व्यवहार के लिए अमान्य सी हो रही है। फिल्मों की तरह 'रीमिक्स' की भाषा से हिंदी का मानक रूप बदल रहा है। भाषा का चुनाव समाज के गौरव का विषय है और हिंदी की शक्ति का उपयोग करते हुए भारतीय समाज को समर्थ बनाया जा सकता है। भाषा अपने साथ हमें संस्कार भी देती है, हमें रचती गढ़ती है। हिंदीभाषी जनों और पूरे भारत की अस्मिता और विकास के लिए हिंदी मीडिया की जिम्मेदारी को नकारा नहीं जा सकता। मीडिया में हिंदी के बड़े व्यापक आशय हैं। अतः यह जरूरी है कि हिंदी को उसके अपने स्वभाव के अनुसार, उसकी प्रकृति की रक्षा करते हुए इस काम में नियोजित किया जाए। इस काम के लिए एक स्पष्ट नीति अपेक्षित है जिसके अनुसार प्रशिक्षण और प्रस्तुति को आयोजित किया जाए।



डिजिटल चुनौती : समाधान अभी बाकी है

बालेन्दु दाधीच

प्रिंट मीडिया के सामने चुनौतियों की कभी कमी नहीं रही। ज्यादातर चुनौतियां समय-सापेक्ष थीं, लेकिन मीडिया ने अपने आपको नए दौर के अनुरूप ढाला और प्रासंगिक बने रहने के तरीके खोजे। पिछले एक दशक से पारंपरिक मीडिया को एक नए मीडिया से चुनौती मिल रही है जिसका डिलीवरी मैकेनिज्म अलग है जो इंटरनेट के जरिए पाठक और दर्शक तक पहुंचता है और प्रिंट तथा टेलीविजन से ज्यादा सक्षम है, खास तौर पर अपनी इंटरएक्टिविटी की वजह से। यह है नया मीडिया या डिजिटल मीडिया।

इस नए मीडिया ने अमेरिका और यूरोप के पारंपरिक मीडिया में बहुत तबाही मचाई है क्योंकि बहुत से पाठक और विज्ञापन अखबारों से अलग हटकर सोशल मीडिया और वेबसाइटों की ओर चले गए। टेलीविजन के लिए भी स्थितियां कम चुनौतीपूर्ण नहीं हैं क्योंकि यू-ट्यूब, मेटा कैफे, यूस्ट्रीम और डेली मोशन जैसी ऑनलाइन वीडियो स्ट्रीमिंग वेबसाइटें दर्शक के लिए अलग किस्म का वीडियो प्लेटफॉर्म ले आई हैं। जहां डिजिटल टेलीविजन एक पेड सर्विस है वहीं ये सभी निःशुल्क वेबसाइटें हैं। खास बात यह है कि यहां दर्शक सिर्फ मूक दर्शक नहीं है बल्कि वह चाहे तो खुद ब्रॉडकास्टर भी बन सकता है। दूसरे यह कंटेंट टेलीविजन की तरह किसी खास समय के साथ बंधा हुआ नहीं है बल्कि दर्शक की सहूलियत के हिसाब से किसी भी समय देखा जा सकता है, यानी ऑन डिमांड।

प्रिंट मीडिया के उलट, अभी हाल तक टेलीविजन की दुनिया में किसी ने डिजिटल मीडिया की चुनौती को बहुत गंभीरता से नहीं लिया था। वास्तव में इसे एक अवसर समझा गया, जिसका प्रिंट और टेलीविजन ने पर्याप्त दोहन भी किया है। ट्विटर इसका एक शानदार उदाहरण है, जो खबरों के अकाल के समय संकटमोचक के रूप में उभरकर सामने आता है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी, दिल्ली के मुख्यमंत्री अरविंद केजरीवाल, जम्मू कश्मीर के पूर्व मुख्यमंत्री उमर अब्दुल्ला, पूर्व केंद्रीय मंत्री शशि थरूर, मनीष तिवारी, दिग्विजय सिंह और अमिताभ बच्चन, शाहरुख खान, आमिर खान, विशाल ददलानी जैसे फिल्मी कलाकार ऐसे संकट के समय अपने किसी न किसी दिलचस्प ट्वीट के जरिए नई खबर का सृजन कर देते हैं। सो, हम डिजिटल मीडिया को अपने लाभ के लिए इस्तेमाल करते रहे हैं। किसी मुद्दे पर तुरत-फुरत ऑनलाइन पोल करवा लिया और खबर बन गई। किसी के ब्लॉग या फेसबुक अकाउंट पर कोई विवादित टिप्पणी आ गई और खबर बन गई। यू-ट्यूब तो खबरों का खजाना है। एक भैसे ने शेर को खदेड़ दिया तो ब्रेकिंग न्यूज बन गई। मैंने सुना है कि हमारे चैनलों

में यू-ट्यूब के वीडियो को खबर के तौर पर प्ले करने के विशेषज्ञ खड़े हो गए हैं। एक टीवी चैनल ने तो दस सैकंड के वीडियो पर तीस मिनट का कार्यक्रम बना डाला। वह चाहता तो इस पर विशेषज्ञों के बीच आधे घंटे की चर्चा भी करवा सकता था। संभावनाएं तो अनंत हैं।

भारत में प्रिंट और टेलीविजन ने डिजिटल मीडिया को चुनौती के रूप में कम और अवसर के रूप में ज्यादा देखा है। वह काफी हद तक नए मीडिया की तरफ से पैदा होने वाले उस संकट को टालने में सफल हो गया है जो अमेरिका और यूरोप का मीडिया नहीं कर सका। आप जानते हैं कि वहां दर्जनों के हिसाब से अखबार बंद हो गए, न्यूजवीक जैसी पत्रिका प्रिंट मीडिया को अलविदा कर पूरी तरह ऑनलाइन हो गई। कंपनी मैगजीन, गोल्फ मैगजीन, पीसी मैगजीन, गोल्फ वर्ल्ड, जेट मैगजीन, स्मार्ट मनी, स्पिन मैगजीन, एसक्यू मैगजीन, एल स्टाइल जी स्टाइल आदि ऐसी ही कुछ मिसालें हैं। बंद होने वाले कुछ अखबार ऐसे हैं जो सौ साल से भी ज्यादा समय से प्रकाशित हो रहे थे। जिन अखबारों का बंद होना खास तौर पर दुःखद था, वे थे बाल्टीमोर सन, डेट्रॉइट फ्री प्रेस, द रॉकी माउंटेन न्यूज और सिएटल पोस्ट इंटेलीजेंसर। एसक्यू मैगजीन ने लिखा- A new era begins: Print is dead, we are going online only.

बहरहाल, बहुत से अखबार जैसे कि सानफ्रांसिस्को क्रॉनिकल, न्यूयॉर्क टाइम्स और वाशिंगटन पोस्ट अपने खर्चों पर जबरदस्त अंकुश लगाकर, शेयर या प्रॉपर्टी बेचकर या अमेजॉन के जेफ बेजोस जैसे उद्यमियों की आर्थिक मदद से उस संकट को टालने में कामयाब रहे। इन्होंने डिजिटल माध्यमों का खुद भी अच्छा प्रयोग किया और उससे प्रतिद्वंद्विता करने की बजाए उसके साथ खड़े हो गए। न्यूयॉर्क टाइम्स और वाशिंगटन पोस्ट ने तो डिजिटल मीडिया में बहुत मजबूत उपस्थिति बना ली है। उन्होंने जिस तरह इस संकट का सामना किया, उसका अध्ययन और मीमांसा करने की जरूरत है क्योंकि इसके भीतर से मीडिया के भविष्य की कुछ चुनौतियों के जवाब मिल सकते हैं।

मैं वहां के प्रिंट मीडिया के सर्कुलेशन के आंकड़े देख रहा था। वहां के समग्र सर्कुलेशन में सन् 2003 से गिरावट होनी शुरू हुई थी जो सन् 2009 तक निम्नतम स्तर तक पहुंच गई थी लेकिन एक साल बाद उसने फिर बढ़ना शुरू किया और सन् 2013 में वह 2003 के स्तर पर लौट गई। यदि इन आंकड़ों पर दशक के लिहाज से नजर डालें तो कहेंगे कि 2003 से 2013 तक अमेरिकी प्रिंट मीडिया की दस-वर्षीय वृद्धि दर लगभग 0.5 फीसदी रही। इससे जो संदेश निकलता है वह यह है कि डिजिटल मीडिया द्वारा पैदा किए गए जबरदस्त संकट के बावजूद और बड़ी संख्या में प्रकाशनों के धराशायी होने के बावजूद अमेरिकी प्रिंट मीडिया ने अपने आपको खड़ा रखने में कामयाबी हासिल की।

इस लिहाज से भारतीय मीडिया की मजबूती की तारीफ करनी चाहिए कि फिलहाल उसे ऐसी बड़ी कुरबानी नहीं देनी पड़ी। हालांकि इसके दूसरे कारण भी थे, जैसे हमारे यहां इंटरनेट का उतना ज्यादा प्रसार न होना और इंटरनेट बैंडविड्थ की सीमाएं। तकनीकी लिहाज से हमारा पिछड़ापन प्रिंट मीडिया के लिए डूबते को तिनके का सहारा सिद्ध हुआ। क्या कोई इस बात की गारंटी ले सकता है कि भविष्य में भी प्रिंट मीडिया पर ऐसा कोई संकट नहीं आएगा? जिस तरह मोबाइल का प्रसार हुआ है और इंटरनेट कनेक्टिविटी के प्रभावशाली आंकड़े सामने आ रहे हैं, उसमें खबरों का वैकल्पिक माध्यम यानी डिजिटल मीडिया धीरे-धीरे अपने आपको मजबूत करता जाएगा। वह प्रिंट और

टेलीविजन दोनों को चुनौती देगा।

डिजिटल मीडिया न सिर्फ इंटरएक्टिव है बल्कि वह पोर्टेबल भी है। वह अलग-अलग डिवाइस के लिहाज से रूप बदलने में सक्षम है, फिर चाहे वह टेलीविजन की बड़ी स्क्रीन हो या फिर कंप्यूटर की छोटी स्क्रीन। वह टैबलेट की आयताकार स्क्रीन हो या फिर मोबाइल फोन की लंबवत या वर्टिकल स्क्रीन। उसके लिए कोई सबस्क्रिप्शन प्लान लेने की जरूरत नहीं है। चाहिए तो सिर्फ एक अदद इंटरनेट कनेक्शन। ऊपर से पाठक को खुद पत्रकार बनने की आजादी देने की स्वाभाविक प्रवृत्ति एक किस्म की क्रांति को जन्म दे रही है।

हम इतिहास के उस दौर में हैं जहां खबरों और सूचनाओं के केंद्रीकृत नियंत्रण की व्यवस्था खतरे में है। शेन बोमैन और क्रिस विलिस ने कुछ साल पहले कहा था कि खबरों के चौकीदार के रूप में पारंपरिक मीडिया की भूमिका को सिर्फ तकनीक या प्रतिद्वंद्वियों से ही खतरा नहीं है बल्कि उसके अपने उपयोगकर्ताओं से भी है। क्योंकि न्यू मीडिया ने उपयोगकर्ता को सप्लायर भी बना दिया है। आज मैं कहूंगा कि लिविंग रूम के चौकीदार के रूप में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया या टेलीविजन के एकाधिकार को भी डिजिटल मीडिया से खतरा है।

आपने इसका उदाहरण पिछले दिनों देखा है। यू-ट्यूब पर वीडियो प्रोड्यूसरों की ऐसी जमात उभर रही है जो अपने कंटेंट को ब्रॉडकास्ट करने के लिए टेलीविजन पर निर्भर नहीं है। नई तकनीकों ने वीडियो प्रॉडक्शन को बहुत सस्ता और आसान बना दिया है। क्या आपने 'एआईबी' या ऐब और 'द वायरल फीवर' के बारे में सुना है? ये कुछ ऐसे वीडियो निर्माता हैं जो एकदम नई किस्म का वीडियो कंटेंट लेकर आ रहे हैं और उसे इंटरनेट के जरिए डिलीवर कर रहे हैं। इनकी लोकप्रियता भी आश्चर्यजनक तेजी से बढ़ रही है।

यहां एक उदाहरण काबिले गौर है। भारत में स्टार समूह की इस बात के लिए काफी तारीफ हो रही है कि उसने इंटरनेट का बहुत अच्छा इस्तेमाल किया है। अभी पिछले हफ्ते ही खबर थी कि विश्व कप क्रिकेट 2015 में भारत और पाकिस्तान के मैच का वीडियो जो स्टार समूह ने इंटरनेट पर अपलोड किया, उसे 21.4 लाख लोगों ने देखा। स्टार ग्रुप को बधाई देने की जरूरत है। जरा इसकी तुलना द वायरल फीवर और एआईबीजैसे ऑनलाइन वीडियो कंटेंट निर्माताओं से कीजिए। हालांकि वित्तीय आधार पर देखें तो दोनों के आकार में कोई तुलना हो ही नहीं सकती। एक तरफ भारत का सबसे सफल और सबसे बड़ा मीडिया समूह है और दूसरी तरफ चंद मरजीवड़े इंटरनेट-योद्धा। बहरहाल, इस महीने के शुरू में एआईबी के कुल वीडियो व्यूज 6.3 करोड़ तक जा पहुंचे थे। इतना ही नहीं, उसे दस लाख से अधिक इंटरनेट यूजर्स ने सबस्क्राइब कर रखा है। यानी एआईबी का हर वीडियो, जो यू-ट्यूब पर डाला जाता है उसे कम से कम दस लाख लोग तो देखेंगे ही इसकी गारंटी है।

क्या नए किस्म के वीडियो कंटेंट का उभार पारंपरिक टेलीविजन के लिए खतरा बन सकता है या फिर ऐसा माना जाए कि वह अपने आप में एक अलग धारा है जो टेलीविजन को नुकसान पहुंचाए बिना अपने रास्ते पर चलती रहेगी। उसमें भी लोग कामयाब होंगे लेकिन टेलीविजन अपनी जगह पर मजबूती से जमा रहेगा। माफ कीजिए, मुझे लगता है कि बात उतनी सीधी-सरल नहीं है। यहां वीडियो के दर्शक और वीडियो कंटेंट देखने का समय यानी व्यूइंग ऑवर्स टेलीविजन और इंटरनेट

के बीच विभाजित हो रहे हैं। जो आदमी पहले टेलीविजन पर समय गुजारता था, वह अब अपना काफी समय मोबाइल फोन और इंटरनेट को देता है। और इस प्रक्रिया में टेलीविजन अपने व्यूइंग ऑवर्स खो रहा है।

इस परिघटना के कई पहलू हैं। पहला यह कि हमारे टेलीविजन चैनलों का कंटेंट स्टीरियो टाइप यानी एकरसता-पूर्ण हो रहा है। मुझ जैसे बहुत से लोगों को सास बहू के सीरियलों में दिलचस्पी नहीं है और समाचार चैनलों के लिए हमारी क्षुधा या एपेटाइट सीमित है। हर शाम हम रिमोट लेकर भटकते रहते हैं कि देखें तो क्या देखें। महिलाओं को छोड़कर एक बहुत बड़ा तबका है जो टेलीविजन की एकरसता से ऊब चुका है।

दूसरी तरफ इंटरनेट आधारित वीडियो कंटेंट एकदम नई तरह का है- ताजा ताजा, फ्रेश और दिलचस्प। एकदम नई तरह की कॉमेडी, नई तरह के स्पूफ और प्रैंक.. जैसे कि ऐब या वायरल फीवर की तरफ से पेश कंटेंट। अर्णब गोस्वामी और अरविंद केजरीवाल की नकल करते हुए द वायरल फीवर की तरफ से बनाया गया एक वीडियो जिसका नाम है Arnab's Qtiapa, वह यू-ट्यूब पर करीब 50 लाख बार देखा जा चुका है। आखिरकार कहां से आ रहे हैं ये दर्शक? कुछ नए दर्शक हैं और कुछ टेलीविजन के दर्शक हैं। इस बात का अहसास इन वीडियो निर्माताओं को भी है कि वे टेलीविजन के दर्शकों को अपनी तरफ खींचने में सक्षम हैं। इसलिए उन्होंने अब पूरे के पूरे ऑनलाइन फिक्शन सीरियल बनाने शुरू कर दिए हैं। एक नई किस्म की वीडियो क्रांति के मुहाने पर खड़े हैं हम।

इसके तकनीकी पहलुओं पर भी गौर करना जरूरी है। क्रोमकास्ट जैसे गैजेट्स, जो अब भारत में भी मौजूद हैं, उन्होंने ऑनलाइन वीडियो को टेलीविजन पर देखना बहुत आसान बना दिया है। बस अपने टेलीविजन के एचडीएमआई स्लॉट में पेन ड्राइव जैसा एक छोटा सा गैजेट घुसाइए और कंप्यूटर या टैबलेट पर चलने वाले तमाम इंटरनेट वीडियो तुरंत टेलीविजन पर चलने शुरू हो जाते हैं। अमेरिका में हलू एक बेहद लोकप्रिय वीडियो स्ट्रीमिंग सर्विस है। वह इंटरनेट के जरिए कंटेंट वितरित करती है जो टेलीविजन, कंप्यूटर, टैबलेट, वेबसाइट आदि पर देखा जा सकता है। नेटफ्लिक्स और अमेजॉन भी ऐसी ही सेवाएं देते हैं। ये सेवाएं बहुत लोकप्रिय हो रही हैं और धीरे-धीरे लोग टेलीविजन पर वीडियो कंटेंट देखने के लिए भी इंटरनेट की तरफ बढ़ रहे हैं।

इन दिनों अमेरिकी टेलीविजन बाजार में बड़ा बदलाव चल रहा है। केबल टीवी या डीटीएच की पारंपरिक सेवाएं बहुत महंगी हैं। नील्सन के एक सर्वे के मुताबिक आम अमेरिकी घर में औसतन 189 टेलीविजन चैनल उपलब्ध हैं जबकि वह उनमें से सिर्फ 17 को देखता है। यानी लगभग 90 फीसदी चैनलों के लिए दर्शक बेवजह भुगतान करता है। वक्त की कमी के साथ-साथ महंगे डीटीएच प्लान लोगों को केबल कनेक्शन छोड़ने पर मजबूर कर रहे हैं। इनके जवाब में इंटरनेट आधारित टेलीविजन स्ट्रीमिंग सेवाएं लोकप्रिय हो रही हैं। वहां डिश टीवी की स्लिंग टीवी नामक सर्विस ऐसी ही है जिसमें सिर्फ 20 चैनल उपलब्ध कराए जाते हैं और उपभोक्ता का खर्च एक चौथाई से भी कम रह जाता है। कल की खबर है कि एपल भी इस क्षेत्र में प्रवेश करने ज रहा है। उसका एपल टीवी और गूगल का गूगल टीवी इस तरह के कंटेंट की इंटरनेट के माध्यम से डिलीवरी करने में सक्षम है। इस बात का जिक्र करना जरूरी है कि भारत में भी डिश टीवी और टाटा स्काई ने टीवी देखने के लिए एप्प जारी किए हैं लेकिन ये उन्हीं लोगों को उपलब्ध हैं जिनके पास अपने टेलीविजन के

लिए बुनियादी डीटीएच कनेक्शन पहले से मौजूद है।

एक्सपेरियन मार्केटिंग सर्विसेज की एक रिपोर्ट के मुताबिक सन् 2010 में अमेरिका में 51 लाख लोगों ने केबल कनेक्शन छोड़ दिए थे। इसके तीन साल बाद का आंकड़ा है- 76 लाख। यानी पारंपरिक टेलीविजन को अलविदा करने वालों की संख्या हर तीन साल में 44 फीसदी की रफ्तार से बढ़ रही है। आप खुद सोच लीजिए कि वैश्विक स्तर पर हालात किस दिशा में जा रहे हैं?

मैं यह नहीं कहता कि टेलीविजन के लिए अस्तित्व के संकट जैसी कोई चीज आने वाली है लेकिन इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का कारोबार गंभीर रूप से प्रभावित हो सकता है। तकनीकी माध्यम सिर्फ दर्शकों को ही आकर्षित नहीं कर रहे, वे वहां चोट कर रहे हैं जहां दर्द ज्यादा होता है, यानी विज्ञापन। डिजिटल मीडिया ने प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के विज्ञापनों से एक बड़ा टुकड़ा काट लिया है। डिजिटल मीडिया का विज्ञापन मॉडल बहुत इनोवेटिव है और सच कहा जाए तो उसमें दर्शकों और विज्ञापनदाताओं दोनों का लाभ है।

इस मॉडल को समझने की कोशिश करते हैं। आप जानते हैं कि इंटरनेट से जुड़े हर कंप्यूटर या गैजेट की एक विशिष्ट पहचान होती है। इसे आईपी एड्रेस कहते हैं। इसी की बदौलत, किसी वेबसाइट पर कौन व्यक्ति किस जगह से विजिट कर रहा है, इसे जानना बहुत आसान है। दूसरे Big Data जैसी आधुनिक तकनीकें ऑनलाइन Users का और भी बहुत सारा ब्यौरा हासिल करने में सक्षम हैं, जैसे उनकी उम्र, पसंद-नापसंद, आय, लिंग आदि। ऑनलाइन विज्ञापनों को किसी खास वर्ग के दर्शकों की तरफ Target किया जा सकता है, जो टेलीविजन या अखबार के मामले में संभव नहीं है। इसमें विज्ञापनदाता का लाभ है क्योंकि उसे खास उन्हीं व्यक्तियों तक पहुंचने की सुविधा मिल जाती है, जिन्हें वह लक्ष्य बनाकर चल रहा है। मिसाल के तौर पर गोरेपन की क्रीम का विज्ञापन देने वाली कंपनी यह चाहेगी कि उसके विज्ञापन सिर्फ 30 साल से कम उम्र की युवतियों को ही दिखाए जाएं। विज्ञापन वितरित करने वाला प्लेटफॉर्म यह सुनिश्चित कर सकता है कि यह विज्ञापन सिर्फ इसी वर्ग के दर्शकों को दिखाई दे, दूसरों को नहीं।

अब यू-ट्यूब का उदाहरण देखिए। वहां पर वीडियो के पहले विज्ञापन दिखाए जाते हैं लेकिन आपको यह तय करने की आजादी है कि आप किसी विज्ञापन को पूरा देखना चाहते हैं या पांच सेकेंड की अवधि के बाद उसे बंद कर मूल वीडियो पर ध्यान केंद्रित करना चाहते हैं। विज्ञापन दर्शक के काम का है तभी वह उसे देखेगा, अन्यथा आगे बढ़ जाएगा। यहां विज्ञापनदाता को तसल्ली है कि उसका विज्ञापन सिर्फ उन्हीं लोगों ने देखा जो उसका उत्पाद खरीदने में दिलचस्पी रखते हैं। उसे खर्चा भी सिर्फ उतने ही विज्ञापनों के लिए देना पड़ा। अगर यही विज्ञापन टेलीविजन पर आता तो भले ही कोई उसे देखे या नहीं, विज्ञापन की दर में कोई अंतर आने वाला नहीं था। दर्शक भी विज्ञापनों की झड़ी का शिकार होने के लिए अभिशप्त नहीं है, क्योंकि उसके पास चुनने की आजादी है।

ऑनलाइन माध्यमों पर विज्ञापनों की एक बेहद लोकप्रिय पद्धति है जिसे कहते हैं- Pay Per Click। इसके तहत विज्ञापनदाता को विज्ञापन के प्रदर्शन के लिए पैसा नहीं देना होता बल्कि उसे तभी पैसा देना है जब किसी यूजर ने उसके विज्ञापन को क्लिक किया। यानी वह क्लिक करने के बाद विज्ञापनदाता की वेबसाइट या उसके उत्पाद के पेज तक पहुंचा। टेलीविजन या अखबार में ऐसी व्यवस्था कहां है? आप अनुमान लगा सकते हैं कि ऑनलाइन मीडिया की विज्ञापन प्रणाली

विज्ञापनदाताओं के लिए ज्यादा लाभप्रद है। इतना ही नहीं, वह ज्यादा परिणामोन्मुखी भी है क्योंकि जब यूजर विज्ञापन पर क्लिक कर कंपनी के वेब पेज पर पहुंचता है तो वह वहीं पर उत्पाद के लिए ऑर्डर भी कर सकता है। दर्शक के खरीददार के रूप में कनवर्जन की दर यहां ज्यादा है। इसलिए अनायास नहीं है कि पश्चिमी देशों में विज्ञापनदाताओं के लिए ऑनलाइन मीडिया ज्यादा पसंदीदा विकल्प बन रहा है। देर-सबेर भारत में भी ऐसा हो सकता है।

एक महत्वपूर्ण रुझान जिस पर कम लोगों का ध्यान गया है, वह है समाचारों के क्षेत्र में तकनीकी कंपनियों की बढ़ती उपस्थिति। याद कीजिए शॉन बोमैन और क्रिस विलिस का वह बयान कि खबरों के गेटकीपर के रूप में पारंपरिक मीडिया की भूमिका खतरे में है। आज दुनिया में खबरों तक पहुंचने का सबसे बड़ा माध्यम अगर कोई है तो वह है गूगल न्यूज, और गूगल कोई मीडिया कंपनी नहीं है बल्कि तकनीकी कंपनी है। यही बात याहू और एमएसएन पर लागू होती है। भारत में रीडिफ और सिफी जैसी कंपनियों के पोर्टल खबरों के सबसे बड़े स्रोतों में माने जाते हैं और ये मूल रूप से मीडिया कंपनियां नहीं हैं बल्कि सूचना प्रौद्योगिकी और विज्ञापन कंपनियां हैं। नए मीडिया ने खबरों के क्षेत्र को सबके लिए खोल दिया है। इसमें फायदा किसका है और नुकसान किसका, इसका अंदाजा लगाना बहुत मुश्किल नहीं है।

डिजिटल माध्यमों की चुनौती टेलीविजन और प्रिंट दोनों के लिए समान है। वह आने वाले दिनों में और गंभीर हो सकती है। लेकिन इसे टालना संभव है। इसका सिर्फ एक तरीका है, खुद को नए दौर के अनुरूप ढालना और इनोवेशन या नएपन की तरफ कदम बढ़ाना। पारंपरिक मीडिया किस तरह नए मीडिया के साथ जुड़ सकता है, इसी में उसकी स्थायी कामयाबी निहित है। न्यूयॉर्क टाइम्स, वाशिंगटन पोस्ट और हमारा अपना टाइम्स ऑफ इंडिया समूह इसके अच्छे उदाहरण हैं। डिजिटल मीडिया की चुनौती तब चुनौती नहीं रह जाती जब हम उसके खिलाफ खड़े होने की बजाए उसके साथ खड़े हो जाते हैं और उसकी शक्तियों का अपने विकास के लिए इस्तेमाल करने लगते हैं।

जहां तक हिंदी मीडिया का सवाल है, हमने अपने डिजिटल इनोवेशन को ई-पेपर उपलब्ध कराने, अपने अखबार या टेलीविजन चैनल की वेबसाइट बना लेने और मोबाइल एप पर टीवी प्रोग्राम या खबरों की डिलीवरी करने तक सीमित रखा है। यह एक अच्छी शुरुआत जरूर है लेकिन पर्याप्त नहीं है। नए माध्यमों का दोहन करने के लिए नई सोच की जरूरत है।

इस दिशा में अच्छा काम करने वालों में मुझे दो-तीन समूह दिखाई देते हैं, जैसे टाइम्स ऑफ इंडिया समूह जो कंटेंट के साथ-साथ सर्विसेज, ई-कॉमर्स और पारंपरिक मीडिया से स्वतंत्र एप्स में सक्रिय है। उसकी कुछ वेबसाइटें और पोर्टल बहुत ही अच्छा प्रदर्शन कर रहे हैं, जैसे- Magicbricks.com, Simplymarry.com और TimesJobs.com। उसके कई एप्स भी हैं जिनमें Gaana.com काफी लोकप्रिय है। नेटवर्क 18 समूह जो नई किस्म की वेबसाइटें और सेवाएं लेकर आया है, इनमें compareindia.com, in.com और tech2.com खास तौर पर उल्लेखनीय हैं। हिंदुस्तान टाइम्स समूह ने भी कुछ इनोवेटिव प्रयास किए, हालांकि उसका go4i चल नहीं सका। आज भी उसकी एक Niche osclkbVshine.com मौजूद है जो ठीकठाक स्थिति में है।

एक अहम इनोवेशन जो इन दिनों देखने को मिला है, वह है स्टार इंडिया का हॉट स्टार। यह

एक वीडियो स्ट्रीमिंग सर्विस है जो मोबाइल एप्लीकेशन और वेबसाइट के जरिए स्टार के लोकप्रिय कार्यक्रमों की स्ट्रीमिंग करती है। स्टार के सीईओ उदय शंकर इनोवेशन के लिए जाने जाते हैं और उन्होंने हमेशा अपनी नई सोच की छाप छोड़ी है। हॉट स्टार भी उनका भविष्योन्मुखी और बेहद इनोवेटिव कदम है जिसे बहुत ही सही मौके पर, यानी क्रिकेट विश्व कप के मौके पर लांच किया गया। यह स्टार के पारंपरिक टेलीविजन चैनलों के बजाए यह ऐप्प वैकल्पिक डिलीवरी माध्यम का इस्तेमाल करता है लेकिन परिणाम क्या है? स्टार समूह के लिए ज्यादा दर्शक तैयार करना जो कार्यक्रम पहले ही प्रसारित हो चुके हैं उनके लिए नए दर्शक लाना और विज्ञापनों का भी नया प्लेटफॉर्म तैयार करना। लांच होने के एक महीने से भी कम समय में 'हॉट स्टार' के डाउनलोड का आंकड़ा एक करोड़ तक जा पहुंचा। जाहिर है, नवोन्मेष (इनोवेशन) तथा नए माध्यमों की समझ के जरिए उन्हें साथ लेकर चलना और अपने विकास के लिए इस्तेमाल करना असंभव नहीं है। .. और संभवतः यही परस्पर सह-अस्तित्व का रास्ता भी है।



ये बीमारियां तो पुरानी भी हैं और जटिल भी!

कृष्ण प्रताप सिंह

इस देश के मीडिया की खुद को मुख्य कहने वाली धारा आम लोगों के सुख-दुःख, चिंताओं व सरोकारों को लेकर इतनी उदासीन या कि इस सीमा तक उनके विरोध में क्यों है कि कई बार उसे अभिजनवादी कहने का मन होता है? ईमानदारी से दिया जाए तो इसका उत्तर एक ही हो सकता है : इसलिए कि इस मीडिया के जन्म से अब तक उसका एजेंडा वह एकाधिकारवादी और आवारा पूंजी तय करती आ रही है, जिसकी मनमानियों पर नियंत्रण पाने का इस देश की जनता का सपना अभी भी सपना ही है। यह पूंजी ग्लोबल होने व बिग मनी का रूप धारण करने से पहले तक मनमानियों की अति करने में थोड़ी शरमाया करती थी, मगर अब इतनी निर्लज्ज हो गयी है कि उसे अपने अंतिम लज्जावसन उतार फेंकने में भी संकोच नहीं हो रहा।

यों, समता पर आधारित, नैतिक व जिम्मेदार समाज का निर्माण न शरमाने के दिनों में उसके एजेंडे पर था और न आज है। यह जानने के बावजूद कि आम लोगों की हितचिंतक पत्रकारिता का ठीक से पलना-बढ़ना ऐसे समाज में कतई संभव नहीं जिसका अस्तित्व शोषण पर ही टिका हो। सिर्फ और सिर्फ अपने हितों की चिंता करने वाली इस पूंजी ने लगातार ऐसी स्थितियां निर्मित की हैं कि कोई भी मीडिया सिर्फ अपने पाठकों या दर्शकों के बल पर खड़ा न रह सके। न ही प्रगतिशील सोचों व सरोकारों की उसके निर्णायक पदों पर पहुंच या कि निर्णयों में मजबूत भागीदारी हो सके।

हां, इस पूंजी को अब इसलिए भी शर्म नहीं आती कि उसने न सिर्फ हमारी राजनीति बल्कि समूचे राष्ट्र व राज्य की शक्तियों का अतिक्रमण करके उन्हें इस हालत में ला दिया है कि वे अमेरिकी संदर्भों में प्रेसिडेंट रूजवेल्ट द्वारा उठाए गए इन सवालों की भारतीय संदर्भों में चर्चा तक से असुविधा महसूस करते हैं कि शासन कौन करेगा, पैसा या प्रतिभा? सार्वजनिक पदों पर कौन आसीन होगा, शिक्षित, स्वतंत्र, देशभक्त अथवा पूंजीवादी गुटों के सामंती दास?

फिर इस सवाल से भला कौन और कैसे जूझे कि पूंजी द्वारा निर्मित, गैरबराबरी व शोषण पर आधारित, गैरजिम्मेदार, अनैतिक व अमानवीय समाज व्यवस्था में मीडिया जनता से जुड़ाव का भ्रम भले ही सृजित कर सकता हो, उससे सच्चे रूप में कैसे जुड़ सकता है? कैसे समझ सकता है कि जनविरोधी व्यवस्थाओं का वास्तविक प्रतिरोध और बात है और उसका पाखंड रचना और बात।

गौर कीजिए, इसी पाखंड के चलते यह मीडिया भले ही खुद को प्रतिरोध की लंबी परंपरा का वारिस बताता है, संचारक्रांति के सारे हथियारों से लैस और हमारे दैनंदिन जीवन को सबसे ज्यादा

प्रभावित करने की स्थिति में होने के बावजूद न प्रतिरोध की जिम्मेदारी को ठीक से निभाता है और न ही व्यवस्था का जश्न मनाने से बच पाता है।

इसकी मुख्यधारा तो प्रतिरोध की ऊपर उल्लिखित लंबी परंपरा से इतनी आक्रांत या अभिभूत रहती है कि सारे के सारे असुविधाजनक सवालों के लिए उसके 'वर्तमान पतन' को ही जिम्मेदार ठहराने और 'सुनहरे अतीत' का गौरव गाने से आगे नहीं बढ़ पाती। कतई सोच नहीं पाती कि उनमें से कई की जड़ें वर्तमान की पतनशील प्रवृत्तियों के अलावा उस 'गौरवशाली' परंपरा की आड़ में भी छिपी हो सकती हैं या कुछ जवाबों के लिए वहां भी उत्खनन की जरूरत हो सकती है।

उत्खनन पर उतरें तो हम पाते हैं कि यह मीडिया अपने उद्देश्यों, लक्ष्यों, मूल्यों, और मानदंडों से जिन विचलनों के लिए बदनाम है, उनमें से कई की जड़ें उन दिनों की पत्रकारिता में भी हैं जब कहा जाता है कि वह प्रतिरोध की परंपरा के निर्माण में रत थी। कहने का मतलब यह कतई नहीं है कि अपने उसूलों के प्रतिबद्ध पत्रकारों द्वारा उन दिनों दी गई कुरबानियां कुछ कम थीं लेकिन इस बात का क्या किया जाए कि एकाधिकारी पूंजी के दखल के कारण उस माहौल में भी ऐसे विचलनकारी तत्वों की कमी नहीं थी, जिन्होंने पत्रकारिता व पत्रकारों दोनों को अपने स्वार्थों के लिए इस्तेमाल करने का बीड़ा उठाया हुआ था। जो प्रतिबद्ध थे, उनके लिए चुनौतियां लगभग आज जैसी ही थीं। अंदर से भी और बाहर से भी।

एक उदाहरण से बात और साफ होगी कि 1919 के जलियांवाला बाग कांड के बाद साम्प्रदायिक दंगे ब्रिटिश सरकार की बहुत बड़ी जरूरत बन गए। इसलिए भी कि असहयोग आंदोलन ने उसकी नाक में दम कर रखा था इसलिए बाद के बरसों में उसने देश के कई हिस्सों में अमानवीय हिंदू-मुस्लिम संघर्ष भड़का दिये। ऐसे में पत्रकारिता का कर्तव्य क्या था और उसने किया क्या? जवाब बहुत विचलित करने वाला है। पढ़िए शहीद-ए-आजम सरदार भगत सिंह की कलम से 'पत्रकारिता का व्यवसाय जो किसी समय बहुत ऊंचा समझा जाता था, आज बहुत ही गंदा हो गया है। अखबार एक दूसरे के विरुद्ध बड़े मोटे-मोटे शीर्षक देकर लोगों की भावनाएं भड़काते और परस्पर सिरफुटौव्यल कराते हैं। एक दो जगह ही नहीं, कितनी ही जगहों पर इसलिए दंगे हुए हैं कि स्थानीय अखबारों ने बड़े उत्तेजनापूर्ण लेख लिखे। ऐसे लेखक, जिनका दिल व दिमाग ऐसे दिनों में भी शांत रहा हो, बहुत कम हैं।'

जून 1928 की 'किरती' में ये बातें भगत सिंह ने सिर्फ पंजाबी के अखबारों के लिए थोड़े ही लिखीं। फिर वे यहीं नहीं रुकते। आगे लिखते हैं, 'अखबारों का असली कर्तव्य शिक्षा देना, लोगों के दिल व दिमाग से संकीर्णताएं निकालना, साम्प्रदायिक भावनाएं हटाना, परस्पर मेलमिलाप बढ़ाना और भारत की साझी राष्ट्रियता बनाना था लेकिन उन्होंने अपना मुख्य कर्तव्य आतंक फैलाना, संकीर्णता का प्रचार करना, सांप्रदायिक बनाना और भारत की साझी राष्ट्रियता को नष्ट करना बना लिया है।'

लेकिन तत्कालीन पत्रकारिता को भगत सिंह की इस राय से कोई फर्क नहीं पड़ना था और नहीं पड़ा। जाहिर है कि ऐसे में उसकी बहुजनविमुखता बढ़ती ही जानी थी। 1943 आते-आते वे इतनी बढ़ गई थीं कि 18 जनवरी को पूना के गोखले मेमोरियल हाल में महादेव गोविंद रानाडे के 101वें जयंती समारोह को संबोधित कर रहे डॉ. भीमराव अम्बेडकर को कहना पड़ा, 'कभी भारत में

पत्रकारिता एक व्यवसाय थी लेकिन अब वह व्यापार बन गई है। साबुन बनाने जैसी, उससे अधिक कुछ नहीं। उसमें कोई नैतिक दायित्व नहीं है और वह स्वयं को जनता की जिम्मेदार सलाहकार नहीं मानती।....इस बात को अपना सर्वप्रथम व सर्वोपरि कर्तव्य नहीं मानती कि तटस्थ भाव से निष्पक्ष समाचार दे, सार्वजनिक नीति के उस निश्चित पक्ष को प्रस्तुत करे, जिसे वह समाज के लिए हितकारी समझे।....चाहे कोई कितने ही उच्च पद पर हो, उसकी परवाह किए बिना, बिना किसी भय के उन सभी को सीधा करे और लताड़े, जिन्होंने गलत अथवा उजाड़ पथ का अनुसरण किया है। उसका तो प्रमुख कर्तव्य यह हो गया है कि नायकत्व को स्वीकार करे और उसकी पूजा करे।....उसकी छत्रछाया में समाचारों का स्थान सनसनी ने, विवेकसम्मत मत का विवेकहीन भावावेश ने, उत्तरदायी लोगों के मानस के लिए अपील का दायित्वहीनों की भावनाओं के लिए अपील ने ले लिया है।।...वह ऐसा लेखन है, जैसे ढिंढोरचियों ने अपने नाम का ढिंढोरा पीटा हो। नायकपूजा के प्रचार-प्रसार के लिए कभी भी इतनी नासमझी से देशहित की बलि नहीं चढ़ाई गई है। नायकों के प्रति ऐसी अंधभक्ति पहले कभी देखने में नहीं आई, जैसी आज चल रही है।’

बाद में इस भाषण के प्रकाशन के लिए डॉ. अंबेडकर ने जो प्रस्तावना लिखी, उसमें ‘कांग्रेसी पत्रों’, जिन पर आजादी के बाद प्रतिरोधी होने का मुलम्मा पढ़ा दिया गया, द्वारा अपनी अलानाहक निंदा व आलोचना पर गहरा क्षोभ व्यक्त किया। कहा कि, ‘वे... मेरी हर बात की गलत सूचना देते हैं, उसे गलत तरीके से प्रस्तुत करते और उसका गलत अर्थ लगाते हैं।...मेरे प्रति...उनका यह द्वेष व वैरभाव अछूतों के प्रति हिंदुओं के घृणाभाव की अभिव्यक्ति ही है।’

गौर कीजिए, जब आजादी के संघर्ष की सफलता के लिए जाति-धर्म के भेद से परे सारे देशवासियों की अटूट एकजुटता की जरूरत थी, तब भी उसकी पत्रकारिता दलितों व वंचितों के प्रति विभाजनकारी ‘घृणाभाव की अभिव्यक्ति’ से परहेज नहीं कर रही थी। बाद में ऐसी ही अभिव्यक्तियों के लिए कांशीराम ने बार-बार उसको मनुवादी कहा, तो इसके लिए उसका वर्तमान पतन जिम्मेदार था या अतीत से चला आता पूंजीपोषित, अभिजनवादी और जनविरोधी संकीर्ण सोच? पूंजी नियंत्रित मीडिया ने मनुवादी होने की तोहमत स्वीकार कर ली लेकिन खुद को आईने के सामने करने की जरूरत नहीं समझी। आज वह मोदी के रूप में जैसी नायकपूजा करता है और इसके लिए नासमझी में नहीं बल्कि जानबूझकर देशहित की जैसी बलि चढ़ाता दिखता है, क्या वह डॉ. अंबेडकर के समय का विस्तार भर नहीं है?

थोड़ा और पीछे जाएं तो क्या इसका जुड़ाव उस परंपरा से है जो ‘पूरी अमी की कटोरिया सी।....विक्टोरिया रानी’ के चिरंजीवी होने की प्रार्थना में मगन थी और जिसके लिए आजादी के संघर्ष की बस इतनी सी प्रासंगिकता थी कि वह सफल हो गया तो देश के धन के विदेश चले जाने का भारी दुःख खत्म हो जायेगा। वरना तो ‘अंग्रेज राज सुख साज सजै सब भारी!’

भगत सिंह और डॉ. अंबेडकर के उपर्युक्त कथनों के आलोक में सोचिए कि देश की बहुसंख्यक जनता के हितों की दृष्टि से मीडिया या कि पत्रकारिता का आजादी के पहले का चरित्र इतना ‘गौरवशाली’ है तो क्यों नहीं उसके कर्ताधर्ता भाजपा नेता लालकृष्ण आडवाणी के बहुचर्चित कथन के अनुसार आपातकाल में झुकने को कहे जाने पर लेट जाते? तब जिस ‘नई दुनिया’ ने इमर्जेंसी का यथासम्भव प्रतिरोध किया, उसके संपादक राजेन्द्र माथुर को इमर्जेंसी हटाए जाने की सूचना मिलने

पर खुशी के बजाए अफसोस क्यों नहीं होता? क्यों नहीं वे इस नतीजे पर पहुंच जाते कि 'यह देश के लिए गौरव का क्षण न होकर आत्मावलोकन का है।' श्रीमती गांधी ने जब तक प्रेस की आजादी को रौंदने में लाभ देखा, उसे रौंदा और जब वापस कर देने में लाभ देखा, वापस कर दिया। इस देश से इतना भी नहीं बन पड़ा कि वह उनकी कलाइयां मरोड़कर अपनी आजादी छीन लाता। उसने तो इमर्जेंसी और उसके दमन को इस कदर स्वीकार कर लिया था कि देखते ही देखते वह फलने-फूलने लगी थी।

जाहिर है कि 1990-92 में अयोध्या में राममंदिर के बहाने बेकाबू हो उठी सांप्रदायिकता के दौर में एक बार फिर अपने रंग में आ गई तो इसका कारण भी, निस्संदेह, पूंजी द्वारा उसका एजेंडा तय किया जाना ही था। पूंजीशाह चाहते थे कि राममंदिर आंदोलन की सांप्रदायिक सनसनी को अपना प्रसार व पहुंच बढ़ाने व लाभ कमाने के लिए भुनाया जाए। इससे देश में घृणा फैलती है और लोग एक दूजे की जान के प्यासे हो जाते हैं तो हों! क्या उनकी इस प्रवृत्ति के कारणों की केवल आज के परिवेश में तलाश वैसे ही नहीं होगी जैसे पुलिस को और कुछ नहीं सूझता या वह और कुछ नहीं करना चाहती तो कत्ल हुए व्यक्ति के घर में ही उसके कातिल की तलाश करने लगती है।

सांप्रदायिकता के उभार के लिए हम अंग्रेजों की विभाजनकारी नीतियों को जिम्मेदार ठहराते हैं पर क्या वैसे ही किसी उभार को अपने धंधे में सहायक मानकर उसको पैदा करने और बढ़ाने में लग जाने की जो प्रवृत्ति हिंदी पत्रकारिता के एक बड़े हिस्से ने 1990-90 में प्रदर्शित की, उसे इस पत्रकारिता द्वारा भगत सिंह के समय से ही निर्धारित 'मुख्य कर्तव्य' से जोड़कर देखना और उसका विस्तार मानना ज्यादा सही नहीं होगा?

जैसा कि कह आए हैं, मीडिया का मूल ढांचा तो इसके जन्म से अब तक ज्यादा बदला नहीं है। टेक्नालॉजी में आमूल चूल परिवर्तन के बावजूद उसे संचालित करने वाली पूंजी की जकड़न बढ़ी ही है। तभी पत्रकारिता के जो 'शिखर पुरुष' आजादी के पहले देशहित की आड़ में इस पूंजी के हित साधा करते थे, इस हित साधन का कारवां आगे ले जाने के लिए दिनकर के शब्दों में 'बिकने को हैं तैयार खुशी हो जो दे दो।'

आजादी के बाद की हिंदी पत्रकारिता में ऐसे उदाहरणों की तलाश की जाए तो राजस्थान के एक अखबार की याद आती है जिसने श्रीमती इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्रित्व काल में परिवार नियोजन अभियान में नसबंदी पर ज्यादा जोर दिये जाने के वक्त अपने पन्नों पर 'बहस' छेड़ दी कि नसबंदी के चलते उन आत्माओं का क्या हो रहा होगा, जो यमराज के यहां पुनर्जन्म की प्रतीक्षा कर रही हैं और जन्मनिरोध के मानवीय उपायों के कारण जन्म नहीं ले पा रहीं। अखबार ने इस बहस को इतना लम्बा खींचा और इस स्तर तक ले गया कि भारत के संविधान में जनता को जिस वैज्ञानिक चेतना की ओर उन्मुख करने की बात कही गई है, उस चेतना को ही पानी पिलाकर रख दिया। इसका फायदा अखबार को इस रूप में मिला कि वह अपने अंचल का सबसे ज्यादा प्रसार संख्या वाला अखबार हो गया। आज जब टेलीविजन चैनलों पर आत्माओं से साक्षात्कार कराए जाते हैं और पिछले जन्मों का आंखों देखा हाल प्रसारित किया जाता है तो क्या उसका उत्स उन दिनों की प्रतिरोध को पलीता लगाने वाली और आत्मा परमात्मा के अबूझ खेल में उलझाने वाली उस 'बहस' में नहीं दूढ़ा जाना चाहिए जो उन दिनों प्रतिरोध की गति अवरुद्ध करने वालों के बहुत काम आयी थी?

यह तो अभी लोगों का भूला भी नहीं होगा कि कैसे राजधानी दिल्ली के एक अखबार में हिंदी पत्रकारिता के एक शिखर पुरुष (स्व. प्रभाष जोशी) ने सारे पत्रकारीय आदर्शों को ठेगा दिखाते हुए सती मैया की जय बोल डाली यानी सती प्रथा के समर्थन में संपादकीय लिख डाला और इसे लेकर अपने पूरे जीवन में कभी पश्चाताप की जरूरत नहीं महसूस की। अब अगर किसी चैनल पर भूत प्रेत का अज्ञान व अंधविश्वास फैलाने वाला, सच के नाम पर डंके की चोट पर बोला जा रहा झूठ, देखकर सिर पीटने का मन हो तो शिखर पुरुष की महाचेतना के लिए उनको धन्यवाद तो आप देंगे ही। उन शब्दवीरों को भी दीजिए जो यों तो जनसरोकारों की बात करते नहीं थकते लेकिन जब भी मन होता है, आरक्षण के रहने या जाने को 'हर किसी को रोजगार' से बड़ा मुद्दा बनाने लग जाते हैं और राजनीति के हमकदम होकर उसके जितने ही जनविरोधी हो जाते हैं।

अब इन्हीं शब्दवीरों द्वारा चीख-चीखकर भूमंडलीकरण की वर्चस्ववादी नीतियों को अजेय घोषित किया जा रहा है। विवरणों की भरमार के बीच गंभीर विश्लेषणों को मीडिया से गायब कर दिया गया है और कहा जा रहा है कि हिंदी तो सिर्फ विज्ञापन, मनोरंजन और बाजार की भाषा है और इसमें चिंतन-मनन और विचार-विमर्श की कोई प्रासंगिकता नहीं है। उनकी इस बात को स्वीकार करके खुश हो लिया जाये कि कम से कम उक्त क्षेत्रों में तो हिंदी अपनी जयपताका फहरा रही है तो जनसरोकारों की बात ही खत्म हो जाती है।

स्थिति को बदलने की चिंता की जाए तो याद आता है कि डॉ. अंबेडकर के रानाडे की जयंती वाले जिस भाषण का ऊपर जिक्र आया है, उसमें उन्होंने कहा था कि 'मुझे प्रसन्नता है कि आदरयोग्य कुछ अपवाद भी हैं, लेकिन वे ऊंट के मुंह में जीरे के समान हैं।' आज बड़ी पूंजी संपादक नाम की संस्था को नष्ट करते हुए सुनिश्चित कर रही है कि उक्त इक्का-दुक्का 'अपवाद' भी न बचने पाएं बचें भी तो उनके मुख्यधारा में रहने का तो सवाल ही न उठे, वे ऊंट के मुंह में जीरे जैसी हैसियत से भी वंचित रहें।

निरलज्जता को संस्कार बनाते हुए यह पूंजी 'ईमानदारी' से स्वीकार कर रही है कि मीडिया में असली धंधा तो विज्ञापनों का है, खबरें तो उसमें प्रसंगवश आ जाती हैं, पेड हों, प्रायोजित या प्रवर्तित। मीडिया ऐसे ही प्रोपेगैंडा और प्रधानमंत्री प्रोजेक्ट करने का माध्यम नहीं बन गया है। अखबार ऐसे ही पढ़ने से ज्यादा देखने की वस्तु नहीं हो गए हैं और चैनलों ने समाचार, प्रचार व मनोरंजन का फर्क ऐसे ही नहीं मिटा डाला है। नीरा राडिया टेपकांड ने उसके मनसूबों की बाबत कोई संदेह नहीं रहने दिया है। वह पहले अपनी जो हित साधना वह 'महान' संपादकों से, उनकी जनस्वीकार्यता व विश्वसनीयता को अपने पक्ष में मोड़कर कराती थी, अब अपनी नई सहूलियतों के क्रम में घोड़ा-गाड़ी नौकर बंगला आदि के अभिलाषी उन 'अनाम' संपादकों से करा रही है जो स्वामिभक्ति में अपना सानी नहीं रखते। किसे नहीं मालूम कि स्वामिभक्ति का लोकतंत्र से पुराना वैर है और वह अपनी छाया तले स्वविवेक को कतई सांस नहीं लेने देती। कई बार तो वह दाम के बदले में उनका नाम तक छीन लेती है यानी संपादन करते हैं वे और संपादक के रूप में नाम जाता है उनके अन्नदाता का। यह वैसा ही है जैसे दो तीन दशक पहले तक नेता चुनाव जीतने के लिए अपराधियों व माफियाओं का इस्तेमाल करते थे और अब अपराधी व माफिया खुद नेता हो गए हैं।

जाहिर है कि बदलाव के लिए अंबेडकर के 'आदरयोग्य अपवादों' पर ही निर्भर करना पड़ेगा

और भविष्य बहुत कुछ इस बात से तय होगा कि जो अपवाद हैं, क्या वे इतनी शक्ति का संचय कर पाएंगे कि पूंजी की शक्तियों को अतिक्रमित करके उस पर अपनी वरीयता स्थापित कर लें और उसे उस राष्ट्र-राज्य की चेरी बना दें जो अभी उसके शरणागत हैं?

अगर हां, तो इससे कुछ सार्थक परिणाम निकलेंगे। वैसे ही जैसे देश आजाद हुआ और 'विवश' पूंजी को लगा कि देश की नई सत्ता उसकी जुबान नहीं बोलेंगी तो उसने झखमार कर हिन्दी के अखबार निकालने शुरू किए लेकिन अब जब वक्त फिर से पूरी तरह उसके सांचे में ढल गया है तो वह हिन्दी के प्रकाशनों को या तो बंद कर दे रही, हिन्दी को हिंग्रेजी बना दे रही है अथवा उन्हें इस हद तक सोच व प्रतिगामी सोच के हवाले कर दे रही है कि उनके होने का कोई मतलब ही न रह जाए।



श्रद्धांजलि

- कवि पंकज सिंह
- कवि प्रेम शंकर रघुवंशी
- शायर निदा फाजली
- कथाकार क्षितिज शर्मा
- कवि उमेश चौहान
- कथाकार जोगिंदर पाल
- उपन्यासकार, आलोचक मुद्राराक्षस

दिवंगत सभी विभूतियों को महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा की ओर से श्रद्धांजलि

दलितों, पिछड़ों, अल्पसंख्यकों की उपस्थिति क्यों नहीं?

संजय कुमार

‘मीडिया में दलित, दूँढते रह जाओगे’, लेकिन गिनती के पत्रकार मिलेंगे! वह भी छोटे ओहदे पर। दलितों के साथ-साथ मीडिया में पिछड़ों और अल्पसंख्यकों की संख्या भी, द्विजों के मुकाबले नहीं के बराबर है। भारतीय मीडिया पर ऊंची जाति का कब्जा शुरू से ही बरकरार रहा है। किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में मीडिया की अहम भूमिका होती है और समाज के सर्वांगीण हित की बात होती है लेकिन एक वर्ग के प्रति उपेक्षा का व्यवहार क्या उचित है? वर्ष 2006 में हुए मीडिया के राष्ट्रीय सर्वेक्षण से बात साफ हो चुकी है कि अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़े और अल्पसंख्यकों की जनसंख्या की तुलना में सवर्णों के कम होने के बावजूद मीडिया पर सवर्ण ही काबिज हैं। हालांकि, वर्ष 2006 के बाद मीडिया में हिस्सेदारी को लेकर कोई राष्ट्रीय सर्वेक्षण अब तक नहीं हुआ है कुछ जगहों पर मीडिया के ‘जाति प्रेम’ को लेकर सर्वेक्षण हुआ लेकिन मीडिया के राष्ट्रीय सर्वेक्षण की स्थिति में कोई क्रांतिकारी बदलाव नहीं हुआ, मीडिया हाउसों पर झांकने से साफ होता है कि आज भी वही स्थिति बरकरार है।

दलित, पिछड़ा और अल्पसंख्यक केवल राष्ट्रीय मीडिया से ही दूर नहीं है बल्कि राज्य एवं क्षेत्रीय स्तर पर मीडिया में भी उनकी भागीदारी नहीं के बराबर है। वहीं, ऊंची जातियों का कब्जा हर स्तर पर भी देखने को मिलता है। राष्ट्रीय, राज्य और क्षेत्रीय स्तर पर जहां सवर्ण ही नजर आते हैं वहीं जितों व कस्बों में तैनात संवाददाता/प्रतिनिधि/संवाद सूत्र में भी सवर्ण ही काबिज हैं। इनमें भी दलित, पिछड़ा और अल्पसंख्यक को दूँढना पड़ेगा। हालात यह है कि आजादी के वर्षों बाद भी मीडिया में दलित, पिछड़ा और अल्पसंख्यक हाशिए पर हैं।

हिस्सेदारी

भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है। सूचनाओं/खबरों को लोगों तक पहुंचाने के लिए लोकतंत्र का चौथा स्तंभ पूरी मजबूती से खड़ा है। देश के कोने-कोन में मीडिया स्थापित हो चुका है। भारत के समाचार पत्र पंजीयक, आरएनआई के अनुसार भारत में 31 मार्च 2014 तक 99,660 प्रकाशन पंजीकृत हुए। चैनल व सोशल मीडिया के जलवे के बीच प्रिंट का साम्राज्य बढ़ता ही जा रहा है। जाहिर सी बात है मीडिया का साम्राज्य बढ़ता जा रहा है और इसे चलाने के लिए पत्रकारों को भी रखा जा रहा है। ऐसे में दलित, पिछड़े और अल्पसंख्यकों की हिस्सेदारी का सवाल तो उठना लाजमी है।

आंकड़े बताते हैं कि देश की कुल जनसंख्या में मात्र आठ प्रतिशत होने के बावजूद ऊंची जातियों का, मीडिया हाउसों पर 71 प्रतिशत शीर्ष पदों पर कब्जा बना हुआ है। जहां तक मीडिया का जातीय व समुदायगत होने का सवाल है, तो कुल 49 प्रतिशत ब्राह्मण, 14 प्रतिशत कायस्थ, वैश्य/जैन व राजपूत सात-सात प्रतिशत, खत्री नौ, गैर द्विज उच्च जाति दो और अन्य पिछड़ी जाति चार प्रतिशत है। इसमें दलित कहीं नहीं आते यानी माडिया में दलित दूँढते रह जाओगे? मुसलमान महज तीन प्रतिशत पदों पर हैं, जबकि देश की कुल जनसंख्या में इनका हिस्सा 13.4 प्रतिशत है। ईसाईयों का औसत प्रतिनिधित्व है, लेकिन मुख्यतः अंग्रेजी मीडिया में राष्ट्रीय मीडिया में 4 फीसदी पद उनके हिस्से में है, जबकि भारत की आबादी में उनका हिस्सा 2 प्रतिशत है। सिखों का भारत की आबादी में 2 प्रतिशत हिस्सा है और इनकी भागीदारी मीडिया में मात्र दो प्रतिशत है।

	हिंदू	मुसलमान	ईसाई	सिख
भारत की आबादी में हिस्सेदारी	81%	13%	2%	2%
प्रिंट हिंदी	97%	2%	0%	0%
प्रिंट अंग्रेजी	90%	3%	4%	0%
इलेक्ट्रॉनिक हिंदी	90%	6%	1%	0%
इलेक्ट्रॉनिक अंग्रेजी	85%	0%	13%	2%
कुल	90%	3%	4%	1%

भारतीय परिदृश्य में अपना जाल फैला चुके सेटेलाइट चैनल यानी खबरिया चैनलों की स्थिति भी कमोवेश एक ही जैसी है। यहां भी कब्जा सवर्ण हिंदू वर्ग का ही है। 90 प्रतिशत पदों पर सवर्ण काबिज हैं हालांकि हिंदू पिछड़ी जाति के सात प्रतिशत, अशराफ मुसलमान तीन एवं महिलाएं 10 प्रतिशत हैं।

जहां तक सरकारी मीडिया का सवाल है तो इसमें अनुसूचित जाति/अनुसूचित जन जाति के लोग भारतीय सूचना सेवा के तहत विभिन्न सरकारी मीडिया में कार्यरत है। सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के वेब साइट से प्राप्त आंकड़ों के अनुसार, सरकारी मीडिया के ग्रुप 'ए' में उच्चतर वर्ग से लेकर जूनियर वर्ग में लगभग आठ प्रतिशत अनुसूचित जाति के लोग हैं वहीं ग्रुप 'बी' में लगभग 15-20 प्रतिशत अनुसूचित जाति के हैं। सरकारी मीडिया में ग्रुप 'ए' और ग्रुप 'बी' की सेवा है, इससे इनकी नियुक्ति रेडियो, दूरदर्शन, पी.आइ.बी., आर.एन.आई. सहित अन्य सरकारी मीडिया में की जाती है। ग्रुप 'ए' वाले सिविल सेवा से आते हैं वहीं ग्रुप 'बी' वाले संघ लोक सेवा से सीधे आते हैं जो पत्रकारिता के अनुभव के आधार पर चयनित होते हैं। अनुसूचित जाति के लोगों को मुख्यधारा में जोड़ने के मद्देनजर केंद्र सरकार की नीतियों के तहत सरकारी मीडिया में तो दलित-पिछड़े आ रहे हैं लेकिन निजी मीडिया में कोई प्रयास नहीं होने की वजह से दलित-पिछड़ा नहीं दिखता। अल्पसंख्यकों में भी कई आरक्षण के कोटे से आए हैं।

मीडिया में जाति हिस्सेदारी को लेकर चर्चित पत्रकार रॉबिन जाफरी ने सवाल खड़े किए थे। सर्वे भी आया। विमर्श भी जारी है, लेकिन परिणाम नहीं के बराबर आ रहा है। जहां तक मीडिया में दलितों, पिछड़ों और अल्पसंख्यकों की उपस्थिति नहीं होने का सवाल है तो इसके कई कारण हैं।

जाति प्रेम

सबसे बड़ा कारण जाति है। आंकड़े/सर्वे चौकाते हैं, मीडिया के जाति प्रेम को लेकर तथाकथित बुद्धिजीवी व प्रगतिशीलता का चोला ओढ़े मीडिया के शिखर पुरुषों की पोल खोलते हैं। प्रगतिशील बनने वालों पर सवाल भी दागे जाते हैं। समाज में व्याप्त वर्ण व्यवस्था का असर मीडिया पर भी है। बिहार हो या दिल्ली या कोई प्रदेश, मीडिया में जाति प्रेम का जो खुलासा हुआ है, उसने देश के मीडिया हाउसों के जाति प्रेम को अपने घेरे में लिया है। वहीं, दूसरे पहलू के तहत जातिगत आधार सामने आता है। इसके लिए पत्रकार अनिल चमड़िया कास्ट कंसीडरेशन को सबसे बड़ा कारण मानते हैं। चमड़िया ने अपने सर्वे का हवाला देते हुए बताया है कि मीडिया में फैसले लेने वालों में दलित और आदिवासी एक भी नहीं है। जहां तक सरकारी मीडिया का सवाल है, वहां, एकाध दलित-पिछड़ा नजर आ जाता है। हालात यह है कि अगर दलित-पिछड़ा को कोई बड़ा अखबार नौकरी दे भी देता है तो वह अपनी पहचान छुपाता है। ऐसे दलित पिछड़े पहचान सामने रखते हैं तो वे मीडिया में ज्यादा दिन टिक नहीं पाते हैं। यह बात स्थापित हो चुकी है और कई लोगों ने अपने निजी अनुभवों के आधार पर माना है कि कैसे कास्ट कंसीडरेशन होता है। यही वजह है कि दलित, पिछड़े और अल्पसंख्यकों को मीडिया में जगह नहीं मिलती। जो भी आए, वे आरक्षण के कारण ही सरकारी मीडिया में आए। चमड़िया का मानना है कि मामला अवसर का है, हम लोगों का निजी अनुभव यह रहा है कि किसी दलित-पिछड़ा-अल्पसंख्यक को अवसर देते हैं तो वह बेहतर कर सकता है। यह हम लोगों ने कई प्रोफेशन में देख लिया है। पत्रकारिता में अवसर कठिन हो गया है, उसको अब केवल डिग्री नहीं चाहिए, उसे एक तरह की सूरत, पहनावा, बोली चाहिए। मीडिया प्रोफेशन में मान लीजिए कोई दलित-पिछड़ा लड़का पढ़कर, सर्टिफिकेट ले भी ले और वह काबिल हो भी जाए, तकनीक उसको आ भी जाए, तो भी उसकी जाति डेसिमिनेशन का कारण बन जाता है।

सच भी है मीडिया में दलितों-पिछड़ों-अल्पसंख्यकों के नहीं होने की सबसे बड़ी वजह देश में व्याप्त जाति-वर्ण-संप्रदायवादी व्यवस्था है। हमारे यहां की व्यवस्था जाति और वर्ण पर आधारित है जो एक पिरामिड की तरह है जहां ब्राह्मण सबसे ऊपर और दलित सबसे नीचे है और यही मीडिया के साथ भी लागू है। जो भी दलित-पिछड़े मीडिया में आते हैं, पहले वे अपनी जाति छिपाने की कोशिश करते हैं लेकिन ज्यों ही उनकी जाति के बारे में पता चलता है, उनके साथ दोगम दर्जे का व्यवहार शुरू हो जाता है। वह दलित-पिछड़ा कितना भी पढ़ा लिखा हो उसके मेरिट को नजरअंदाज कर दिया जाता है और साजिश के तहत प्रताड़ना शुरू होती है। दलित-पिछड़ा-अल्पसंख्यक पत्रकार को इतना प्रताड़ित किया जाता है कि वह अपने किसी को भी मीडिया के क्षेत्र में लाने के लिए प्रेरित नहीं करता है। दूसरी ओर द्विज अपने साथ अपने लोगों को लाने के लिए कोई कसर नहीं छोड़ते हैं। ऐसी स्थिति में दलित-पिछड़ा-अल्पसंख्यक पत्रकार हाशिए पर चला जाता है। रही बात अल्पसंख्यकों की तो वे सांप्रदायिक कुठाराघात का शिकार हो जाते हैं। खासकर, मुसलमानों को उर्दू मीडिया में ही काम मिलते हुए देखा जाता है। दलित-पिछड़े जो हिंदू हैं वे अपनी जाति छिपा भी लेते हैं लेकिन अल्पसंख्यकों के सामने यह संकट है। यही वजह है कि मुसलमानों को उर्दू अखबार में जगह मिलती है। दूसरी भाषा के मीडिया में गिने चुने हैं। यहां भी उन्हें सांप्रदायिक सोच के तहत जगह नहीं मिलती है जबकि उर्दू अखबारों में कई हिंदू भी काम करते हैं। जिलों के ज्यादातर रिपोर्टर

हिंदू है जो कापी हिंदी में भेजते हैं उनका अनुवाद होता है। वहीं, हिंदी या अंग्रेजी मीडिया में एकाध मुसलमान पत्रकार मिल जाए तो उसे अल्पसंख्यक के लिहाज से रखा जाता है और उससे संबंधित बीट दी जाती है कहा जा सकता है कि ज्यादातर मामलों में वे विशेषज्ञ की भूमिका निभाते हैं जबकि उर्दू पत्रों में कार्यरत हिंदू पत्रकारों से ऐसा नहीं किया जाता है। अल्पसंख्यकों में दूसरों की स्थिति और गंभीर है उनका अपना कोई अखबार मुख्यधारा का मीडिया भी नहीं है।

मीडिया पर काबिज सवर्ण व्यवस्था में केवल दलितों, पिछड़ों और अल्पसंख्यकों के साथ ही दोगम दर्जे का व्यवहार किया जाता है। हाशिए के समाज के लोग इन माध्यमों में आते हैं तो उनके साथ भेदभाव किया जाता है। चाहे वो कितना भी काबिल या मीडिया का जानकार हो? इन दिनों दिल्ली में सक्रिय एक पिछड़ी जाति के पत्रकार को उस वक्त ताना दिया गया जब वे पटना में कार्यरत थे। उनका उपनाम के साथ जाति सूचक नहीं था। मंडल के दौरान उनके सवर्ण साथियों का व्यवहार एकदम बदल सा गया था जब उन्हें पता चला कि वे पिछड़ी जाति से हैं जबकि उस हाउस में गिने चुने ही पिछड़ी जाति के पत्रकार थे। यही नहीं, मीडिया में उस समय कार्यरत पत्रकारों के बारे में जब सवर्ण पत्रकारों को पता चलता तो वे छींटाकशी से नहीं चूकते थे। यह भेदभाव का रवैया सरकारी मीडिया में दलित-पिछड़े पत्रकारों के साथ अप्रत्यक्ष रूप से दिखता है। जातिगत लॉबी यहां भी सक्रिय है लेकिन सरकारी नियमों के तहत प्रत्यक्ष रूप से सामने नहीं आता। केवल तरीका बदल जाता है और आरक्षण से आने का ताना सुनने को मिलता ही है। कहा जा सकता है कि अघोषित रूप से चीजें बरकरार हैं। सरकारी मीडिया में भले ही दलित-पिछड़े आ गए हो लेकिन वहां भी कमोवेश निजी मीडिया वाली ही स्थिति है। अभी भी सरकारी मीडिया में उच्च पदों पर खासकर फैसले वाले पदों पर दलितों-पिछड़ों-अल्पसंख्यकों की संख्या द्विजों से बहुत कम है।

लोकतंत्र के चौथे खंभे में दलित, पिछड़ा व अल्पसंख्यक नदारद है, अदृश्य हैं, उनका प्रतिनिधित्व नहीं है, उनकी अपेक्षाएं, दुःख-दर्द मीडिया में नहीं आते हैं। मीडिया द्विजों के हाथ में हैं। वे जैसा चाहते हैं, लोगों को परोसते हैं और दलित, पिछड़ा व अल्पसंख्यक वर्ग उसे पढ़ने के लिए बाध्य होता है, क्योंकि दलित, पिछड़ा व अल्पसंख्यक के सामने दूसरा पक्ष देखने-सुनने को मिलता ही नहीं। आजादी के पहले के मीडिया को देखें तो पाते हैं कि थोड़ी जगह दलितों के लिए थी, लेकिन आजादी के बाद दलित एक प्रतिद्वंदी के रूप में खड़े होने लग गए तो उन्हें मीडिया से अदृश्य करने की कोशिश होने लगी है। जहां तक मीडिया में दलित के नहीं होने की बात है, तो इसके ऐतिहासिक कारण हैं। वर्तमान में स्पष्ट कारण है मीडिया जिनके हाथ में रहा है, वे किसी भी कीमत में दलितों को अपनी मीडिया में जगह देने के लिए तैयार नहीं है, क्योंकि मीडिया का अपना वर्ग चरित्र होता है, वह अपने वर्ग हित को स्वीकारना चाहता है, बढ़ाना चाहता है। मीडिया के अंदर कुछ भूले-भटके आ भी गए तो दिखावे के लिए उनको जो काम दिया जाना चाहिए वह नहीं दिया जाता है। दलितों की जो खबरें छपती हैं, जब तक बलात्कार नहीं हो जाता, आगजनी नहीं हो जाती, तब तक मीडिया में खबर नहीं बनती है। हर रोज दलितों के साथ भेदभाव हो रहा है, उत्पीड़न हो रहा है, वह खबर नहीं बनती। दलितों के साथ मीडिया का सरोकार है, क्योंकि इसमें भी कोई परिवर्तन दिखाई नहीं देता, क्योंकि जाति भेद मजबूती से खड़ा है। जो भी हो, समाज में व्याप्त वर्ण/जाति व्यवस्था की जड़ें इतनी मजबूत हैं कि उसे हिलाया नहीं जा सकता है। बल्कि इस काम में मजबूती देने में मीडिया भी शामिल हैं।

अवसर नहीं देना

पत्रकारिता में दलित-पिछड़ा-अल्पसंख्यक की हिस्सेदारी या फिर उनके प्रति सार्थक सोच को सही दिशा नहीं दी गई। हिंदी पत्रकारिता का आकलन किया जाए तो उसे पूर्वाग्रही और पक्षपाती पत्रकारिता के तौर पर देखा जा सकता है। चर्चित साहित्यकार राजेन्द्र यादव ने एक बार यह बात कही थी कि 'आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे वरिष्ठ पत्रकार ने भी अपनी पत्रकारिता के दौरान वर्ण व्यवस्था के प्रश्न पर कभी कोई बात नहीं की। इसका कारण बताते हुए यादव कहते हैं कि ये पत्रकार जातिभेद से दुष्प्रभावित भारतीय जीवन की वेदना कितनी असह्य है इसकी कल्पना नहीं कर पाए।' सच भी है इसका जीवंत उदाहरण आरक्षण के समय दिखा। मंडल मुद्दे पर मीडिया का एक पक्ष सामने आया। वह भी आरक्षण के सवाल पर बंटा दिखा। आरक्षण ही नहीं, बल्कि हर मुद्दे पर मीडिया ने दलित-पिछड़े-अल्पसंख्यकों को नजरअंदाज किया है।

मीडिया में दलित-पिछड़े-अल्पसंख्यकों की भागीदारी और उनके सरोकारों की क्या स्थिति है सब जानते हैं। कई विमर्शों में चिंतक साफ कर चुके हैं कि उन्हें आने नहीं दिया जाता या उनके लिए दरवाजे बंद कर दिए जाते हैं। दलितों के मीडिया में आने और उनके प्रवेश पर अघोषित रोक है। यही हाल पिछड़ों-अल्पसंख्यकों के साथ भी है। देश भर के मीडिया शिक्षा संस्थानों से हर साल एक अच्छी-खासी संख्या में पिछड़े, दलित, आदिवासी एवं अल्पसंख्यक लड़के-लड़कियां डिग्री लेकर निकलते हैं। संस्थानों में प्रवेश लेने के लिए इस वर्ग के लड़के-लड़कियां परीक्षा देते हैं। फिर कई परीक्षाएं पास करने के बाद वे डिग्री लेती हैं लेकिन, उसके मीडिया संस्थानों में फिर उनकी योग्यता की परीक्षा शुरू होती है। वह मीडिया संस्थान चाहे सरकारी हों या पूंजीपति के, हर जगह इस वर्ग के युवा अयोग्य करार दिए जाते हैं और सवाल योग्यता को लेकर उठते रहते हैं। आखिर क्या वजह है, मीडिया में दलितों-पिछड़ों-अल्पसंख्यकों की वह भागीदारी नहीं दिखती जो द्विजों की दिखती है। इनकी अनुपस्थित सवालों के घेरे में है। चर्चा होती है तो दलितों को लेकर सवाल दाग दिया जाता है, दलील दी जाती है कि दलित मीडिया में आना ही नहीं चाहते? उनका झुकाव सरकारी नौकरियों की ओर रहता है। वहीं, दलितों का हो अपना मीडिया यानी वैकल्पिक मीडिया की भी बात होती है हालांकि इस दिशा में काम भी चल रहा है। वहीं मुसलमानों के लिए उर्दू अखबारों में जगह तो मिल जाती है। लेकिन मुख्य मीडिया में नहीं। दलितों-पिछड़ों के पास कोई विकल्प नहीं है। ऐसा नहीं कि दलितों-पिछड़ों की ओर से पत्र-पत्रिकाएं नहीं निकल रही हैं। निकल रहीं हैं लेकिन छोटे स्तर पर मुख्यधारा की मीडिया की तरह नहीं।

भारतीय मीडिया में भारत की तस्वीर नहीं दिखती है। हाशिए का समाज नहीं दिखता है, तो ऐसे में दलित-पिछड़े-अल्पसंख्यकों की भागीदारी की सुनिश्चितता कहां से दिखेगी? आज समाज को समग्र नजरिए से देखने की जरूरत है। एक उदाहरण को देखें सिद्धार्थ वरदराजन जो, आज 'हिंदू' के संपादक हैं वे जब रिपोर्टिंग करते थे तब चेन्नई की एक घटना का हवाला दिया जिससे इस बात का अंदाजा लगता है कि दलितों की समस्याओं को लेकर अखबारों में कितनी शोचनीय स्थिति है। उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर एक घटना का उल्लेख करते हुए लिखा कि एक मेडिकल कॉलेज के दलित छात्रों ने भेदभाव का आरोप लगाते हुए आंदोलन किया और हड़ताल पर चले गए। इसकी खबर एक भी समाचार पत्र में नहीं छपी। दलित छात्रों का प्रतिनिधि अखबारों में गया और उन्हें

बताया भी, फिर भी खबर नहीं आयी। वे सिद्धार्थ वरदराजन से मिले, अपनी बातें बतायी। वरदराजन ने शहर के संस्करण प्रभारी को खबर छापने को लेकर चर्चा की। प्रभारी ने रिपोर्टर भेजने की बात कही लेकिन रिपोर्टर को नहीं भेजा गया। कई दिन बीत गए लेकिन खबर नहीं आयी। तब उन्होंने अपने सीनियर रिपोर्टर को भेजकर समाचार कवरेज के लिए कहा, इसके बावजूद भी कुछ नहीं हुआ। स्वयं सिद्धार्थ वरदराजन मेडिकल कॉलेज गए और दलित छात्रों के साथ भेदभाव पर पूरी रिपोर्ट तैयार की और छपने के लिए अखबार को दे दिया। वह स्टोरी एक हफ्ते तक नहीं छपी। जब स्टोरी नहीं छपी तो उन्होंने संपादक से कहा। कई दिनों के बाद जब दलित छात्रों का आंदोलन समाप्त हो गया तो वह स्टोरी छपी। सिद्धार्थ वरदराजन ने इस तथ्य की ओर इशारा किया कि स्थिति यह है कि अखबारों में दलितों की अनुपस्थिति के साथ-साथ दलित समस्याएं भी इस तरह से अनुपस्थित हैं। इस उदाहरण को आज भी पिछड़ों और अल्पसंख्यकों के साथ जोड़कर देखा जा सकता है। इनकी अनुपस्थिति से इनके मुद्दे भी अनुपस्थित रहते हैं। इनकी अनुपस्थिति के पीछे जाति-संप्रदाय का आड़े आना महत्वपूर्ण है। साक्षात्कार देने के दौरान जाति के बारे में घुमा-फिरा कर पूछा जाता है और फिर वहीं होता है जो होना होता है। यानी पता चलता तो बाहर। अवसर से वंचित।

भारत में कभी भी दलितों-पिछड़ों-अल्पसंख्यकों की मीडिया में सुनिश्चित भागीदारी के लिए पहल नहीं की गयी। जब भी सवाल उठता है तब योग्यता का गोला दाग दिया जाता है। 1975 के आसपास अमेरिका की पत्रकारिता में ब्लैक की स्थिति बहुत कम थी। इसे लेकर कुछ लोग आगे आए। मीडिया में अश्वेतों की कम उपस्थिति पर चर्चा की गयी। संपादकों की बैठकें हुईं। एक आयोग गठित किया गया और तीन साल में उनके अनुपात को बढ़ाना तय किया गया। इसके लिए उन्होंने एक प्रक्रिया अपनाई। कुछ लोगों को विधिवत प्रशिक्षित किए जाने का फैसला हुआ और फिर एक जर्नलिस्ट टैलेंट सर्च हुआ, यानी मीडिया में ब्लैक के प्रतिनिधित्व के लिए कार्यक्रम बना और नतीजा यह हुआ कि आज कई अखबारों के प्रभारी ब्लैक हैं लेकिन भारतीय समाज में यह आज भी दिवास्वप्न सरीखा है।

नियुक्ति का सच

सरकारी मीडिया को छोड़ दें, तो निजी मीडिया में जो भी नियुक्ति होती है वह इतने ही गुपचुप तरीके से होती है कि मीडिया हाउस के कई लोगों को बाद में पता चलता है कि फलाने ने ज्वाइन किया है। हद तो तब होती है जब उच्च पद पर आने वाला व्यक्ति अपनी ही जाति के लोगों को साथ ले आता है। जरूरी काबिलियत के बावजूद मीडिया में अभी तक सामाजिक स्वरूप के मद्देनजर दलित, पिछड़े और अल्पसंख्यकों को प्रवेश नहीं हुआ है। कहा जाता है कि किसने आपको मीडिया में आने से रोका? तो हमें इसके लिए कई पहलुओं को खंगालना होगा। मीडिया में होने वाली नियुक्ति पर जाना होगा। मीडिया में होने वाली नियुक्ति पर सवाल उठाते हुए चर्चित मीडियाकर्मी राजकिशोर ने साफ किया था कि दुनिया भर को उपदेश देने वाले टीवी चैनलों में, जो रक्तबीज की तरह पैदा हो रहे हैं, नियुक्ति की कोई विवेकसंगत या पारदर्शी प्रणाली नहीं है। सभी जगह सोर्स चल रहा है। वे मानते हैं कि मीडिया जगत में दस से पचास हजार रुपये महीने तक की नियुक्तियां इतनी गोपनीयता के साथ की जाती है कि उनके बारे में तभी पता चलता है जब वे हो जाती हैं। इन नियुक्तियों में ज्यादातर उच्च जाति के ही लोग आते हैं। इसकी खास वजह यह है कि मीडिया, चाहे

वह प्रिंट (अंग्रेजी-हिंदी) हो या इलेक्ट्रॉनिक, फैसेले लेने वाले सभी जगहों पर उच्च वर्ण की हिस्सेदारी 71 प्रतिशत है जबकि उनकी कुल आबादी, मात्र आठ प्रतिशत ही है। उनके फैसेले पर सवाल उठे या न उठे इस सच को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। दलितों, पिछड़ों और अल्पसंख्यकों के सामाजिक हालात पर नजर डाले तो पता चलता है कि इनके पास जुगाड़ तकनीक नहीं के बराबर होती है। दलितों, पिछड़ों और अल्पसंख्यकों मीडिया हाउस में समुचित हिस्सेदारी मिले इसके लिए मीडिया हाउस को पहल करनी चाहिए। नियुक्ति के लिए पारदर्शी प्रणाली को विकसित करना होगा, तभी आरोप मुक्त हुआ जा सकता है।

जनतांत्रिक मीडिया

मुख्यधारा के मीडिया में वंचित समाज के लोगों की कैसे सम्मानजनक व प्रभावकारी उपस्थिति दर्ज की जाए, यह भी एक बड़ा सवाल है और इसके लिए जो मुख्यधारा का मीडिया है उसे जनतांत्रिक बनाए जाने की जरूरत है। समाज में अघोषित रूप से छूआ-छूत व धर्म-अधर्म जो कायम है, उसे तोड़ने की पहल की जरूरत है। दलित अधिकारी के दफ्तर से हटने के बाद उसके कमरे को शुद्ध किया जाता है। मुकाम पाने पर द्विज समाज उसके जाति सूचक या आरक्षण का हवाला देकर उसके योग्यता को ही चुनौती दे डालता है।

मीडिया के चरित्र के सवाल पर, दलित-पिछड़े-अल्पसंख्यक आंदोलन के सवाल पर, यह सवाल केवल दलित-पिछड़े-अल्पसंख्यकों के लिए नहीं है। हमारे समाज में कई सवाल हैं। शोषित उत्पीड़ित जनता के सवाल हैं और मूलतः मीडिया के जो सवाल हैं वो अंततः जाकर इस व्यवस्था से कहीं बड़ा सवाल है। जब तक किसी समाज और मीडिया का लोकतांत्रिकरण नहीं होगा तब तक इस तरह के सवालों के हल नहीं मिलेंगे। कहने को तो लोकतांत्रिक व्यवस्था है लेकिन सामाजिक बराबरी आज भी दुर्लभ है। कहने को तो मीडिया को लोकतंत्र का प्रहरी, चौथा खंभा, मजबूत स्तंभ कहा जाता है परंतु, इसकी बनावट जातिवादी, संप्रदायवादी तथा दलित विरोधी है। निचले तबके, पिछड़े, दलितों व अल्पसंख्यों को आगे कैसे लाया जाए। इन्हें लेकर मीडिया की आंतरिक संरचना कैसी हो, हिंदी मीडिया, मनुवादी व हिंदू मीडिया के आरोप से कैसे मुक्त हो, यह बड़ा सवाल है?

दलित-पिछड़े-अल्पसंख्यक मीडिया से जुड़ना तो चाहते हैं, लेकिन उन्हें जान-बूझकर इससे दूर रखा जाता है। इनमें से यदि कोई प्रतिभाशाली और योग्य मीडिया में प्रवेश भी पा लेता है तो उसे शीर्ष तक पहुंचने नहीं दिया जाता, बल्कि उसे बाहर का रास्ता दिखाने के लगातार उपाय ढूंढे जाते हैं। अगर मीडिया में लोकतांत्रिक व्यवस्था कायम हो जाए तो रास्ते बन सकते हैं।

बहरहाल, मीडिया में दलित भागीदारी और उनके सरोकारों के दरकिनार की गूंज अब जोर-शोर से सुनाई पड़ने लगी है। दलित चिंतक इसे लेकर चिंतित हैं। भागीदारी और सरोकारों को मीडिया में जगह मिले, गोलबंदी शुरू हो गयी है। विमर्श का दौर चल पड़ा है और दलित मीडिया की एडवोकेसी जोर पकड़ने लगी है। 'पीलुल्स मीडिया एडवोकेसी एंड रिसोर्स सेंटर, पी.एम.ए.आर.सी.' ने इस दिशा में लड़ाई तेज कर दी है। इसके संस्थापक दलित चिंतक अरुण खोटे दलित मीडिया की वकालत करते हुए वर्षों से मुहिम चला रहे हैं। दलित संगठनों-आंदोलनों के सामने लगातार सवाल खड़े किए हैं बल्कि इस दिशा में पहल की अपील की है। वे कहते हैं, 'दलित मीडिया एडवोकेसी' का उद्देश्य अपना स्वतंत्र समाचार माध्यम खड़ा करना नहीं है बल्कि मुख्यधारा के मीडिया

को सामाजिक सरोकारों की दिशा में ले जाने का प्रयास है। राज्यसभा टी.वी. से जुड़े वरिष्ठ पत्रकार उर्मिलेश का मानना है कि भारत का मीडिया दुनिया का सबसे बड़ा मीडिया है। यहां मीडिया का व्यवसाय साठ हजार सात सौ करोड़ का है। इसके बैरासी हजार अखबार तथा तीन सौ से ज्यादा चैनल है। इससे एक सौ आठ बड़ी उद्योग कंपनियां जुड़ी हुई हैं। उर्मिलेश मानते हैं कि आजादी के इतने सालों बाद भी भारतीय मीडिया उद्योग ने दलितों के लिए अफरमेटिव एक्शन नहीं लिया इसलिए इस मुद्दे पर मीडिया उद्योग पूरी तरह असफल रहा है। इंडियन स्टेट को दलितों के लिए अफरमेटिव एक्शन इंद्रोड्यूज करना चाहिए और स्टेट द्वारा अब तक ऐसा नहीं किया गया इसलिए इसे स्टेट का भी फेल्योर माना जाएगा। इतने बड़े मीडिया उद्योग से दलित के गायब होने के लिए उन्होंने पूरी तरह राज्य को जिम्मेदार माना। उनका मानना है कि यदि दुकानों के लिए कानून बन सकता है, पेड़ों के लिए कानून बन सकता है तो मीडिया के लिए कानून क्यों नहीं बन सकता। तो, एडिटर्स गिल्ड को दलित भागीदारी के बारे में सोचना पड़ेगा। यदि दलित एक अच्छे प्रशासक हो सकते हैं तो अच्छे पत्रकार क्यों नहीं हो सकते? कम्युनिस्ट आंदोलन को भी आड़े हाथों लेते हुए कहते हैं कि डा. अंबेडकर से मतभेद को यदि कम्युनिस्ट आंदोलन ने हल कर लिया होता तो आज मीडिया सहित समाज का स्वरूप बदल गया होता। उर्मिलेश का कहना था कि भारत के मीडिया में सवर्ण वर्चस्व है। कोई पत्रकार दलित है तो वह मीडिया में अपने दम पर है। भारत के प्रख्यात संपादक सवर्ण समाज से रहे हैं उन्होंने अमेरिका की तरह दलितों की भागीदारी के बारे में कभी नहीं सोचा।

एक और महत्वपूर्ण सवाल कि दलित, पिछड़े व अल्पसंख्यकों की राजनीति करने वाले लोग भी मीडिया में इनके सवालों को क्यों नहीं उठाते हैं और न ही कोई आंदोलन की शुरुआत करते हैं। मीडिया से टकराव न हो इससे वे कटते नजर आते हैं। बहरहाल, जो भी हो देश-समाज को आगे बढ़ाने के लिए मीडिया को ही आगे आना होगा। पहल करनी होगी तभी गैर-बराबरी के फासले को मिटाया जा सकता है।

संदर्भ : 'राष्ट्रीय मीडिया पर ऊंची जातियों का कब्जा' मीडियास्टडीज ग्रुप (दिल्ली) का सर्वे, पुस्तिका: मीडिया में हिस्सेदारी-प्रमोद रंजन, 'युद्धरत आम आदमी' का दलित अंक, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय की वेबसाइट, पुस्तक 'मीडिया में दलित दूढ़ते रह जाओगे', 'जन मीडिया' और बयान।



हिंदी के विकास में पश्चिम बंगाल का अवदान

रामनिरंजन परिमलेंदु

हिंदी के विकास में भारत के हिंदीतर राज्यों का श्रेष्ठ अवदान रहा है। इस अवदान के मूल्यांकन के बिना हिंदी भाषा और साहित्य के विभिन्न स्वरूपों का समग्र रूप प्रकट नहीं हो सकता। हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में हिंदी पत्र-पत्रिकाओं का निर्विवाद महत्व रहा है। हिंदी ही नहीं, भारतीय पत्रकारिता की भी जन्मभूमि पश्चिम बंगाल की राजधानी कोलकाता ही है।

जेम्स अगस्ट हिकी के संपादन और स्वत्वाधिकार में अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र बंगाल गजट अर्थात् कलकटा जेनरल एडवर्टाइजर का प्रथमांक कोलकाता से 29 जनवरी 1780 ई. को प्रकाशित हुआ। इसे हिकीज गजट भी कहते हैं। यह अविभाजित भारत का सर्वप्रथम समाचारपत्र है। मार्च 1782 तक इसके प्रकाशन के प्रमाण मिलते हैं। 29 जनवरी शनिवार 1780 ई. को भारत में सबसे पहली बार किसी समाचारपत्र का प्रकाशन हुआ। 29 जनवरी की तिथि भारत में पत्रकारिता का जन्म दिवस है। इसके प्रकाशन के छिआलिस वर्ष बाद भारत में हिंदी पत्रकारिता का उद्भव हुआ।

कोल्लुटोला, 37 आमझातल्ला गली, कोलकाता से युगल किशोर शुक्ल के संपादन में 'उदन्तमार्तण्ड' नामक हिंदी साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन ज्येष्ठ बदी 9 विक्रम संवत्, 1883 तदनुसार 30 मई मंगलवार 1826 ई0 में आरंभ हुआ। यह एक अल्पजीवी पत्र था। इसका अंतिम अंक 04 दिसंबर 1827 ई. को प्रकाशित हुआ। आर्थिक अभाव के कारण यह हिंदी साप्ताहिक पत्र दीर्घजीवी नहीं हो सका। 04 दिसंबर 1827 को प्रकाशित इसके अंतिम अंक में इसके संपादक ने अत्यंत पीड़ायुक्त वाणी में कहा था-

आज दिवस लौं उग चुक्यौ मार्तण्ड उदन्त।

अस्ताचल को जात है दिनकर दिन अब अन्ता॥

अहिंदी भाषी पश्चिम बंगाल में हिंदी पत्रकारिता के आविर्भाव के अठारह वर्षों के बाद हिंदी भाषी क्षेत्र बनारस में जून 1844 ई. में राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद की सहायता से बंगाली सज्जन तारामोहन मित्र के संपादन में हिंदी साप्ताहिक पत्र 'बनारस अखबार' का प्रकाशन हुआ। यह एक तथ्य है। 'बनारस अखबार' के संपादक के रूप में गोविंद रघुनाथ थत्ते का नाम अनेक ग्रंथों में भ्रांतिवश ही प्रचारित हुआ।

चतुर्भाषी पत्र 'बंगदूत', हिंदी, बांग्ला, फारसी और अंग्रेजी में संयुक्त रूप से कोलकाता से प्रत्येक रविवार को प्रकाशित एक साप्ताहिक पत्र था। इसके प्रेरक और संचालक राजा राममोहन राय थे। इसके संपादक नीलरतन हालदार थे। इसका प्रथमांक 10 मई 1829 को प्रकाशित हुआ था। यह भारत का सर्वप्रथम चर्तुभाषी पत्र था जिसमें हिंदी भी शामिल थी।

‘उदन्त मार्तण्ड’ के पूर्व संपादक पंडित युगल किशोर शुक्ल ने 1850 में कोलकाता से ‘हिंदुस्तानियों के हित के हेत’ और हिंदी भाषियों को विद्या विषयक परावलंबन दूर कर उनमें स्वतंत्र दृष्टि प्रदान करने हेतु ‘सामदंत मार्तण्ड’ नामक हिंदी पत्रिका का प्रकाशन किया जिसका अंतिम अंक अप्रैल 1852 में प्रकाशित हुआ। पंडित युगल किशोर शुक्ल हिंदी के सर्वप्रथम पत्रकार थे। उन्होंने अपनी पत्रकारिता हिंदीतर राज्य बंगाल में ही की।

मार्च 1873 ई. में कोलकाता में ही हिंदी साप्ताहिक पत्र ‘बिहार बंधु’ का जन्म हुआ था। इसका मुद्रण गोपालचन्द्र डे, पूर्णप्रकाश प्रेस, 79 माणिकतल्ला स्ट्रीट, कोलकाता द्वारा किया जाता था। इस पत्र के प्रबंधक बाबू राजेंद्र मुखर्जी थे। उन दिनों बिहार में कोई प्रेस नहीं था। अतएव बिहार की यह सर्वप्रथम साप्ताहिक हिंदी पत्रिका ‘बिहार बंधु’ का मुद्रण कोलकाता से 09 फरवरी मंगलवार 1875 ई. के पूर्व तक किया जाता था।

बांग्ला पत्र ‘सोमप्रकाश’ से प्रेरित प्रभावित होकर पंडित छोटूलाल मिश्र और पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र ने ‘भारत मित्र’ का प्रकाशन तत्कालीन भारत की राजधानी कोलकाता से किया जिसका प्रथमांक 17 मई 1878 को प्रकाशित हुआ। प्रारंभ में यह पाक्षिक पत्र था। इसके दसवें अंक से यह साप्ताहिक पत्र के रूप में परिवर्तित हो गया। यह एक दीर्घजीवी पत्र था जिसने हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में एक सकारात्मक पहचान स्थापित कर हिंदी गद्य को नव कलेवर दिया। हिंदी भाषा का प्रचार और उन आवश्यक बातों से अपने पाठकों को परिचित कराना जिसकी जानकारी उन दिनों बहुत आवश्यक थी, इसी उद्देश्य से इसका प्रकाशन हुआ था। 1884-85 के पूर्व तक इसके सभी संपादक किसी प्रकार के वेतन अथवा मानदेय के बिना ही हिंदी हितार्थ निष्ठापूर्वक कार्य करते थे।

हिंदी भाषा के माध्यम से ‘भारत मित्र’ ने भारत में राजनीतिक जागरूकता उत्पन्न करने में बड़ी भूमिका का निर्वहन किया। यह एक दीर्घजीवी पत्र था जो 1897 में दैनिक समाचारपत्र हो गया और प्रकाशन में उन्नीसवीं शताब्दी की सीमा का अतिक्रमण कर तत्कालीन कालखंड में एक अभिनव कीर्तिमान स्थापित कर सका। इसका जन्म कोलकाता में ऐसे समय में हुआ था जब हिंदी की कोई चर्चा ही वहां नहीं थी और हिंदी जानने वाले लोग भी वहां विरल थे।

‘सारसुधानिधि’ कोलकाता का लोकपरक तेजस्वी पत्र था जिसका प्रथमांक 13 जनवरी 1879 ई. को हुआ। यह एक हिंदी साप्ताहिक पत्र था जो 1890 तक चल सका। इसके प्रत्येक अंक के प्रथम पृष्ठ पर यह मोटो छपता था-

*कुमुद रसिक मनमोदकर हरि दुख हम सरवत्र
जनपथ दरसावे अचल सारसुधानिधि पत्र॥
काव्य रसायन पत्र तत् सुदर्शन नृप चरित ।
सारसुधानिधि पत्र दोष व्यसन ज्वर विषय हर॥*

‘सारसुधानिधि’ ने अपने प्रथमांक से इसके प्रकाशन के पांच प्रयोजन बताए थे जिसमें इसका दूसरा प्रयोजन उसी के मूल शब्दों में इस प्रकार था-

‘जब तक देश की भाषा उन्नत नहीं होती, तब तक संपूर्ण उन्नति को कौन पूछता है क्रमोन्नति भी नहीं होती। हिंदुस्तान की प्रधान भाषा हिंदी की ये दशा है कि बहुत जो जानते ही नहीं हैं कि हिंदी किसे कहते हैं और हिंदी लिखने वालों की संख्या अत्यंत ही कम है। विशुद्ध हिंदी भाषा को सवदियन करना आवश्यक है जिसमें कि थोड़े दिनों के बाद हिंदी भी संस्कृत और अंग्रेजी जैसा

आशानुरूप फल प्रसव करे। इसलिए यथार्थ हिंदी भाषा का प्रचार करना और हिंदी लिखनेवालों की संख्या वृद्धि करना सारसुधानिधि का दूसरा प्रयोजन है। (सारसुधानिधि 'विक्रम संवत् 1935 माघ चन्द्रवार 13 जनवरी 1879 ई. भाग एक अंक एक)।

इस तेजस्वी पत्र ने अपने प्रथमांक में ही यह प्रतिज्ञा की थी- 'सारसुधानिधि यथासंभव देश प्रतिनिधि स्वरूप होकर सत्यपरामर्शदान द्वारा कर्तव्य साधन में नियुक्त रहेगा'।

हिंदी पत्रकारिता के कीर्तिपुरुष पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र के प्रबंध और पंडित छोटू लाल मिश्र के संपादन में 65 सूतापट्टी, बड़ा बाजार, कोलकाता से 'उचितवक्ता' का प्रकाशन हुआ जिसका प्रथम अंक 07 अगस्त 1880 ई. को प्रकाशित हुआ। 1880 से 1895 ई. की 15 फाइलें उपलब्ध हैं। स्वाधीनता खोकर उन्नति करने में गौरव नहीं है, यह उचितवक्ता का मूल स्वर था।

1883 ई. में देवी सहाय शर्मा के संपादन में 'धर्मदिवाकर' नामक महत्वपूर्ण वैचारिक मासिक पत्र का प्रकाशन कोलकाता से हुआ था। हिंदी में इसके पूर्व ऐसे वैचारिक हिंदी मासिक पत्र का प्रकाशन संपूर्ण भारत में नहीं हो सका था।

अगस्त 1905 ई. में कोलकाता से न्यायाधीश शारदाचरण मिश्र ने एकलिपि विस्तार परिषद की स्थापना की थी। इसी परिषद के तत्वावधान में कोलकाता से ही यशोदानन्दन अखौरी के संपादन में 'देवनागर' का प्रकाशन 1907 ई. (मेष 5009 कल्यब्द) में किया गया था जो 'भारतीय चित्र विचित्र भाषाओं के लेखों से भूषित एक अद्वितीय सचित्र मासिक पत्र' था। संपूर्ण भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में 'देवनागर' जैसा मासिक पत्र आज तक प्रकाशित नहीं हुआ। इस मासिक पत्र के प्रथमांक के 'आविर्भाव' शीर्षक संपादकीय अग्रलेख में घोषणा की गई थी- 'इस पत्र' का मुख्य उद्देश्य है- भारत में एक लिपि का प्रचार बढ़ाना और वह एक लिपि देवनागराक्षर है।' यह बहुभाषी पत्र था। विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेख इसमें मात्र देवनागरी लिपि में ही छपते थे- भाषा कोई भी हो, उसकी लिपि मात्र देवनागरी ही रहती थी। यह पत्र अनेक वर्षों तक प्रकाशित हुआ जिसका उद्देश्य था- 'भारत की भिन्न-भिन्न प्रांतिक भाषाओं को यथासाध्य यत्नों प्रयत्नों द्वारा देवनागराक्षर में लिखने और छापने का प्रचार बढ़ाना जिससे कुछ समय के अनन्तर भारतीय भाषाओं के लिए सामान्य लिपि प्रचलित हो जाए अर्थात् इसका अभीष्ट यही रहे कि बांग्ला, मराठी, सिंधी, बलूची, पश्तू, वर्मी, गुजराती, तैलंगी, तामिल, कनाड़ी, मलयालयम, तुलू, पंजाबी, नैपाली, गुरमुखी, मारवाड़ी, संताली, आसामी, उड़िया, हिंदी आदि भाषाओं की पुस्तकों का प्रचार भारत के एक प्रांत से दूसरे प्रांत तक फैलाना जो पुस्तकों अपनी-अपनी प्रांतीय लिपियों में लिखी रहने से प्रचलित नहीं हो सकतीं। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए परिषद का यह पत्र देवनागर का आविर्भाव हुआ है।' (देवनागर, विक्रम संवत्, 1964, मेष 5009 कल्यब्द, प्रथम अंक, 1907 ई., 'आविर्भाव शीर्षक संपादकीय, पृष्ठ 2 और 3)

अंबिकाप्रसाद वाजपेयी ने नवम्बर 1907 में कोलकाता से 'नृसिंह' नामक राजनीतिक मासिक पत्र का संपादन प्रकाशन किया जो मात्र एक वर्ष ही चल सका। हिंदी में उन दिनों राजनीतिक मासिक पत्र नहीं थे। इसी अभाव की पूर्ति के लिए उन्होंने इसका प्रकाशन किया था किंतु आर्थिक अभाव के कारण इससे बंद कर देना पड़ा।

1912 ई. में कोलकाता से ही हिंदी साप्ताहिक पत्र 'प्रेम पुष्प' का प्रकाशन हुआ था जो हिंदी का सर्वप्रथम सर्वथा पद्यबद्ध साप्ताहिक पत्र था। इसमें सब कुछ पद्यबद्ध ही रहता था, समाचार और विज्ञापन भी। हिंदी में आज तक ऐसी पत्रिका पुनः नहीं आई। इसके संपादक गोस्वामी गोवर्द्धन लाल

जी 'प्रेम कवि' थे जो स्वयं राधावल्लभी संप्रदाय के आचार्य एवं सुकवि थे।

श्रावण पूर्णिमा वि.सं. 1980 रविवार तदनुसार 23 अगस्त 1923 ई. को कोलकाता से हिंदी साप्ताहिक पत्र 'मतवाला' का प्रकाशनारंभ हुआ। इसके मुखपृष्ठ पर महाकवि निराला की कविता छपती थी, इसका मोटो था-

*अमिय-गरल, शशि-शीकर, रवि-कर, राग-विराग भरा जाला
पीते हैं जो साधक उनकी प्यारा है यह मतवाला।*

इस मोटो की रचना निरालाजी ने की थी। इसका मुद्रण प्रकाशन बालकृष्ण प्रेस, 23 शंकर घोष लेन, कोलकाता से किया जाता था। देश, समाज, धर्म और साहित्य से संबंधित समाचारों और ज्वलंत राजनीतिक समस्याओं पर सूझ-बूझ से भरी मनोरंजक और रोचक टिप्पणियां इसमें की जाती थीं। यह एक लोकप्रिय पत्रिका थी। यह हिंदी का प्रथम हास्य-व्यंग्य-विनोद प्रधान साप्ताहिक पत्र था। निरालाजी और शिवपूजन सहाय का मुख्य साप्ताहिक सहयोग इसे प्राप्त था। निराला के श्रेष्ठ पूर्ववर्ती काव्य का प्रथम प्रकाशन 'मतवाला' में ही हुआ था। हिंदी में स्वच्छंदवादी काव्य की प्रतिष्ठा का ऐतिहासिक उपक्रम इसी साप्ताहिक पत्र के द्वारा पहली बार संभव हुआ। इसकी राष्ट्रीय नीति उग्र थी।

इसके बाद भी कोलकाता से अनेक साप्ताहिक और मासिक हिंदी पत्र समय-समय पर निकलते रहे। बनारसीदास चतुर्वेदी का 'विशाल भारत' तो प्रसिद्ध है ही। कोलकाता और पश्चिम बंगाल के अन्य नगरों से हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं के संपादन-प्रकाशन की परंपरा आज की तारीख में भी चल रही है।

प्रथम हिंदी दैनिक पत्र

जून 1854 में हिंदी का प्रथम दैनिक पत्र 'समाचार सुधावर्षण' का प्रकाशन कोलकाता से श्यामसुंदर सेन नामक एक बंग बंधु के संपादकत्व में प्रकाशित हुआ था। इसका प्रकाशन 1868 ई. तक हुआ। रविवार को छोड़कर प्रतिदिन इसका प्रकाशन होता था। यह द्विभाषी दैनिक पत्र था। इसके आरंभिक दो पृष्ठ हिंदी और शेष दो पृष्ठ बांग्ला के रहते थे। तत्कालीन सरकार को उसके कर्तव्य के प्रति यह पत्र सर्तक करता रहता था। युगीन समाज और देश की गतिविधियों के प्रति यह दैनिक पत्र मुखर था। 'हिंदी बंगवासी' नामक दैनिक पत्र का प्रकाशन कोलकाता से ही 1890 ई. में प्रारंभ हुआ था। इसका संपादन इसके आरंभिक दस वर्षों तक पंडित अमृतलाल चक्रवर्ती ने किया था। पंडित अंबिकाप्रसाद बाजपेयी ने भी कालांतर में इसका संपादकत्व ग्रहण किया था। इस दैनिक पत्र के प्रकाशन के दो साल के अंदर ही अनेक हिंदी समाचार पत्र बंद हो गए और अनेक अप्रासंगिक हो गए। यह अपने समय का सर्वाधिक लोकप्रिय समाचारपत्र था। यह दीर्घजीवी दैनिक पत्र था।

हिंदी दैनिक पत्र 'कलकत्ता समाचार' का प्रकाशन चीनीपट्टी, बड़ा बाजार, कोलकाता से पंडित अमृतलाल चक्रवर्ती के संपादकत्व में 1914 में हुआ था।

नारायण प्रसाद बाबू लेन, कोलकाता से मूलचंद अग्रवाल ने 1916 में 'विश्वमित्र' नामक दैनिक पत्र का प्रकाशनारंभ किया। उन्होंने कठिन परिश्रम और लोक-चार्तुय के आधार पर हिंदी की समाचार प्रधान पत्रकारिता का स्तर उन्नत कर दिया।

1920 ई. में हिंदी के दो दैनिक पत्र प्रकाशित हुए- बनारस से 'आज' (प्रकाशनारंभ की तिथि 05 सितंबर 1920, प्रथम संपादक बाबूराव विष्णु पराड़कर) और कोलकाता से पंडित अंबिका प्रसाद बाजपेयी (30 सितंबर 1880- 21 मार्च 1968) के संपादकत्व में स्वतंत्र।

04 अगस्त 1920 को 'स्वतंत्र' नामक दैनिक पत्र का प्रकाशन हुआ जो राष्ट्रीय आंदोलन का

पत्र था। इसका शीर्ष-स्वरूप अधोलिखित था।

वन्देमातरम्

स्वतंत्र

पारतय्यात्परं दुःखं न स्वातन्त्रतत्परं सुखम्।

अप्रवासी गृही नित्यं स्वतंत्रं सुखमेधते॥

अगस्त 1920 से मार्च 1930 तक यह दैनिक पत्र कोलकाता से प्रकाशित होता रहा। तत्कालीन सरकार की दमनकारी नीति के कारण यह बंद हो गया। कोलकाता से हिंदी दैनिक पत्रों के प्रकाशन की परंपरा आज भी जीवित है। यह हर्ष का विषय है।

भारत का प्रथम विश्वविद्यालय और हिंदी

एक्ट ऑफ इनकॉर्पोरेशन एक्ट नंबर ऑफ 1857 के तहत कोलकाता में विश्वविद्यालय की स्थापना का संकल्प लिया गया। यह अधिनियम 24 जनवरी 1857 को सर्वसम्मति से पारित किया गया और कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। अतएव इस विश्वविद्यालय की स्थापना तिथि 24 जनवरी 1857 मानी गई। कलकत्ता 1912 के पूर्व तक ब्रिटिश भारत की राजधानी था। कलकत्ता विश्वविद्यालय भारत का प्रथम विश्वविद्यालय है। इसकी कार्यकारिणी समिति में भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल, पश्चिमोत्तर और अवध के लेटिनेंट गवर्नर आदि ही नहीं, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी थे जो उन दिनों संस्कृत कॉलेज, कोलकाता के प्राचार्य थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय का अधिकार क्षेत्र बंगाल से लाहौर तक था, संपूर्ण हिंदी क्षेत्र भी था। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने ही विश्वविद्यालय स्तर पर हिंदी का अध्ययन अध्यापन भारत में पहली बार आरंभ किया था। तत्कालीन एट्रेन्स (मैट्रिकुलेशन) से बी.ए. कक्षाओं तक हिंदी का अध्ययन-अध्यापन करने-कराने का प्रारंभ इसी विश्वविद्यालय ने किया। इसकी विभिन्न परीक्षाओं के प्रथम एकमात्र परीक्षक रेवरेंड के.एम. बनर्जी थे। वे मूलतः बंगभाषी थे। उन दिनों प्रश्न पत्रों पर परीक्षक के नाम का प्रकाशन भी किया जाता था। किंतु परीक्षक को किसी प्रकार की अनुचित पैरवी करने का दुस्साहस किसी में भी नहीं था। भारत में विश्वविद्यालय स्तर पर हिंदी प्रश्न चयन, पाठ्यक्रम निर्धारण और हिंदी की विभिन्न परीक्षाओं के परीक्षक का दायित्व एकमात्र के.एम. बनर्जी पर ही निर्भर करता था जो अनेक दशकों तक इस दायित्व का निर्वहन निष्ठापूर्वक करते रहे।

तात्पर्य यह कि कोलकाता से प्रकाशित विभिन्न हिंदी पत्र-पत्रिकाओं ने हिंदी भाषा और साहित्य के अभ्युदय, पुनरुत्थान, विकास और उन्नयन ही नहीं, नव कलेवर धारण करने में भी सर्वाधिक अवदान दिया जिससे इस दिशा में हिंदी पट्टी को भी नवीन ऊर्जा से परिपूर्ण कर दिया। हिंदी का सर्वप्रथम दैनिक पत्र कोलकाता से ही प्रकाशित हुआ जब हिंदी पट्टी में इसकी परिकल्पना भी नहीं की गई थी। उपर्युक्त हिंदी पत्रों ने हिंदी भाषा के नव निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। भारत में पुनर्जागरण की गूंज और अनुगूंज कोलकाता की आरंभिक हिंदी पत्र पत्रिकाओं में ही सुनाई पड़ी। और भी, विश्वविद्यालय स्तर पर हिंदी का अध्ययन-अध्यापन कलकत्ता विश्वविद्यालय ने ही आरंभ किया। विश्वविद्यालय स्तर पर हिंदी को गति देने का पहला कार्य हिंदीतर भाषी बंग बंधु रेवरेंड के.एम. बनर्जी ने ही किया। सच तो यह है कि हिंदी की समग्र विकास यात्रा में कोलकाता अर्थात् पश्चिम बंगाल ने अनेक बार अग्रदूत के महान कार्य किए।



मदन मोहन मालवीय का हिंदी संघर्ष

राजीव कुमार वर्मा

25 दिसंबर, 1861 को जब सारा विश्व भगवान क्राइस्ट के आविर्भाव पर क्रिसमस मना रहा था, उसी दिन तीर्थराज प्रयाग की पवित्र भूमि में विराट व्यक्तित्व के धनी महामना पं. मदन मोहन मालवीय का जन्म हुआ था। महामना की प्रारंभिक शिक्षा पांच वर्ष की अवस्था में प्रयाग के एक संस्कृत पाठशाला में प्रारंभ हुई। आगे चलकर गवर्नमेंट हाई स्कूल एवं म्योर सेंट्रल कॉलेज से अपनी शिक्षा पूरी की। कॉलेज के दिनों में वे 'फ्रेंड्स डिबेटिंग सोसायटी' के सदस्य बने तथा संस्कृत के 'अभिज्ञानशाकुंतलम' नाटक में 'शकुन्तला' एवं शेक्सपियर के 'मर्चेट ऑफ वेनिस' में 'पोर्शिया' का किरदार भी निभाया। मात्र 14 वर्ष के युवा काल में भारतेंदु मंडली के सशक्त कवि के रूप में प्रतिष्ठित मालवीयजी 'मकरंद' उपनाम से ब्रज भाषा में कविताएं लिखते थे। उन्होंने 'हरिश्चंद्र-चन्द्रिका' पत्रिका के लिए समस्या पूर्ति भी की। 'राधिका-रानी' समस्या पर उनकी रचना 'हरिश्चंद्र-चन्द्रिका' में ही प्रकाशित हुई थी- 'इंदु सुधा बरस्यौ नलिनीन पै वे न बिना रवि के हरिखानी...। ...सूमता एती तुम्हें नहीं चाहिए बाजति हौं चहूं राधिका रानी।'

मालवीयजी ने व्यवस्थित लेखन की शुरुआत बालकृष्ण भट्ट के पत्र 'हिंदी प्रदीप' (1877) से की। 'पिष्टपेषण' (मार्च 1880), 'हर एक आदमियों का एक-एक 'मोटो' सिद्धांत निराला होता है' (अक्टूबर 1881) आदि लेख उनकी रचनात्मक मेधा के प्रमाण हैं। हिंदी भाषा, नागरी लिपि के संरक्षण और हिंदी साहित्य के संवर्द्धन हेतु 1884 ई. में 'हिंदी उद्धारिणी प्रतिनिधि सभा' का गठन किया। यही सभा आगे चलकर 1893 में 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' के गठन की प्रेरणास्रोत बनी। उन्हीं के प्रयास से इलाहाबाद में 'भारती भवन पुस्तकालय' की स्थापना हुई जहां केवल हिंदी की पुस्तकें पुस्तकालय हेतु खरीदी जाती थीं हालांकि विदेशी भाषाओं की पुस्तकें भी पुस्तकालय में थीं लेकिन वो केवल दान में प्राप्त की जा सकती थीं, खरीदी नहीं जाती थीं। मालवीयजी भारती भवन को हिंदी के एक अध्ययन केंद्र के रूप में भी स्थापित करना चाहते थे।

मालवीयजी ने राष्ट्रभाषा हिंदी, नागरी लिपि और पत्रकारिता के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। दिसंबर 1886 में कलकत्ता में आयोजित कांग्रेस के द्वितीय सम्मेलन में मालवीयजी के भाषण से प्रभावित होकर कालाकांकर (प्रतापगढ़, उ.प्र.) के राजा रामपाल सिंह ने उन्हें अपने हिंदी दैनिक 'हिन्दोस्थान' का संपादन करने का प्रस्ताव दिया। जुलाई 1887 में उन्होंने अध्यापक की नौकरी छोड़कर 'हिंदोस्थान' के संपादन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। यहां उल्लेखनीय यह है कि

उस समय 'हिंदोस्थान' हिंदी का एक मात्र दैनिक पत्र था। उनके संपादन में इस पत्र ने बहुत लोकप्रियता अर्जित की। मालवीयजी ने दैनिक 'हिंदोस्थान' के लिए सह-संपादकों की एक टीम बनाई जिसमें प्रताप नारायण मिश्र, गोपाल राम गहमरी एवं अमृतलाल चक्रवर्ती जैसे बड़े साहित्यकार थे। इतना ही नहीं मालवीयजी ने उर्दू के सक्रिय लेखक बालमुकुन्द गुप्त को भी 'हिंदोस्थान' में आने का आग्रह किया और गुप्तजी ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर उर्दू में लिखना सदा के लिए छोड़ दिया। प्रसिद्ध कलाप्रेमी एवं विद्वान राय कृष्णदास ने लिखा है कि 'यद्यपि महामनाजी ने अपने जीवन में हिंदी के लिए एक-से-एक काम किए, परंतु हिंदी को उनका सर्वोपरि देन, गुप्तजी हैं। गुप्तजी सरीखा दूसरा शैलीकार आज दिन तक हिंदी में नहीं हुआ। हिंदी को वह जो कुछ दे गए वह एक अमर निधि है।' वास्तव में नवजागरणकालीन पत्रकारिता के दौर में उनकी पत्रकारिता, मिशन की पत्रकारिता थी। आगे चलकर उन्होंने हिंदी के विकास एवं प्रचार प्रसार के लिए 'अभ्युदय', 'मर्यादा', 'सनातनधर्म' आदि पत्र-पत्रिकाओं का भी संपादन-प्रकाशन का काम किया। 1907 ई. के वसंत पंचमी से मालवीयजी ने स्वयं सम्पादित हिंदी साप्ताहिक पत्र 'अभ्युदय' का प्रकाशन प्रारंभ किया। इसका नामकरण हिंदी नवजागरण के अग्रदूत एवं साहित्यकार पं. बालकृष्ण भट्ट ने किया था। इस पत्र के प्रथम अग्र लेख में मालवीयजी ने लिखा था कि- 'पृथ्वी मंडल पर जितने पर्वत हैं उनमें सबसे ऊंचा हमारा नागधिराज है। हमारी अभिलाषा है कि हमारे देश का अभ्युदय भी उतना ही ऊंचा हो।' 'अभ्युदय' ने लगभग पचास वर्षों तक राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रचार-प्रसार एवं देश के उत्थान में महती भूमिका निभाई।

1884 ई. में मालवीयजी ने जब 'हिंदी उद्धारिणी प्रतिनिधि सभा' का गठन किया था तो इसका उद्देश्य था अदालत, पाठशालाओं और सरकारी दफ्तरों में हिंदी भाषा एवं नागरी लिपि का प्रयोग। कारण यह था कि- 'दरखास्तें और अर्जीदावे आदि सब फारसी अक्षरों में लिखे जाते हैं परंतु जो लोग उनपर हस्ताक्षर करते हैं और जिनकी ओर से कचहरी में वे अर्जियां दी जाती हैं, वे उन पर हस्ताक्षर करते हैं पर उनका एक अक्षर भी नहीं समझ पाते' (संपा. समीर कुमार पाठक, मदनमोहन मालवीय और हिंदी नवजागरण, भाग-III; यश पब्लिकेशन, दिल्ली, 2013, पृ. 23)। इसके पूर्व 1873 में बंगाल सरकार ने बिहार क्षेत्र के लिए हिंदी को स्वीकार करते हुए कहा था कि 'पटना, भागलपुर तथा छोटा नागपुर के डिवीजनों की अदालतों तथा दफ्तरों में सब विज्ञप्तियां तथा घोषणाएं हिंदी भाषा तथा नागरी लिपि में जारी की जाएं।' यद्यपि पश्चिमोत्तर प्रदेश की स्थिति भिन्न थी। मालवीयजी ने सन् 1890 में मांग की थी कि- 'पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध की प्रजा में शिक्षा का फैलना इस समय सबसे आवश्यक कार्य है और गुरुतर प्रमाणों से यह सिद्ध किया जा चुका है कि इस कार्य में सफलता तभी प्राप्त होगी जब कचहरियों और सरकारी दफ्तरों में नागरी अक्षर जारी किए जाएंगे। अतएव अब इस शुभ कार्य में जरा सा भी विलंब नहीं होना चाहिए।' उन्होंने इस शुभ कार्य में बिना विलंब किए अपने साथियों की सहायता से हिंदी भाषा एवं नागरी लिपि विषयक एक पुस्तिका- 'कोर्ट कैरेक्टर ऐंड प्राइमरी एजुकेशन इन नॉर्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज' (पश्चिमोत्तर प्रांत में अदालती लिपि तथा प्रारंभिक शिक्षा) तैयार की। इस पुस्तिका में नागरिकों का समर्थन प्राप्त करने के लिए पश्चिमोत्तर प्रांत के करीब पच्चीस जिलों के लगभग साठ हजार हिंदी समर्थकों से हस्ताक्षर लिए गए। इस पुस्तिका के साथ मालवीयजी के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मण्डल 2 मार्च, 1898 को इलाहाबाद के राजभवन में

संयुक्त प्रांत (मौजूदा उत्तर प्रदेश) के लेफ्टिनेंट गर्वनर सर ऐंटोनी मैकडानेल से मिला, जिसमें अनेक विद्वान एवं राजा सम्मिलित थे। तीन वर्षों के संघर्ष के बाद सर ऐंटोनी ने प्रार्थना-पत्र पर विचार कर 01 अप्रैल 1900 ई. को अदालतों में फारसी लिपि के साथ देवनागरी लिपि के भी प्रयोग की आज्ञा जारी की। सरकार की इस आज्ञा का विरोध करते हुए कुछ मुसलमानों ने मालवीयजी पर सांप्रदायिकता का भी दोष लगाया। जबकि मालवीयजी का मानना था कि नागरी लिपि के प्रचार के बाद ही लोगों में शिक्षा एवं अपनी भाषा के प्रति जागरूकता बढ़ेगी। हिंदी भाषा एवं नागरी लिपि प्रयोग के आंदोलन इसलिए भी जरूरी था कि शिक्षित मुसलमानों और जीविका के लिए हिंदुओं को छोड़कर और कोई भी फारसी नहीं सीखना चाहता था। जनसाधारण तो उन्हें नाम मात्र को भी नहीं जानते थे। वे अपना सब काम नागरी, कैथी या महाजनी अक्षरों की सहायता से चलाते थे। उन्होंने इस प्रार्थना पत्र में लिखा कि- 'केवल पश्चिमोत्तर प्रदेश में ही नहीं, बल्कि और और देशों में भी लोगों ने तब तक अपनी भाषा के अध्ययन में उत्साह नहीं दिखाया जब तक कि कचहरियों की भाषा विदेशी रही। इंग्लैंड के इतिहास से इस कथन की पुष्टि होती है।' इतना ही नहीं राजेन्द्र लाल मित्र के हवाले से मालवीयजी ने लिखा है कि 'भारतवर्ष की देशभाषाओं में हिंदी सबसे प्रधान है। बिहार से सुलेमान पहाड़ तक और विन्ध्याचल से हिमालय की तराई तक सभ्य हिंदू-जाति की यही मातृभाषा है। गोरखा जाति ने इसका कुमायूं और नेपाल में भी प्रचार कर दिया है और यह भाषा पेशावर से आसाम तक और काश्मीर से कन्याकुमारी तक के सब स्थानों में भली-भांति समझी जा सकती है।' बावजूद इसके विडंबना यह थी कि 19वीं शताब्दी में पश्चिमोत्तर प्रांत के कचहरियों एवं पाठशालाओं में फारसी लिपि प्रचलित थी।

सन 1910 में काशी (बनारस) में आयोजित 'हिंदी साहित्य सम्मेलन' के प्रथम अधिवेशन एवं 1919 में बंबई में आयोजित नवें अधिवेशन की भी अध्यक्षता मालवीयजी ने की थी। इस सम्मेलनों में उन्होंने राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी और नागरी लिपि का प्रयोग, अदालतों में नागरी लिपि का प्रचार, हिंदी पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, उच्च कक्षाओं में हिंदी का शिक्षण, हिंदी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने आदि पर जोर दिया। सन् 1939 में काशी में पुनः आयोजित 18वें सम्मेलन में उन्होंने स्वागताध्यक्ष की भूमिका निभाई। नवम हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में मालवीयजी ने कचहरियों में फारसी लिपि के प्रयोग होने पर दुःख व्यक्त करते हुए कहा कि- 'जिस भाषा का हमारे भाइयों को कुछ भी परिचय नहीं है, उस भाषा में हमारे यहां के सब राजकाज होते हैं। हमारे देश के भाइयों के मरने-जीने का न्याय हो, पर हो वह दूसरी भाषा में, यह कैसे आश्चर्य की बात है? वास्तव में न्याय उस भाषा में होना चाहिए जिसका एक-एक शब्द उसकी समझ में आता हो, जिसका कि न्याय हो रहा है' (संपा. अवधेश प्रधान, महामना के विचार, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2007, पृ 304)। मालवीयजी का कहना था कि सभी भारतीय भाषाएं आपस में बहनें हैं तथा हिंदी उनमें बड़ी बहन है। अन्य प्रादेशिक भाषाओं की अपेक्षा हिंदी बालने वालों की संख्या अधिक है। अतः देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिंदी भाषा को राष्ट्र भाषा का स्थान दिया जाना चाहिए और इन सबके रहते हिंदी को राष्ट्रभाषा के तौर पर लागू किया जा सकता है। उन्होंने संपूर्ण भारत के लोगों से आग्रह करते हुए कहा कि- 'अब वह समय आ गया है जबकि प्रत्येक प्रांत के सब भाई और बहन अपनी-अपनी भाषा की उन्नति करते हुए राष्ट्रीय भाषा के प्रचार में भी प्रयत्न

करें। तीन संबंधों से राष्ट्रीय भाषा का प्रचार आवश्यक है- 'धर्म-संबंध से', 'व्यापार संबंध से' और 'राजनीति-संबंध से' (वहीं, पृ. 306)।

यद्यपि मालवीयजी ने हिंदी भाषा का पक्ष लिया पर उन्होंने उर्दू का विरोध भी नहीं किया। 10 अक्टूबर 1910 को काशी में आयोजित 'हिंदी साहित्य सम्मेलन' के प्रथम सम्मेलन में उन्होंने कहा था कि 'कोई बुद्धिमान पुरुष यह नहीं कह सकता कि उर्दू मिट जाए। यह अवश्य रहे और इसके मिटाने का विचार वैसा ही होगा जैसा हिंदी भाषा के मिटाने का। दोनों भाषाएं अभीष्ट हैं। दोनों रहेंगी।' (वहीं, पृ. 297) उनका बस यह कहना था कि किसी देश की एकता एवं संप्रभुता के लिए एक राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता होती है, यह काम हिंदी से ही हो सकता है। भारतवर्ष में हिंदी ही ऐसी भाषा है जो उसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक सब छोटे बड़े नगरों के हाटों और बाजारों में समझी तथा बोली जाती है। मालवीयजी उर्दू के साथ प्रत्येक प्रांत के क्षेत्रीय भाषा की उन्नति के भी पक्ष में थे।

वास्तव में हिंदी को राष्ट्रीय भाषा के पद पर प्रतिष्ठित कराने के लिए जो आंदोलन चला उनमें पहला नाम महामना का है। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार तथा उसे समुचित स्थान दिलाने के लिए किए जाने वाले संघर्ष को जन-आंदोलन का रूप दिया। उनकी इच्छा थी कि काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी माध्यम से शिक्षा दी जाए परंतु तत्कालीन शिक्षा सचिव बटलर के विरोध के कारण तब ऐसा संभव नहीं हो पाया। यद्यपि मालवीयजी ने 1922 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग की स्थापना कर स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर पर हिंदी को एक विषय के रूप में स्थान दिलाया। हिंदी विभाग में उन्होंने बाबू श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा लाला भगवानदीन जैसे विद्वानों की नियुक्ति की। यहां ध्यान देने वाली बात यह है कि इनमें स्नातकोत्तर कोई नहीं था। हिंदी विभाग के अध्यक्ष बाबू श्यामसुन्दर दास केवल स्नातक थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं लाला भगवानदीन इंटर पास थे और अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' कानूनगो थे। किंतु मालवीयजी ने उनकी योग्यता देखकर उन्हें विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर तक पढ़ाने के लिए नियुक्त कर लिया था। कलकत्ता के बाद काशी हिंदू विश्वविद्यालय ही था जहां हिंदी में स्नातकोत्तर की शिक्षा प्रारंभ हुई। हिंदी भाषा एवं नागरी लिपि में प्रथम शोध पीताम्बरदत्त बड़धवाल ने यहीं से किया था। 14 दिसंबर 1939 काशी हिंदू विश्वविद्यालय के दीक्षांत भाषण में बोलते हुए शिक्षा के माध्यम के बारे में मालवीयजी ने अपने मंतव्य को स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा कि "हिंदू विश्वविद्यालय के स्थापना काल के प्रारंभ ही से इसके संचालकों का यह प्रधान ध्येय रहा है कि शिक्षा का माध्यम उच्च कक्षाओं में भी मातृभाषा ही रहे। परंतु हमारे एंग्लो-वर्नाक्यूलर मिडिल और हाईस्कूलों में अंग्रेजी का प्रयोग व्यापक रूप से हुआ है और हमारी राष्ट्रीय भाषाएं एकदम भुला दी गई हैं, अतएव हिंदी अथवा अन्य किसी भी हमारी राष्ट्र भाषा को अंग्रेजी का स्थान ग्रहण करने में कुछ समय अवश्य लगेगा। यह कार्य प्रारंभिक स्कूलों में आरंभ करना चाहिए" (वहीं, पृ. 64-65)। उन्होंने विद्यार्थियों को अपनी पढ़ाई में आने वाले कठिनाई के बारे में बोलते हुए कहा कि- "भारतीय विद्यार्थियों के मार्ग में आने वाली वर्तमान कठिनाइयों का कोई अंत नहीं है। सबसे बड़ी कठिनायता यह है कि शिक्षा का माध्यम हमारी मातृभाषा न होकर एक अत्यंत दुरुह विदेशी भाषा है। सभ्य संसार के किसी भी अन्य भाग में जनसमुदाय की शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा नहीं है" (वहीं,

पृ. 80)। उन्होंने ग्लैडस्टन के हवाले से अंग्रेजी भाषा की कठिनता की ओर इशारा करते हुए कहा कि- 'यह एक ऐसी भाषा है, जिसकी वर्ण-रचना किसी भी विदेशी को पागल बना देगी' (वही)। इतना ही नहीं उन्होंने अपने व्यक्तिगत अनुभव को साझा करते हुए कहा कि- 'अगर मैं अपना व्यक्तिगत अनुभव बताऊँ, तो मैं कह सकता हूँ कि मैंने सात वर्ष की ही अवस्था से अंग्रेजी पढ़ना प्रारंभ किया और मुझे इस भाषा को सीखते और बहुत प्रयोग करते एकसठ वर्ष हो गए, परंतु मैं यह स्पष्ट स्वीकार करता हूँ कि मैं जितनी सरलता से अपनी मातृभाषा का प्रयोग कर सकता हूँ, उसकी आधी भी मैं अंग्रेजी भाषा में नहीं कर सकता' (वही)। मालवीयजी ने अपने इस दीक्षांत भाषण में जोर देकर कहा कि- 'अंग्रेजी भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा कभी नहीं हो सकती। पचहत्तर वर्ष की शिक्षा के पश्चात् भी यहां की जनसंख्या का केवल 0.89 प्रति सैकड़ा अंग्रेजी जानता है। अतएव उसे इस प्रतिष्ठित पद पर, भारतवर्ष की मुख्य मातृभाषा हिंदी अथवा हिंदुस्तानी, हिंदुस्तान की भाषा को अवश्य स्थापित करना पड़ेगा। जब तक अंग्रेजी भाषा भारतवर्ष की कचहरियों, दफ्तरों, संस्थाओं तथा स्कूल-कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में अपना वर्तमान प्रमुख स्थान धारण किए रहेगी, तब तक हिंदुस्तानी भाषा राष्ट्रीय जीवन में उचित स्थान नहीं प्राप्त कर सकती और एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का विकास कभी भी नहीं हो सकता' (वही, पृ. 82-83) उनका स्पष्ट कहना था कि राष्ट्रीय शिक्षा अपनी उत्तमता के उच्च शिखर पर तब तक नहीं पहुंच सकती जब तक जनता की मातृभाषा अपने उचित स्थान पर, शिक्षा के माध्यम तथा सर्वसाधारण के व्यवहार के रूप में न स्थापित की जाए। इतना ही नहीं उन्होंने एक बार कहा था कि 'भारत वर्ष उस समय तक अपनी समृद्धि फिर नहीं प्राप्त कर सकता जब तक आधुनिक विज्ञान का अध्ययन और क्रियात्मक प्रयोग इस देश में एक प्रकार से एक स्वाभाविक वस्तु न बन जाय। विज्ञान उस समय तक एक राष्ट्रीय संपत्ति नहीं बन सकता जब तक उसका अध्ययन विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा होता रहेगा' (संपा. महावीर सिंह गहलोत, नागरी, मालवीय स्मृति अंक, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, पृ. 3)। मालवीयजी हिंदी के साथ अन्य प्रान्तीय भाषाओं के विकास के समर्थक थे। वे हिंदी को अखिल भारतीय सम्पर्क भाषा बनाना चाहते थे। उनका स्पष्ट कहना था कि हम नहीं कहते हैं कि देश भर में एक ही भाषा रहे, अन्य प्रांतीय भाषाएं न रहे। हर प्रांत में अपने-अपने प्रांत की भाषा उन्नति करें और अभी तक जो काम अंग्रेजी द्वारा होता आया है, वह काम अब हिंदी द्वारा होना चाहिए।

यद्यपि मालवीयजी ने अंग्रेजी के महत्त्व को हमेशा स्वीकार किया साथ ही फ्रांसीसी एवं जर्मन भाषा भी सीखने पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि- 'मैं अंग्रेजी भाषा के मूल्य को किसी प्रकार कम नहीं आंकता। मैं स्पष्ट कहता हूँ कि यह भाषा हमारे लिए बहुत लाभकारी सिद्ध हुई है। इससे भारतवर्ष के प्रत्येक विभाग में राज्य प्रबंध को एकरूपता देने में सहायता मिली है। यह राष्ट्रीय भाव को भी परिपुष्ट करने में सहायक हुई है। मैं मानता हूँ कि यह संसार की भाषा है अथवा होने वाली है। मैं विश्वविद्यालय में प्रवेश करने वाले प्रत्येक शिक्षित भारतीय को अथवा किसी अन्य उच्च शिक्षा के लिए विदेश जाने वालों को उपदेश देता हूँ कि वे इस भाषा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लें और हो सके तो जर्मन तथा फ्रांसीसी भी सीख लें। परंतु हमें अंग्रेजी भाषा की शिक्षा को गौण भाषा मानकर इसे पढ़ने के लिए उत्साहित होना चाहिए।' (महामना के विचार, पृ. 81)।

मालवीयजी इस बात से भी वाकिफ थे कि किसी भी देश में राष्ट्रीयता के विकास के लिए अपनी

एक राष्ट्रभाषा का होना अनिवार्य होता है। मालवीयजी अनुवाद के माध्यम से हिंदी साहित्य के भंडार को समृद्ध करने के पक्ष में थे। उन्होंने अंग्रेजों का उदाहरण देते हुए कहा कि अंग्रेजी भाषा का साहित्य अनुवादों से भरा हुआ है। 'संस्कृत के ऊंचे-ऊंचे काव्य नाटकों का, चारों वेदों का, वाल्मीकीय और तुलसीदास की रामायण का और आल्हा-ऊदल तक का अनुवाद उन्होंने कर डाला है। इस भाँति दुनिया की सब भाषाओं का अनुवाद करके उन्होंने अपने साहित्य के भंडार को बहुत ही बढ़ा लिया है।' (वहीं, पृ. 302-03)। मालवीयजी का कहना था कि हमें अंग्रेजी भाषा के साथ देशी भाषा के ग्रंथों का भी अनुवाद कर अपने साहित्य को उन्नत बनाना होगा। उन्हीं की प्रेरणा से सन् 1930 में 'हिंदी प्रकाशन समिति' की स्थापना की गई और विज्ञान एवं अभियांत्रिकी के उच्च कोटि के ग्रंथों की हिंदी में रचना एवं मानक ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद करने का लक्ष्य रखा गया। यद्यपि उनका कहना था कि यह अनुवाद सरल हिंदी में होना चाहिए। उन्होंने कहा कि- 'हमें ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे इस प्रांत के लोग समझ सकें। लिखने की भाषा यथासंभव बोलने की भाषा से मिलती-जुलती हो।'।

मालवीयजी हिंदी शब्दों के विशुद्ध उच्चारण के साथ ही साथ विशुद्ध प्रयोग के प्रति दृढ़ आस्थावान थे। वे खिचड़ी भाषा के प्रयोग की नितांत अवहेलना करते थे तथा हिंदी के तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्दों के प्रयोग को विशेष महत्व देते थे। वे कभी नहीं चाहते थे कि हिंदी के भाषणों में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग किया जाए। उनका स्पष्ट कहना था कि हिंदी साहित्य का निर्माण यथासंभव सरल हिंदी में किया जाए। सन 1939 में काशी में आयोजित 'हिंदी साहित्य सम्मेलन' के 18वें अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष पद से बोलते हुए उन्होंने कहा कि- 'मुसलमानों के समय में बहुत से उर्दू शब्द हमारी भाषा में मिल गए, और अब भाषा के अंग है। इसी प्रकार अंग्रेजों के आने से कुछ अंग्रेजी भाषा के शब्द भी हमारी भाषा में मिल गए हैं किंतु इसका तात्पर्य यह है कि हमारी भाषा उन शब्दों से बनी है जो संस्कृत से प्राकृत और अपभ्रंश बनकर हिंदी की शोभा को बढ़ाते हैं। जीवित भाषाओं की यह स्वाभाविक गति है कि उनमें प्रयोजन के अनुसार दूसरी भाषा के शब्द मिला लिए जाते हैं। हमें केवल उन्हीं विदेशी भाषा के शब्दों को ग्रहण करना चाहिए जिनसे हमारी भाषा की शक्ति बढ़े और भावों को स्पष्ट करने में सहायता मिले।'।

स्पष्टतः हिंदी भाषा एवं नागरी लिपि के प्रचार-प्रसार के लिए महामना मालवीयजी का योगदान का ऐतिहासिक महत्व है। उन्होंने अपने जीवन के प्रारंभिक काल में ही राष्ट्रभाषा हिंदी की आवश्यकता एवं उसके महत्व को पहचान लिया था। उन्होंने अपने विरोधियों की परवाह किए बिना हिंदी भाषा एवं साहित्य के विकास के लिए आजीवन संघर्ष किया। उन्हीं के प्रयास का परिणाम था कि अंग्रेजी हुकूमत में भी कचहरियों में नागरी लिपि प्रयोग संभव हुआ। काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी साहित्य में स्नातक एवं स्नातकोत्तर की पढ़ाई के साथ शोध कार्य भी प्रारंभ हो सका। हिंदी माध्यम से भी विद्यालयों के साथ उच्च कक्षाओं में शिक्षण कार्य प्रारंभ हुआ। आज जब पूरी दुनिया में हिंदी का महत्त्व स्वीकार किया जा रहा है तो इसका श्रेय कहीं न कहीं महामना मदन मोहन मालवीयजी को भी दिया जाना चाहिए।



रामदरश मिश्र : साहित्य जिनके लिए जीवन है

ओम निश्चल

अपनी उम्र की 92वीं पायदान पर पहुंच चुके कवि, कथाकार, आलोचक रामदरश मिश्र को गत दिसंबर में जब उनके कविता संग्रह 'आग की हँसी' के लिए साहित्य अकादेमी पुरस्कार देने की घोषणा सुर्खियों में आई तो सोशल मीडिया में उनकी गजल के इस शेर की याद बहुधा लोगों को आई 'जहां आप पहुंचे छलांगे लगाकर। वहां मैं भी पहुंचा मगर धीरे-धीरे।' उन्हें यह पुरस्कार वाकई तब मिला जब उन्हें खुद भी इसकी उम्मीद न रही होगी यहाँ तक कि इसे हम देर आयद दुरुस्त आयद भी नहीं कह सकते। फिर भी देर से मिले इस सम्मान ने केवल उन्हें ही नहीं, समूचे हिंदी जगत को खुशी दी है। जीवन के सात दशक हिंदी लेखन को देने वाले रामदरश मिश्र ने हिंदी समाज को लगभग सौ कृतियां दी हैं। निरंतर लेखन, मनन, चिंतन करने वाले रामदरशजी की खूबी यह है कि वे साहित्य और ज्ञान का भार सिर पर लादे नहीं घूमते न ही सम्मानों से इतराने वाले लेखक हैं। रामदरशजी के लेखन पर निगाह जाते ही हम गांव के जीवनानुभवों से समृद्ध एक ऐसे लेखक को पाते हैं जिस तरह प्रेमचंद, रेणु, विवेकी राय आदि का समृद्ध कथालोक रहा है। यह अलग बात है कि रामदरशजी के लेखन में जो वैविध्य है वह उनके समकालीनों में विरल है इसीलिए दर्जनों उपन्यास की रचना करने वाले और कोई दो सौ से ज्यादा कहानियां को लिखने के बावजूद वे लोक में एक कवि के रूप में ही विख्यात हैं। आंचलिकता उनके कथा लेखन में एक गुणसूत्र की तरह समाई है तो ग्रामगंध उनकी कविताओं का प्राणतत्व है।

गोरखपुर के डुमरी गांव में 15 अगस्त 1924 को जन्मे रामदरशजी ने बीएचयू में डाक्टरेट तक की पढाई की और एक लंबी अवधि तक गुजरात में अध्यापन से जुड़े रहे। उनके शुरुआती उपन्यासों की पृष्ठभूमि वहीं बनी। फिर वे दिल्ली आए और अंततः दिल्ली विश्वविद्यालय से हिंदी के प्रोफेसर पद से सेवानिवृत्त हुए। दिल्ली में कुछ समय मॉडल टाउन में रहने के बाद वे पश्चिमी दिल्ली के वाणी विहार, उत्तम नगर आ गए, जहां उनके मित्र लेखक रमाशंकर श्रीवास्तव, ललित शुक्ल, रामसुरेश पांडेय, रमाकांत शुक्ल आदि पहले से ही रह रहे थे। लेखकों के इस समुदाय ने मुहल्ले को वाणी विहार नाम दिया। हाल ही में राज्यसभा चैनल को दिए गए इंटरव्यू में उन्होंने अपने लोकल की चर्चा करते हुए इस तथ्य को ओझल नहीं होने दिया कि उनका मन महानगर में रहते हुए भी गांव को अपनी सुधियों में बसाए हुए है। यह अलग बात है कि इस बात का उन्हें क्षोभ भी है कि गांव से वे जिस गंवई ऊष्मा के साथ शहर आए थे, वह ऊष्मा जैसे क्षीण सी पड़ती गयी। वे लिखते हैं :

नमी गांव की साथ लेकर चला था। उगा मुझमें कोई शहर धीरे धीरे फिर भी अब तक के लेखन में उनके यहां गांव भी है शहर भी पर शहर में रहते हुए भी शहराती बोध को उन्होंने आज तक अपनी रचनात्मकता के भीतर पनपने नहीं दिया।

कहानी, उपन्यास, कविता, गजल, आलोचना, संस्मरण, यात्रावृत्त, ललित निबंध आदि तमाम विधाओं के सिद्ध लेखक रामदरशजी की अब तक कोई सौ से ज्यादा कृतियां प्रकाशित हो चुकी हैं और कई खंडों में रचनावली भी; किंतु पाठकों के बीच उनका कवि व कथाकार का रूप ही ज्यादा सुपरिचित है। जिन दिनों गीत विधा अपने शिखर पर थी, 'पथ के गीत' के माध्यम से उन्होंने रचना में प्रवेश किया। फिर एक-एक कर उनके कविता संग्रह, कहानी संग्रह, उपन्यास, ललित निबंध, संस्मरण, आत्मकथा, यात्रावृत्तांत व आलोचनात्मक कृतियां प्रकाशित होती रहीं। उन्हें भारत भारती, शलाका सम्मान, दयावती मोदी सम्मान, व्यास सम्मान, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान के अनेक पुरस्कार मिल चुके हैं पर अभी तक साहित्य अकादेमी सम्मान न मिलने के पीछे कहीं न कहीं संकीर्ण लेखकीय राजनीति ही रही जिसके चलते उन्हें अब तक इस पुरस्कार से वंचित रहना पड़ा। उनकी लोकप्रियता का आलम यह कि अभी तक हिंदी के जीवित लेखकों में संभवतः सबसे ज्यादा शोधकार्य रामदरशजी पर हुए हैं। उनके पाठकों का संसार विपुल है। गुजरात में तो वे हिंदी के सबसे लोकप्रिय लेखकों में हैं जहां रहकर उन्होंने हिंदी के पठन पाठन और सर्जनात्मक लेखन का एक विशेष वातावरण निर्मित किया। वे नेपाल, चीन, उत्तरी दक्षिणी कोरिया, मास्को तथा इंग्लैंड आदि देशों की यात्राएं कर चुके हैं।

पिछले एक दशक में उनके समकालीन अनेक लेखक मित्र नहीं रहे। इस दर्द को उन्होंने एक गीत में दर्ज किया। एक एक जा रहे सभी मन बड़ा अकेला लगता है। लगभग डेढ़ बरस पहले अपने अभिनेता पुत्र हेमंत मिश्र को खो देने का उन्हें बहुत दुःख है जिन्होंने अनेक फिल्मों सहित 'मैला आंचल' धारावाहिक में अभिनय किया है। उनके गीतों की गँवई चेतना हमें अभिभूत करती है। उनमें एक जादुई सम्मोहन है। वह पके धान सी धूप की तरह सुनहली आभा से भरी है। उनके उपन्यासों व कहानियों में गांव अपने यथार्थवादी परिप्रेक्ष्य के साथ आता है। उनकी कहानियों व उपन्यासों के चरित्र छूते हैं। रेणु ने जिस आंचलिकता को मैला आंचल में विन्यस्त किया, रामदरश ने अपने उपन्यासों व कहानियों में उसे जिंदा रखा है। रामदरशजी की प्रेरणास्रोत सरस्वती मिश्रजी आज भी उनकी रचनाओं की पहली पाठिका होती हैं। रामदरशजी में शहरातीबोध के बदले भारतीय गांवों की समझ रखने वाले लेखक की आभा दीख पड़ती है तभी वे एक इंटरव्यू में कहते हैं : 'मैंने अपने आंगन में कच्ची जमीन छोड़ रखी है।'

रामदरशजी ने नाटक छोड़कर सभी विधाओं में विपुल लेखन किया है किंतु उनका कवि व्यक्तित्व इन सब पर भारी है। वे किसी भी गोष्ठी में हों, किसी कवि सम्मेलन में हों, लोकार्पण में हों, लोग उनसे गीत सुनाने की मांग करते हैं, उनसे गजलें सुनना चाहते हैं। कविताएं सुनना पसंद करते हैं। जीवन और लेखन के लंबे पथ पर चलते हुए बहुत कम लोग ऐसे होते हैं जो अनवरत और अथक चलते हुए जीवन के हर अनुभव को शब्दबद्ध करने में संलग्न रहते हैं। रामदरश मिश्र ऐसे ही लेखकों में हैं जिन्होंने लगभग छह दशकों से ज्यादा का रचनात्मक समय जिया है और साहित्य की हर विधा को गहराई से आत्मसात किया है। बानबे की उम्र में भी वे कविताएं लिखते हैं, डायरी दर्ज करते हैं और वक्त मिला और सेहत ने इजाजत दी तो बहुत आत्मीय अनुरोध पर सभा-समारोहों

में भी चले जाते हैं। साहित्य अकादेमी पुरस्कार के बाद अकादेमी सभागार में उन्हें सुनने के लिए युवा पीढ़ी से लेकर उनके समकालीनों की भीड़ उमड़ उठी थी और वे एक के बाद एक कविताएं सुनाते गए। सच कहें तो उनके लिए कविता रचना उनके लिए जीवन के एक महोत्सव की तरह है।

कविता में सांस्कृतिक स्पेस

बनाया है मैंने ये घर धीरे धीरे-- जीवन की उत्तरशती में भी रामदरशजी की समर्पित रचना यात्रा विगत पांच दशकों से भी ज्यादा समय से अपने इसी दम खम पर चलती रही है। एक समय था, जब गीतों के रोमानी विन्यास से हृदय को आकुल कर देने वाली पुकार उनकी संवेदना को सजल-तरल बनाती रही है--यह वही दौर है जब वे अपने भीतर का लालित्य अपने गीतों में उड़ेल रहे थे--बार बार बांसुरी बजाओ न पिया/लहरों के पार से बुलाओ न पिया। छायावादी तलछट से हरसंभव अपने को बचाने के लिए रामदरशजी के गीत शुरू से ही चेष्टारत रहे हैं और समकालीन यथार्थ की कुछ विश्वसनीय छवियां भी उनके यहां सदैव दृश्यमान रही हैं-- जैसे पांव थर थर गात जर्जर, झुर्रियां युग की निशानी। बेशक ऐसे चित्र उनके यहां विरल हैं परंतु उनके कवित्व में प्रणति है, फागुनी रंगत है, रेती पर रचे गए चित्र और गुजरते उन्मन दिन हैं, लाज बसन डुबोते यायावर बादल हैं, विदाभास देती बनराइयां हैं, झर झर झरते हरसिंगार हैं, पके धान-सी झरती धूप है, टूटा हुआ दर्पण है, जलते हुए फूल हैं, लहरों के पार से बांसुरी बजाकर बुलाती हुई पिय की टेर है--अर्थात् एक जीवंत संवेदना उनके गीतों और कविताओं की आधार भित्ति रही है।

रामदरश मिश्र की कविताओं का पहला दौर गीतों का था यानी पथ के गीत का तो बैरंग बेनाम चिट्टियां कविता में उनके आगम का एक मजबूत प्रमाण है। समकालीन आलोचना अकसर उनकी कविताओं के बगल से कतराकर गुजर जाती रही। जब कि यही वह दौर था जब कविता में रघुवीर सहाय प्रतिष्ठित हो रहे थे। आगे चलकर उनसे छोटी वय के केदारनाथ सिंहजी कविता के केंद्र में आए। रघुवीर सहाय की कविताओं का एक स्कूल बना तो दूसरा स्कूल केदारनाथ सिंह का। प्रतीकों व बिंबों की सघनता ने कविता की एक नई किस्म ईजाद की। रामदरश मिश्र ने जीवन के सहज अनुभवों को कविताओं कहानियों में पिरोया। न उसे प्रयोगों का जामा पहनाया न उसमें प्रगतिवाद की नक्काशी उकेरने की कोशिश की। इसीलिए उनकी कविताओं में प्रकृति प्रेमी कवि के हृदय-छंद का आभास मिलता है। बहुत तराश-भरी कोटि की न सही, अनगढ़ काव्यात्मकता की जमीन पर ही बेशक--रामदरशजी की कविताएं अपने समय के सांस्कृतिक जीवन के चित्र अंकित करती हैं, अपने समय की विडंबनाओं से टकराती हैं और कविताओं में छोटी छोटी टिप्पणियों के जरिए अपने क्षोभ और प्रसन्नता का इजहार करती हैं। रामदरशजी का यह कहना कि मैंने अपने आंगन में कच्ची जमीन छोड़ रखी है-- मौजूदा समय के बीहड़ यथार्थ के मध्य संवेदना-सजल मानस को बचाए रखने का उपक्रम है। इससे आज की महानगरीय रूक्षता के बीच भी एक गंवई संवेदना सहेजकर रखने और उस पर गर्व करने वाले कवि के भीतरी संसार का परिचय मिलता है।

विद्यानिवास मिश्र ने कहा है--'गंवई मन बड़ा दुर्निवार होता है।--नगरों में रहते हुए भी जिस का तस।' यही वजह है कि गरबीली गरीबी की तरह अपने दर्प का इजहार न कर उनकी संवेदना अपनी ऋजुता और सरलता के बखान में ही निमग्न रही है और लगातार उन प्रवृत्तियों, बुराइयों, अनादर्शों से टकराती रही है, जो हमारे समय में मानवीय आचरण में गहरे घुस गई हैं। उनके लिए

गांव एक विजन है अपने परिवेश को आंकने-सहेजने की एक दृष्टि जिसे पंत की इस पदावली से समझा जा सकता है--देख रहा हूं आज विश्व को मैं ग्रामीण नयन से।

इसी विजन से रामदरशजी अपने परिवेश को देखते-आंकते आए हैं।

प्यार के फूल और कविताएं

रामदरशजी की कविता का स्वभाव इतना सहज और बोलचाल वाला है कि कई बार तो यह लगता है कि यह भी कोई कविता हुई? तभी वहीं कहीं से एक पंक्ति ऐसी आ धमकती है कि साधारण से साधारण अनुभव भी एक बड़े अर्थ में--एक विरल अनुभव में बदल जाता है। अनेक बार वे अपनी इकहरी अनुभूतियों को ही कविता में शब्दबद्ध कर लेने के लिए एकाग्र दिखते हैं और ऐसी एकाग्रता कई जगहों पर महसूस की जा सकती है फिर भी आज के शोरीले वातावरण में भी रामदरशजी जीवन के सुरीलेपन के लिए प्रतिश्रुत दिखते हैं। सूनेपन और सन्नाटे से भरे जीवन में भी संवाद की समरसता कायम करना चाहते हैं। वे किन्हीं धारदार मुहावरों, सुभाषितों, अतिकथनों और शिल्प के चमकीले मुलम्मे के अभाव में भी एक विश्वसनीय लोक कवि के रूप में अपनी सहजता का लोहा मनवा लेने में सफल रहते हैं। हर कवि की एक विरासत होती है जो वह नई पीढ़ी के नाम करना चाहता है। वयसश्रेष्ठ रामदरशजी अपनी रचनात्मक विरासत का अधित्याग जिन चिंताओं के साथ करना चाहते हैं वे ध्यातव्य हैं--

छोड़ जाऊंगा कुछ कविताएं,
कुछ कहानियां, कुछ विचार
जिनमें होंगे कुछ प्यार के फूल
कुछ तुम्हारे, उसके दर्द की कथाएं
कुछ समय- चिंताएं।

रामदरशजी अपनी कविताओं में आयरनी और व्यंग्य का विन्यास रचते हुए कहीं भी शिथिल नहीं पड़ते। विश्वग्राम जाने वालो पर चुटकी लेती पता नहीं कविता तथा साहित्य के मौजूदा परिदृश्य पर धारदार टिप्पणियां जड़ती 'साहित्य पुराण' शीर्षक कविताएं इसी कोटि की हैं। एक उदाहरण--

मैंने एक मैगजीन निकाली है नाम है कौआ
दुनिया जानती है वह क्या क्या खाता है
मगर यह नहीं जानती
कि वह सुबह शाम पीता है विदेशी पौवा
प्यारी विरहिनियो
बीस रुपये में, फकत बीस रुपये में इसे ले जाओ
यह प्यारा पंछी सगुन उचारेगा
पिया को पास बुलाएगा
चाहे वह कलकतिया हों, या लखनौआ
और पिया घर आ जाएं तो
भेज देना छपने को एक अनुभव महकउवा।

साहित्य पुराण का यह नेपथ्य आज किसी से छुपा नहीं है। नैतिक मूल्यों की तरफ पीठ फेरे

साहित्य आज प्रेमचंद के शब्दों में मशाल नहीं रहा, वह अपने हितों के लिए समीकरण रचना साहित्य के नए पुराण में बदल गया है। आम के पत्ते में रामदरशजी मेज, कलम, चमचा, सुई, चाकू, पंखा, कुर्सियां, झाड़ू, माइक जैसी बेजान चीजों से भी एक जीवंत संवाद रचते हैं। यहाँ उनके कई गीत भी हैं जो रामदरशजी की काव्य-यात्रा में सदैव एक हमसफर की तरह शामिल होते रहे हैं। पथ सूना है, तुम हो हम हैं/आओ बात करें--शीर्षक गीत में एक अनूठापन है, जो उम्र की पायदान पर तेजी से बढ़ते रामदरशजी के अपने जीवनानुभवों से ही परिचालित लगता है--

कहते सुनते, सुनते कहते दिन कट जाएंगे

हँसी हँसी से, आंसू से आंसू बंट जाएंगे

साथ सफर की घड़ियां कम हैं

आओ बात करें

अपनी अपनी गठरी ले क्या अलग अलग चलना

खोल कहीं दो पलँस लेना, फिर घंटों जलना

खुशियां थोड़ी, डेरों गम हैं

आओ बात करें।

आम के पत्ते के बहाने रामदरशजी की कविताओं में सांस्कृतिक विलोपन और विचलनों के प्रति उनकी गंभीर चिंताएं दर्ज हैं और मुझे लगता है, हिंदी कविता के एक वृहत्तर संसार में उनका होना कविता के सुस्वास्थ्य के लिए आवश्यक ही नहीं, अपरिहार्य है। वे कविता में सांस्कृतिक स्पेस रचते हैं। इसी संग्रह में उनका कथन इसका प्रमाण है-- मेरे मकान में एक आंगन भी है--और आगे बढ़कर उनके पिछले कहे पर ध्यान दें तो मैंने अपने आंगन में कच्ची जमीन छोड़ रखी है--कहना प्रकृति से अपने रिश्ते को जोड़ना है। चिंता यही है कि आज हम इतने नागर हो गए हैं कि कच्ची जमीन की हमें कोई दरकार नहीं रही। कविता को सांस्कृतिक स्पेस से भरने के लिए जिन कुछ कवियों में अनूठी एकाग्रता शुरू से ही सक्रिय रही है, रामदरश मिश्र उनमें अनन्य हैं।

जीवन में समाए बसंत का रचनानुभव

रामदरशजी की कविता यात्रा में कई मोड़ खोजे जा सकते हैं। 'बैरंग बेनाम चिट्टियां' से लेकर 'पक गई है धूप', 'कंधे पर सूरज', 'दिन एक नदी बन गया', 'जुलूस कहां जा रहा है' संग्रहों के साथ उनकी कविता का एक वृत्त बनता है। इस दौर की रचनाओं में उनका मन प्रकृति के साहचर्य में जैसे फूला फला है। बसंत पर सैकड़ों कविताएं व गीत उन्होंने इसी दौर में लिखे। यह जैसे जीवन में समाए बसंत का ही रचनात्मक अनुभव हो। गीतों की कोमल पदावलियों का विन्यास मिलता है तो कविताओं में हार्दिकता की एक विरल नमी जिससे आज की कविताएं वंचित हो रही हैं। बीच का एक दौर गजलों का भी रहा, पर कविताओं का तीसरा दौर 'आग कुछ नहीं बोलती' से शुरू होता है तथा 'बारिश में भीगते बच्चे', 'ऐसे में जब कभी', 'आम के पत्ते', 'हवाएं साथ हैं', 'कभी-कभी इन दिनों', 'आग की हँसी' से होते हुए नवीनतम संग्रह 'मैं तो यहां हूँ' तक चिह्नित किया जा सकता है। मुझे याद है, जिन दिनों रामदरशजी को दयावती मोदी सम्मान मिला था, उसी के आस पास उनके संग्रह आग कुछ नहीं बोलती पर विद्यानिवास मिश्र की अध्यक्षता में वाणी विहार में एक गोष्ठी आयोजित की गयी थी। मुझे रामदरशजी के अनेक कविता संग्रहों पर लिखने का सौभाग्य मिला है,

किंतु आग कुछ नहीं बोलती पर बोलते हुए पंडितजी के विचार काफी निर्णायक थे। जिस सांस्कृतिक बोध की बात मैंने ऊपर उठाई है, उन्होंने रामदरशजी को सांस्कृतिक वैभव व गंवई जनजीवन का एक बड़ा कवि माना था। अचरज नहीं कि रामदरशजी के यहां आम के पत्ते, बारिश, धूप, सूरज, आग के बिंब बहुत आते हैं। किंतु उनका कवि मानस परंपराओं का पिछलगुआ नहीं है। वह प्रगतिशीलता की आंच में सहज ही पका है। उनकी कविताओं में किसी प्रकार की धर्मांधता नहीं मिलती बल्कि उसका पर्याप्त विरोध मिलता है। मंदिर जाने के बदले वे उसे तरजीह देते हैं जो किसी अंधेरी चौखट पर चुपचाप एक दिया रख जाता है। वे ऐसी बातों पर जगह-जगह पर कविताओं में तंज कसते हैं जो मनुष्य को पीछे ढकेलने वाली हों।

हाल के वर्षों में उनके दो महत्वपूर्ण संग्रह आए। आग की हँसी और मैं तो यहां हूं। आग की हँसी इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि उस पर उन्हें साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला। बल्कि इसलिए कि एक बार वे इस पुरस्कार के बहाने फिर चर्चा में आए। आग की हँसी या आग कुछ नहीं बोलती के पारस्परिक मिजाज में भी कोई खास अंतर नहीं है फिर भी उनकी कविताओं में ध्वन्यात्मकता और व्यंग्य की अन्विति उत्तरोत्तर सघन और प्रभावी हुई है। जीवन में इतनी विडंबनाएं हैं कि वे तंज करने का कोई मौका नहीं छोड़ते। खुद लेखकों के जीवन की क्षुद्रताओं पर वे उनकी आलोचना करते हैं। अपने मुँह मियां मिट्टू बनने वालों को आड़े हाथों लेते हैं तो दंद फंद कर महत्व पाने की कोशिशों को वे रचनात्मकता का शत्रु मानते हैं। वे बाजार का विरोध करने के लिए बाजार बाजार चिल्लाते नहीं बल्कि कैसे बाजार हमारे घरों में घुस आया है प्रसंगवश, उसकी महीन पड़ताल करते हैं। चाहे गुरुदेव हजारी प्रसाद द्विवेदी के आदेश से ही, बगीचे में जाकर फूल तोड़ना न जाने क्यों उनके कवि मन को कचोटता है। घर और बाजार को उन्होंने किसी बाजारवाद की सैद्धांतिकी पढ़कर नहीं, खुद के अनुभवों से जाना पहचाना। खुद के घर के सामने रेत कारोबारी की दुकान की पारस्परिक तुलना से जो कविता पैदा हुई वह घर और बाजार के फर्क को आमने सामने रख कर पहचानती है।

वे बूढ़े भले हुए हों लेकिन जीवन और समाज को दर्ज करने में उनकी कलम अभी थकी नहीं है। हमेशा बोलचाल के लहजे में कविताएं लिखने वाले इस कवि ने कविता के किसी प्रतिमान को अपने लिए रूढ़ नहीं बनने दिया बल्कि वे अपनी सधी हुई लीक पर चलते रहे हैं। इस संग्रह की भूमिका में वे कहते हैं, 'मैंने कई विधाओं में इस दुनिया को उतारा है। कथ्य को जो राह पसंद आई, उस राह वह हो लिया। वह राह छोटी भी थी और लंबी भी। अब लंबी राह चलने की शक्ति मुझमें नहीं रही। अतः छोटी छोटी कविताओं या डायरी के माध्यम से रूप देता रहता हूं। ये कविताएं इसी तरह बनी हैं।'

रामदरश मिश्र की कविता ने जीवन का कोना-कोना खंगाला है। जीवन का कोई ऐसा भाव नहीं होगा, जो छूटा हो। शुरुआत गीतों से हुई। फिर कविताओं में उतरे, गजलें लिखीं, कथा साहित्य के अनवरत लेखन के बीच कविताओं के अंखुए फूटते रहे। कभी उन पर लिखते हुए मैंने उनकी कविताओं को 'नए संवत्सर की लय' का शीर्षक दिया था। उन्हें जब जब पढ़ने बैठता हूं उनका धुनी कवि अपनी कविताओं में मुक्त चिंतन करता हुआ दिखता है। वे एक एक कर हमारी विडंबनाओं पर प्रहार करते हैं। पहली ही कविता ईश्वर हमारे बीच ईश्वर को लेकर दिखने वाली तंगनजरी पर प्रहार करती है। यानी हम जिस तरह एक दूसरे के ईश्वर से नफरत करते हैं, कवि उस विडंबना

पर चोट करता है।

अपने लोकल को रामदरशजी ने हमेशा अपने लेखन में उतारा है। चाहे उपन्यास हो, कहानियां या कविताएं। गांव से उनका जुड़ाव भी इसकी एक वजह है। इसीलिए उनकी कहानियों में आंचलिकता का पुट मिलता है तो कविताओं में भी शहरी संवेदना के सूखते स्रोत दिखाई देते हैं। रामदरशजी वाणी विहार में रहते हैं लिहाजा वाणी विहार नामक कविता के बहाने घरों तक घुस आए बाजार पर चिंता जताते हैं। उनके मित्र सुधाकर शुक्ल द्वारा बसाई गयी कालोनी में अब उन्हीं का मकान बाजार की भेंट चढ़ चुका है। वे याद करते हैं कि कैसे उन्होंने वाणी विहार को वाणी पुत्रों की कालोनी के रूप में बसाना चाहा था, कहां यह वाणी पुत्रों की कालोनी वाणी विहार वणिक विहार में तब्दील हो चुकी है, जहां आज कवियों के भाव स्वरो की लहरियां नहीं गूंजतीं, लेनदेन वाली बाजारू बोलियों की बजबजाहट सुनाई देती है। कविता ही क्यों, वाणी विहार के घरों के भीतर की कहानियों को उन्होंने काम वाली नौकरानी के बहाने अपने एक लघु उपन्यास 'बिना दरवाजे का मकान' में सलीके से उकेरा है।

जीवन की उत्तरशती

उत्तर-वय की लेखकीय दुनिया ही कुछ अलग होती है। लेखक अपने एकांत में लिखना भी चाहे तो लोग ऐसा नहीं करने देते। वे चाहते हैं वह लेखकों की पुस्तकों पर अनुशांसाएं लिखता रहे, गोष्ठियों की अध्यक्षता करता रहे। रोज ब रोज के तकादे। इतनी मतलबी दुनिया जो सर्जना की खिड़कियां खुली नहीं रहने देती बल्कि लेखक को सनद बांटने एक माध्यम बना देती है। इन दिनों कविता में उन्होंने जैसे हर बुजुर्ग लेखक की दुखती रग पर उंगली रख दी है। कलाकार और कवि होना क्या आम मिस्त्री से कुछ अलग होता है। कवि कहता है घर बनाने वाले किस सुघरता व कला से घर का निर्माण करते हैं पर वे कलाकार नहीं कहलाते, बल्कि कलाकार वह कहलाता है जो ऐसे मकानों में बैठकर कैनवस पर आकृतियां उकेरता है। चाहे वे किसी के काम की हों या न हों। मिस्त्री की सौंदर्यग्राही दृष्टि की शायद ही कोई उस तरह तारीफ करता हो जैसे कलाकार या कवि की। आज का समाज का यही दर्दा बन गया है।

रामदरशजी ने कभी कविता के प्रतिमानों की परवाह नहीं की। वे लिखते हैं : 'मेरी रचनाएं जैसी भी हैं, मेरी हैं, वे शुष्क सिद्धांत नहीं हैं, अंतर के छोटे बड़े गान हैं; यानी आदमी के आदमी होने की पहचान हैं। 'वे चैनलों पर बाबाओं के बढ़ते प्रभुत्व की आलोचना करते हैं तो एक दल की एक दूसरे दल द्वारा की गयी आलोचना भी उन्हें रास नहीं आती जिससे आज के अखबार प्रायः आच्छादित रहते हैं। कभी उमाकांत मालवीय ने लिखा था : खोली दर खोली में घर गए उघर। रहने लायक नहीं रहे महानगर। लिहाजा महानगर के अपने घर के खुले आंगन को निहार कर कवि-मन खुश होता है। आंगन में पहुंचते ही उसे लगता है कि वह अतीत के बाग बगीचों में पहुंच गया है। कवि समाज के जीते जागते चरित्रों से ही नहीं, निर्जीव चीजों से भी बतियाता है। रामदरशजी ने ऐसा बहुतेरी कविताओं में किया है। 'कुर्सी', 'चारपाई', 'आईना', 'अंगीठी', 'फाइल' के साथ, 'चाबी' ऐसी ही कविताएं हैं।

एक लंबा कवि जीवन जीते हुए रामदरशजी ने जीवन के हर पहलू को बारीकी से टटोला है तथा बनावटी अभिव्यक्ति से बचते हुए जीवन से सूक्तियां चुनी हैं। धन क्या है, वे कहते हैं जिसके

पास अंतरात्मा का हीरा है वह अमीर है। जो मंदिर की देहरी पर दीप जलाने के बजाय अंधेरे में डूबे एक घर की देहरी पर चुपचाप एक दिया रख देता है उसका त्यौहार फलीभूत होता है। फर्श और वाटिका के संवाद के जरिए उन्होंने बतलाया है कि फर्श कितनी ही चिकनी हो और वाटिका कितनी ही मिट्टी व कीचड़ से भरी, पर जब वसंत आता है फूलों से क्यारियां खिल उठती हैं, तो फर्श और वाटिका का फर्क पता चलता है। रामदरशजी ठहाके लगाने वाले इनसान हैं इसलिए ठहाकों पर असभ्यता की मुहर दर्ज करने वालों को उनकी ही एक कविता जवाब देती है कि 'मुझमें अभी भी एक नादान बच्चा है जो मुझे बूढ़ा नहीं होने देता।'

रामदरशजी हमेशा प्रकृति के बिंबों को कविता में चुनते बीनते रहे हैं। बसंत के दिन उन्हें भाते हैं तो दिसंबर-जनवरी की धूप उन्हें लुभाती है। बारिश के दिनों में कवि का मन मयूर आह्लादित हो उठता है तो खिलखिलाते खेतों के बीच पहुंचते ही बोल उठता है, 'मैं तो यहां हूं, यहां हूं, यहां हूं। 'यही नहीं, वह अभी भी यही मानता है कि तमाम तब्दीलियों के बावजूद गांव में गांव बचा हुआ है। यह कवि का ग्रामगंधी मन ही है जो महानगर में रहते हुए भी गांव की ऊष्मा को अपने अवचेतन में बसाए हुए है। अकारण नहीं कि वे कविता के प्रति आभार व्यक्त करते हुए कहते हैं : 'आभारी हूं कविते। तुमने इस तप्त समय में भी मुझे भिगो दिया भीतर तक। और मैं। गति-स्पंदित जीवन-राग की रचना के लिए अपने को तैयार कर रहा हूं।' रामदरश मिश्र की कविताएं निस्संदेह जीवन-राग को स्पंदित और गतिशील बनाए रखने वाली कविताएं हैं।

रामदरश मिश्र का कवि उक्ति-वैचित्र्य का नहीं, जीवन- राग का कवि है। रामदरशजी ने कविताओं में बारीकी बीनाई की बजाए जीवन को समग्रता में देखने की प्रविधि विकसित की और आज तक अपने उसी कौल पर डटे हुए हैं। जिन अर्थों में केदारनाथ सिंह अपने को पुरबिहा कवि कहने में फख्र महसूस करते हैं वही पुरबिहापन रामदरशजी के यहां मौजूद है कथ्य और अंदाजेबयां के फर्क के साथ; जो शहर की तेज रफ्तार जिंदगी से समरस नहीं हो पाता। एक मतलबी दुनिया उसे इर्द गिर्द दिखाई देती है और वह पाता है कि उसके गंवई जीवनानुभवों की कोमल पाटी पर शहरी आघातों के निशान बनते जा रहे हैं। सच कहें तो रामदरशजी की कविताएं इन्हीं आघातों - प्रत्याघातों की साखी हैं।



स्मरण : जोगिंदर पाल

कहानी का नया छंद रचने की छटपटाहट

शकील सिद्दीकी

22 अप्रैल को मुशायरों के विश्व प्रसिद्ध संचालक, शायर, आलोचक और कहानीकार मलिकजादा मंजूर अहमद का इन्तेकाल हुआ और ठीक उसके दूसरे दिन यानी 23 अप्रैल को अपनी तरह के अकेले कहानीकार, बेबाक, बेलौस प्रगतिशील आंदोलन के अनन्य सहयोगी जोगेंदर पाल दागे फिराक दे गए। प्रगतिशील आंदोलन के सहयात्री तो मलिकजादा साहब भी थे। आजादी के बाद गोरखपुर में प्रलेस की इकाई के गठन में उनकी भूमिका प्रमुख थी। वे 1948 में भिवंडी (महाराष्ट्र) के ऐतिहासिक राष्ट्रीय अधिवेशन में भी शरीक हुए। संयोग से दोनों की जीवन दृष्टि ही प्रगतिशील व आधुनिक थी। यही कारण है कि मलिकजादा साहब के निधन पर शोक सभाओं का जैसे तांता सा लग गया। जोगेंदर पाल साहब के न रहने की खबर इस शोर में दबकर रह गयी। ज्यादातर जगहों पर उनकी औपचारिक शोकसभाएं तक नहीं हो पायीं। लखनऊ जैसे प्रमुख साहित्यिक केंद्र में भी इन पंक्तियों के लेखक के प्रयासों से एक शोक सभा संभव हो सकी।

पाल साहब ने बहुत नुकसान उठाए, घर वालों की नाराजगी मोल ली परंतु उर्दू से बेवफाई नहीं की। किशोरावस्था में पकड़े गए उसके दामन को उन्होंने जीवन के अंतिम क्षण तक नहीं छोड़ा। अंग्रेजी में लिखकर वे अधिक पैसा, शोहरत और प्रतिष्ठा अर्जित कर सकते थे।

शिक्षा के माध्यम तथा अभिव्यक्ति की भाषा के रूप में उन्होंने उर्दू को चुना, तो पेशे के रूप में अध्यापन को, वह भी अंग्रेजी अध्यापन। सन् 1925 के 5 सितंबर को उनका जन्म ठेठ पंजाबी इलाके सियालकोट में हुआ। संयोग से 5 सितंबर को पूरे देश में शिक्षक दिवस मनाया जाता है, जो कि महान शिक्षक, विद्वान और राष्ट्रपति पद को सुशोभित कर चुके सर्वपल्ली राधाकृष्णन का भी जन्म दिन है। इस प्रकार जोगेंदर पाल स्वतः सम्मानित हो गए।

प्रौढ़ता की ओर लंबे कदम बढ़ाती आयु 22 वर्ष में उन्हें देश विभाजन जैसी महात्रासदी का दंश बर्दाश्त करना पड़ा। उन्हें सियालकोट से हमेशा के लिए बिछुड़ना पड़ा, घर, जमीन मस्तिष्क और दोस्त यार सब अतीत हो गए। वर्तमान रक्त में डूबा हुआ और भविष्य अनिश्चित। घोर अभावों में गुजरा जीवन नित नई यातनाओं के पदचाप से आक्रांत था। चकाचौंध रौशनी के बीच अंधकार की डरावनी आकृतियां थीं। एक ओर पुराने जीवन मूल्यों से मुक्त होते हुए नया जीवन पाने का कठिन संघर्ष था तो दूसरी ओर शनैः शनैः आकार लेता उनका कहानीकार दुःखों व आघातों को नई इवारतों में सुरक्षित कर लेने को व्याकुल था। दूसरे पंजाबी रचनाकारों के समान उनके लेखन में भी विभाजन

की भागड़, उजाड़, हिंसा तथा उसकी त्रासदी के स्याह सुर्ख बिंब देखे जा सकते हैं। अतीत आसानी से पीछा नहीं छोड़ता, वो भी भयानक घटनाओं से भरा, विस्थापन का दंश देने वाला अतीत। अतीत में मादक प्यार-मुहब्बत के रूमानी क्षण भी होते हैं। पाल साहब के कथा साहित्य में दोनों तरह की अनुभूतियों के अनेक क्षण हैं। जैसे कि 'ग्रंथी', 'खोदो बाबा का मकबरा', 'इफ्रियत', 'हरि कीर्तन' या 'फाख्ताए' इत्यादि कहानियां। कालजयिता प्राप्त करती 'तमन्ना का दूसरा कदम' जैसी कहानियां विस्थापित मनुष्य के जीवन में घटित होते दो भिन्न जीवन मूल्यों के टकरावों तथा जो छूट गया उसे बार-बार पकड़ने की कोशिश का संवदेनात्मक रेखांकन है। कहानी 'सुकूनत' विस्थापन, जो उनके जीवन में एकाधिक बार घटित हुआ का एक भिन्न आयाम लेकर प्रस्तुत होती है। इस कहानी में आया कुत्ता गंगाराम, जो उनकी कई कहानियों में अलग-अलग नामों से मौजूद है, ग्रामांचल में बिताए बचपन का प्रतीक बनकर उभरता है। साथ ही दबों-कुचलों के प्रति सहानुभूति का संकेत भी है।

विशेष रूप से 'खोदो बाबा का मकबरा' में मिली जुली तहजीब के उस पंजाब की छवियां देख सकते हैं जो सूफीवादी आध्यात्म तथा सिख गुरुओं के उपदेशों का प्रभाव लिए हुए हैं वहीं कहानी हरिकीर्तन पारिवारिक संबंधों में आई गिरावट तथा विडंबनात्कता पर आधारित है।

वे अत्यंत गरीब मां-बाप के सुपुत्र थे। परंतु उनकी बौद्धिक कुशाग्रता का सभी लोहा मानते हैं। मातृ भाषा पंजाबी थी, शिक्षा का माध्यम उर्दू था। 1945 में उन्होंने सियालकोट के ही मेयर कालेज से अंग्रेजी में ग्रेजुएशन किया। 1947 में अंबाला आए फिर दिल्ली। अंबाला में सप्रेटा दूध बेचने का कारोबार अपनाया। 1948 में पूर्वी अफ्रीका की कृष्णा नामक युवती से शादी हुई जिन्होंने उनकी कई कहानियों के अनुवाद किए। साथ ही उनकी रचनाओं के प्रथम आलोचक की भूमिका भी निभाई। अफ्रीका से पत्नी क्या लाए, कि अफ्रीका उनके जीवन का अनिवार्य हिस्सा बन गया। उनकी जीवन संरचना ही बदल गयी।

विवाह के उपरांत केन्या(नैरोबी) के एक सरकारी कालेज में बतौर शिक्षक नियुक्ति मिल गयी। शिक्षण के दौरान ही 1955 में उन्होंने पोस्ट ग्रेजुएशन कर लिया। उनकी नियुक्ति एक प्रकार से उन्हें विवाह का उपहार था, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। आकर्षक वेतन तथा निश्चित अवधि के बाद शानदार पेंशन। उनकी अभावग्रस्त जिंदगी में फिल्म 'मदर इंडिया' का दृश्य उतर आए थे, 'दुख भरे दिन बीते रे भइया'।

केन्या प्रवास इस अर्थ में भी उनके लिए सुअवसर साबित हुआ कि वहां रहते हुए उन्होंने अफ्रीकी जीवन का विविध विपुल अनुभव प्राप्त किया। वे गुलामी, उसकी यातना, अभाव, निर्लज्ज साम्राज्यवादी शक्तियों की क्रूरता को निकट से अनुभव कर सके। कहानी 'जाम्बू रफीकी' इस प्रवास की सृजनात्मक छटपटाहट की ही नहीं, वहां के हालात का प्रामाणिक साक्ष्य भी है।

'जिस मुल्क में गैर मुल्कियों के लिए यहां पहुंचने से पहले ही मुलजिमते महफूज होती थीं, वहां के बाशिंदों को चोरी डकैती का काम मयस्सर था या घरेलू नौकरों का जो अपने सर्वेंट क्वार्टर्स से इसलिए जेल भेज दिए जाते थे कि वह चोरों को पनाह देते हैं। सच पूछिए तो हिंदुस्तान में मुझे गरीबी और बेकसी के अजाब का इतना शऊर न था, जितना अब अफ्रीकियों की हालते जार देखकर हुआ।' पेंशन पाने की पात्रता की अवधि पूरी हो जाने पर 1963 में नैरोबी के कालेज से त्यागपत्र देकर भारत लौट आए। मुलाजिमते के दौरान ही क्योंकि 1955 में उन्होंने अंग्रेजी में एम.ए. कर

लिया था। बेरोजगारी के छोटे से अंतराल के बाद अंततः 1964 में महाराष्ट्र औरंगाबाद दकन के एक कालेज सरस्वती भवन कालेज में प्रोफेसर के पद पर गरिमापूर्ण नियुक्ति हुई, कुछ अर्सा बाद (1965) प्रधानाचार्य बना दिए गए। चौदह साल वहां सेवारत रहे फिर दिल्ली की आगोश में समा गए।

कहानीकारों के लिए कठिन चुनौती व संघर्ष के दिन थे। अकेले भारत में एक साथ कई पीढ़ियां रचनारत थीं। जदीद व तजरीदी कहानियों का दौर था साथ ही नई कहानी आंदोलन का अवसान काल। इनमें कई समर्थ कथाकार थे। राजेंद्र सिंह बेदी, कृष्ण चंदर, इस्मत चुगताई, उपेंद्रनाथ अशक, इकबाल मतीन, इकबाल मजीद, सुहेल अजीमाबादी, गयास अहमद गद्दी, सुरेंद्र प्रकाश, जीलानी बानो, कुरुतुल ऐन हैदर वगैरा-वगैरा। इनमें से लगभग सभी एक या अनेक कालजयी कहानियां देकर प्रसिद्धि व प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। पाल साहब की पहली कहानी 'त्याग से पहले' 1945 में प्रतिष्ठित मासिक 'साकी' दिल्ली में प्रकाशित हुई। उस काल में 'साकी' में छपना ही कामयाब कहानीकार होने की कसौटी समझी जाती थी। तब भी ये नहीं भूलना चाहिए कि 'साकी' में छपने वाले सभी कथाकार ख्याति व मान्यता नहीं प्राप्त कर सके। पाल साहब को ख्यति भी प्राप्त हुई और मान्यता भी परंतु अपेक्षानुरूप नहीं, जिसका मलाल उन्हें अंतिम क्षण तक रहा। विस्फोट कर सकने वाली कहानी लिखने की इच्छा भी अधूरी रह गयी।

अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके निधन पर समूचे उर्दू जगत में करीबन खामोशी व्याप्त रही। उन्हें कोई उल्लेखनीय पुरस्कार अथवा सम्मान नहीं प्राप्त हो सका। कुछ रकीबों की कारगुजारी कुछ अपनी कोताहियां। मुंहफट आदमी थे। बेबाकी और फक्कड़पन स्वभाव में था। आत्ममुग्धता की प्रवृत्ति भी थी। अपने कहानी लेखन तथा तर्क पद्धति पर फिदा थे। उनकी जीवन दृष्टि खांटी आधुनिक व प्रगतिशील थी फिर भी प्रगतिशील आंदोलन की वैचारिकी से टकराते रहते। आधुनिकतावाद तथा अमूर्तता की आलोचना एवं स्वयं अपनी कहानी में नए-नए प्रयोग। 'अफसांचे' यानी मिनी कहानी के प्रचलन का श्रेय उन्हें ही जाता है, जैसे हिंदी में रवींद्र वर्मा को। पाल साहब आसान या सहल पसंद नहीं दुश्वार पसंद थे। तात्पर्य 'आसानियां हो तो जिंदगी दुश्वार हो जाए'। पाल साहब ने कहानी की एक अलग ज्यादा बोलती हुई भाषा का निर्माण किया। ऐसे शब्दों की भाषा जिनमें दृश्य हों और ध्वनियां भी। इकहरी संरचना व इकहरी वर्णनात्मकता से भी परहेज किया। उनके यहां यथार्थ की कई तहें हैं। उनकी कहानियां पढ़ते हुए पाठक को महसूस होता है कि कथाकार रच नहीं रहा है। कुछ तलाश कर रहा है। वो लगातार अन्वेषण व मुठभेड़ की मुद्रा में है, पात्रों से, कथ्य और संरचना से, वे मुठभेड़ भी करते हैं और संवाद भी। आलोचक प्रो. अतीकुल्लाह के इस कथन पर आप विश्वास कर सकते हैं कि 'उनकी प्रत्येक कहानी उनकी अपनी सृजनात्मक खोज है' उनके कथा कौशल का अनुमान डा. कमर रईस के इस कथन से लगाया जा सकता है कि 'जोगेंदर पाल के यहां कहानी बयान नहीं होती बल्कि सामने जिंदगी के स्टेज पर घटित होती है। उनके चरित्र उस स्टेज से निकलकर हमारे हवास के इतने करीब आ जाते हैं कि हमें अपने वजूद में उनकी सांसों का उतार चढ़ाव महसूस होता है' इतना ही नहीं कई बार महसूस होता है वे उर्दू कहानी का नया छंद रच रहे हों जैसे कि कहानी 'हरिकीर्तन' जिसकी बेहतर मिसाल है। उनकी गणना उन कहानीकारों में होती है जिनके कहानी दृष्टिकोण के कारण ही, प्रेमचंद काल के बाद की उर्दू कहानी की पुरानी केंचुल

दरक सकी तथा वह नई काया प्राप्त कर पायी। यह सभी खूबियां उनके लघु व पूर्ण उपन्यासों में भी अनुभव की जा सकती हैं। ज्यादा सुथरे रूप में, उर्दू कहानी को विश्व अंतर्दृष्टि से संपन्न करने में जिन कथाकारों की रचनात्मक प्रतिबद्धता को श्रेय जाता है, उनमें सआदतगंज मंटो, कृश्नचंदर, कुर्रतुल ऐन हैदर के साथ ही जोगेंदर पाल का नाम भी शामिल है। औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के पक्ष में अफ्रीकी जनता का संघर्ष और तकरीबन पूरी दुनिया में फैल चुके, पंजाब के विस्थापितों की पुनर्स्थापित होने की लड़ाई, कैसे एकाकार हो पाती है हम उनकी कहानियों में देख पाते हैं।

सामाजिक विसंगतियों की ऐसी सटीक अचूक जानकारी कम देखने में आती है। यह विसंगतियां उनके कथा साहित्य का अनिवार्य तत्व है। कहानी बैकलेन जिसकी प्रतिनिधि मिसाल है। वर्ग विभाजित समाज की नीच प्रवृत्तियों पर उनकी गहरी नजर है, मनुष्यगत नीचता के आरत करने वाले बिंब हैं, वहां! नाटकीयता तथा व्यंग्य उनकी कहानियों का विशेष गुण है?

‘धरती का काल’ 1967 उनका पहला कथा संकलन हैं। उनके कई कहानी संग्रह, उपन्यास एवम् दो लघु उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं कह सकते हैं कि वे कहानी का नया सौंदर्यशास्त्र रच रहे थे, प्रकाशित हो चुके हैं। आलोचनात्मक निबंधों की दो पुस्तकें भी हैं। सच पूछिये तो वे इनसान भी बड़े थे और कथाकार भी। उनके पास अनुभवों का विराट लोक था और लोगों के काम आने का गहरा जज्बा।

एक कथाकार का समूचा वैभव उनके व्यक्तित्व में झलकता था। मस्त तबियत के आदमी थे फिर भी व्यक्तित्व की चिंतनशीलता छिपी नहीं रह पाती थी। सिग्रेट खूब पीते थे, बातें भी खूब करते थे। युवा रचनाकारों के बीच उनका चहकना देखते ही बनता था, उनकी आंखें जैसे हमेशा कुछ खोजा करती थीं, यही कारण है कि अनवर सदीद (पाक) जैसे आलोचक ने उन्हें ‘अपने रचनात्मक अनुभव के लिए नये-नये महाद्वीप खोजने वाले कथाकार के रूप में प्रतिष्ठा दी।

उनसे मेरी पहली भेंट 1980 में उ.प्र. प्रगतिशील लेखक संघ के प्रांतीय सम्मेलन में हुई थी। सम्मेलन बंगाली क्लब में आयोजित था। हिंदी के लब्ध प्रतिष्ठित साहित्यकारों के साथ ही उर्दू के अनेक प्रसिद्ध रचनाकार भी उसमें शामिल थे जैसे कि डा. कमर रईस और जोगेंद्र पाल एवं भीष्म जी भी थे। मैं ये देखकर आश्चर्यचकित हो रहा था कि भीष्म साहनीजी पाल साहब के सामने बिछ से जाते थे। बहुत सम्मान के साथ वे उन्हें संबोधित करते ‘पाल साहब’.... जबकि पाल साहब उनसे आयु में नौ दस वर्ष छोटे थे। निश्चय ही ये भीष्मजी की महानता थी। वहीं पाल साहब भी इस मामले में भीष्मजी बस से थोड़ा ही पीछे थे। आखिर भीष्मजी के व्यक्तित्व में समायी पारदर्शी विनम्रता वो कहां से लाते स्वयं उनके व्यक्तित्व में तो एक तरह का अक्खड़पन था फिर भी यथायोग्य सम्मान देने में वे कमी न करते थे। विशेष रूप से अपने से कम उम्र के लोगों के प्रति उनका व्यवहार नितांत स्नेहिल व आत्मीय होता। थोड़े अंतरालोपरांत वो मित्रता में बदल जाता। किसी अवसर पर जब मैं वो एक साथ कहीं बैठे हुए थे, उन्होंने पूछा था ‘क्या लिखते हो’?

मैंने बताया, कहानी, निबंध, समीक्षा वगैरा कभी कभी उर्दू रचनाओं का हिंदी में अनुवाद भी कर लेता हूं। मैंने उन्हें उसी सम्मेलन में मेरे संपादन सहयोग से प्रकाशित हुए ‘पहल’ (जबलपुर) के ‘पाकिस्तान में उर्दू कलम’ विशेषांक के लोकार्पण की जानकारी दी बहुत खुश हुए ‘दिखाना मुझे!’ उन्होंने जोर देते हुए कहा ‘पाकिस्तान में बहुत अच्छी कहानियां लिखी जा रही हैं, उनके तर्जुमे

किया करो।’

मैंने अपनी बेबसी प्रकट की, पाकिस्तानी कहानियां आसानी से मिल नहीं पातीं। उन दिनों पाकिस्तान की पत्र-पत्रिकाएं तथा पुस्तकें भारत में कम ही आ पाती थीं। उन्होंने तपाक से जवाब दिया ‘मैं अगले महीने ही से तुम्हें ‘अफकार’ (पाकिस्तान की एक चर्चित पत्रिका) हर माह भेज दिया करूंगा, दूसरे रिसाले भी भेजूंगा।

तरल-तरल से शुक्रिए के बाद मुझे खुशी तो जाहिर करनी ही थी, सो मैंने की इस आशंका से भी ग्रस्त रहा कि कहीं पाल साहब अपनी कहानियों के अनुवाद की इच्छा न प्रकट कर दें। मेरी आशंका निर्मूल साबित हुई, बड़ा आदमी बड़ा आदमी होता है। उन्होंने इस ओर कभी इशारा तक नहीं किया, सच वे बड़े कहानीकार ही नहीं बड़े इनसान भी थे।

यूरोपीय एवं अफ्रीकी भाषाओं में उनकी रचनाओं के अनुवाद तो हुए ही भारतीय भाषाओं में भी उनकी कहानियां अनुदित हुईं। हिंदी पाठकों ने ‘हंस’ में उनकी कहानियां अवश्य पढ़ी होंगी यों राजकमल प्रकाशन ने तथा वाणी प्रकाशन उनकी कहानियों के चयन प्रकाशित किए। स्वयं पाल साहब ने उर्दू कहानियों का एक प्रतिनिधि चयन तैयार किया जो खासा लोकप्रिय हुआ। डा. सादिक के अनुवाद में उसे पेंगुइन ने अवाम तक पहुंचाया।



स्मरण : उमेश चौहान

साहित्य उनकी जिंदगी थी

उमाशंकर चौधरी

उमेश चौहान को चौहानजी से चौहान साहब कहने वालों की संख्या ज्यादा थी। जी में शायद वह आत्मीयता नहीं थी जो साहब में थी लेकिन उमेश चौहान को चौहान साहब कहने वाले सब जानते थे कि इस साहब में साहब कितना था और मित्रता कितनी। चौहान साहब हमसे तो क्या साहब बनते वे तो अपने दफ्तर में अपने मातहतों के साथ भी कहां कभी साहब बन पाए। मुझे याद है जब इस दुःखद खबर के पुष्ट होते ही मैंने फेसबुक पर इसे साझा किया तो चौहान साहब के एक मातहत ने इसे देखकर मुझे फोन किया। पहले तो उस शख्स ने मुझे बहुत झिड़का कि ऐसा झूठ मैं क्यों फैला रहा हूं और फिर जब मैंने उन्हें विश्वास दिलाया कि नहीं यह सच है तब वह रोने लगा। रोना भी ऐसा कि चौहान साहब के बिना यह जिंदगी कितनी बेरंग है। वह शख्स उनके किसी दफ्तर का ही कोई मुलाजिम था। अजीब लगता है यह सोचकर कि जहां एक तरफ अपने अधिकारियों को कर्मचारी नापसंद करते हैं वहां उन्हीं में से एक कर्मचारी अपने अधिकारी से इस कदर मोहब्बत कर रहा था। और फिर देर रात तक लगातार फोन पर फोन आते रहे। पूरा हिंदी समाज स्तब्ध था और घोर उदासी छाई हुई थी। दुख का कारण तो था परंतु स्तब्धताका कारण भी बनता था। स्तब्धता इसलिए कि यह खबर अचानक से आई। बहुत लोगों को पता भी नहीं था कि चौहान साहब बीमार भी चल रहे हैं।

चौहान साहब ऐसे इनसान नहीं थे कि अपने दुख का ढिंढोरा पीटते। उन्होंने अपने जीवन में लोगों से सिर्फ खुशियां ही साझा की थी दुख नहीं। निराशा नहीं। इसी हिंदी समाज में कितने लोग थे जो जानते थे कि चौहान साहब कैंसर से जूझ रहे हैं। और अगर मेरे जैसे कुछ लोग जानते भी थे तो कितना जानते थे। उनके दफ्तर में ही जब उनसे मुलाकात हुई। तब मैंने ही कहा कि शहर के अंदशे में काजीजी इतने दुबले क्यों हुए जा रहे हैं। चौहान साहब के चेहरे पर मुस्कराहट थी हां बस थोड़ा बीमार हूं, कैंसर डिटेक्ट हुआ है। किमियोथेरेपी चल रही है। उन्होंने हाथ पर काले-काले स्पॉट दिखलाए जो उसका रिएक्शन था। फिर बोले अरे कोई बात नहीं सब ठीक हो जाएगा। मैं एकदम से सिहर गया था। उनका कर्मचारी सामने मेज पर चाय के दो कप रख गया था। चाय के चमचमाते दो सफेद कप।

यह वही मेज थी जिस पर हमेशा करीने से सजी होती थीं हिंदी की तमाम नई-नई पत्रिकाएं। चौहान साहब हिंदी साहित्य को जीते थे। हर वक्त वे साहित्य के प्रेम में डूबे रहना चाहते थे। उनकी

अपनी मेज हो या फिर यह अलग से सोफा के साथ लगा हुआ मेज हिंदी साहित्य की किताबों-पत्रिकाओं से अंटा पड़ा रहता था। उस सोफे पर बैठने वाले हर आगंतुक का सबसे पहले साक्षात्कार इन पत्रिकाओं से ही होता। वे वहां बैठकर अपनी फाइलों को निपटाते और हम इस अंतराल में उन पत्रिकाओं को पलटते। कई पत्रिकाएं हमारे पास नहीं होतीं। चौहान साहब सभी पत्रिकाओं पर बारीक नजर रखते थे।

कालियाजी से बहुत जुड़ाव महसूस करते थे। कालियाजी अस्वस्थ थे तो बहुत चिंतित रहते थे। जब कालिया जी का भारतीय ज्ञानपीठ से कार्यकाल खत्म हुआ तब कहते थे कुछ हमें सोचना चाहिए। उनका खाली बैठना अच्छा नहीं है जब कालियाजी का निधन हुआ तब इस बीमारी के बावजूद उन्होंने कालियाजी पर बहुत ही आत्मीय संस्मरण लिखा। चौहान साहब की जितनी सामर्थ्य थी उन्होंने साहित्यकारों की मदद करनी चाही। साहित्य का भला होता रहे इसके लिए वे कुछ भी कर सकते थे।

अभी हमलोग जालंधर से एक कविता आयोजन से लौट रहे थे। यह उनके निधन से बामुश्किल एक सप्ताह पहले की बात होगी। जितेन्द्र श्रीवास्तव, अशोक कुमार पाण्डेय, प्रांजल धर साथ में थे। मैंने अशोक भाई से पूछा कि चौहान साहब की कोई खबर नहीं है। अशोक का ऑफिस भी उसी बिल्डिंग में है। अशोक ने कहा कुछ पता नहीं चल रहा। फोन भी नहीं उठ रहा है। किसी को कुछ बताते नहीं हैं। इसलिए कुछ पता नहीं है। हम सब चौहान साहब के स्वास्थ्य को लेकर एक जैसी स्थिति में ही थे। और होते भी क्यों नहीं। अपने दुख को किसी से साझा किया होता तब न। इधर तो नहीं लेकिन पहले जब भी फोन पर बात हुई, बोले अब सुधार है। फेसबुक पर कुछ दिन पहले तक परिवार के साथ फोटो डालते रहे। हँसते-खिलखिलाते। हां उन पिक्चरों में बहुत कमजोर अवश्य दिख रहे थे लेकिन उन फोटो में भी उन्हें देखकर कभी विश्वास नहीं हुआ कि ऐसा भी हो सकता है। निधन से पहले तक कभी उन्होंने किसी को अपने बारे में सोचने का मौका तक नहीं दिया। वह हर फिक्र को धुंए में उड़ाता सचमुच चला गया।

उसी शाम जयनारायण बुधवारजी (संपादक, कल के लिए) का फोन आया। अरे उमा अभी तीन-चार दिन पहले तो मेरी लंबी बात हुई थी, कह रहे थे सब ठीक है। अब सब ठीक हो रहा है। यह क्या ठीक हुआ। बुधवारजी से उनकी अच्छी दोस्ती थी लेकिन आश्चर्य उन्हें भी कुछ बहुत ठीक पता नहीं था। उनका गला रुंधा हुआ था। बहुत बात नहीं कर पाए। ऐसा लगा जैसे फोन कट करते ही आंसू ढुलक गए होंगे। चौहान साहब गुजर गए लेकिन आज भी उनके रोग को और इस पूरी प्रक्रिया को गहराई से कितने लोग जान पाए हैं।

आखिर कुछ तो था इस शख्स में जो कोई मिलता वह उसी का होकर रह जाता। मैंने आज तक किसी के मुंह से उनकी बुराई नहीं सुनी। आप एक बार कह देते कि आज मुलाकात चाहते हैं बस फिर क्या था चौहान साहब खुद फोन करके पूछते। गाड़ी से तो नहीं आ रहे। अगर हां कहते तो फिर गाड़ी की पार्किंग तक की व्यवस्था हो जाती। मैंने लिखा, अरे दादा मेट्रो से ही आऊंगा। वे खुश हो गए। गेट नंबर मैसेज किया। गेट पर कह दिया और फिर जब तक आप उन तक पहुंच नहीं जाएं वे आपकी चिंता में दुबले हुए जाते।

चौहान साहब बड़े अधिकारी थे। लेकिन उनके लिए यह ओहदा महज एक जीविका चलाने

का साधन मात्र था। वे केरल कैडर के आईएएस अधिकारी थे। केरल में काफी लंबा वक्त गुजारा। कुछ दिन उत्तर प्रदेश में भी रहे। अभी पिछले सात-आठ वर्षों से दिल्ली में थे। यह शायद केरल के लौटने के बाद और दिल्ली में जमने के बाद की बात है कि अखिलेश जी ने उनकी कविताओं को तद्भव में प्रमुखता से प्रकाशित किया था। यू के एस चौहान की कविताएं। मैं तब उन्हें नहीं जानता था। बहुत लोग तब उन्हें नहीं जानते होंगे। नाम थोड़ा ज्यादा ही लंबा और अजीब लगा। चौहान साहब गीत लिखा करते थे लेकिन जहां तक मुझे ज्ञात है कविताएं पहली बार प्रमुखता से अखिलेशजी ने ही छापी थीं। तद्भव में प्रकाशित होने का मतलब तो है ही कि चर्चा हो जाना। फिर हिंदी की तमाम पत्रिकाओं में यू के एस चौहान कहीं इस नाम से तो कहीं उमेश कुमार सिंह चौहान के नाम से तो कहीं सिर्फ उमेश चौहान के नाम से दिखने लगे। मैंने कहा दादा आप पाठकों को कंफ्यूज क्यों करते हैं? तो निश्चिंत होकर बोले कि अरे काहे का कंफ्यूजन। इतना छोटा सा तो परिवार है अपना। सब जानते ही हैं लेकिन अब उन्होंने उमेश चौहान में ही अपने को सिमटा लिया था। उमेश चौहान की कविताएं।

एक दिन उनके दफ्तर में पहुंचा तो एक सज्जन के साथ बैठे हुए थे। सोफा पर बैठते ही चाय ऑर्डर करते। मेरे पहुंचने पर परिचय कराया। वे केरल के पूर्व मुख्यमंत्री और कम्युनिस्ट पार्टी के बड़े नेता अच्युतानन्द के पुत्र थे। दोनों बहुत आराम से बात कर रहे थे। खास यह नहीं था कि दोनों आराम से बात कर रहे थे। खास यह था कि दोनों आराम से मलयालम में बात कर रहे थे। मैं देखता रहा और भौचक रहा। कहने का मतलब यह है कि चौहान साहब जितने दिन केरल में रहे उन्होंने मलयालम को बहुत ही मजबूती से सीख लिया था। उन्होंने इस बीच मलयालम साहित्य को खूब पढ़ा था लेकिन किसी दूसरी भाषा को पढ़ने लायक सीख लेना और उसी भाषा को फरटिदार बोलना दोनों अलग बातें हैं। चौहान साहब को मलयालम में बातें करते सुन कोई यह कह नहीं सकता था किवे केरल के नहीं उत्तर प्रदेश के धुर गांव के बाशिंदे हैं। मलयालम के बहुत ही महत्वपूर्ण कवि अक्किरम की कविताओं का उन्होंने अनुवाद किया। काफी वक्त लगा। इस बीच उनका अपना लेखन बाधित रहा। लेकिन उन्हें दुःख नहीं था। इस अनुवाद को करके बहुत संतुष्ट थे। यह संग्रह भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित होकर आया।

चौहान साहब चाहे खूब अच्छी मलयालम सीख लें या फिर वे फरटिदार अंग्रेजी बोल लें लेकिन वे थे एकदम देशी। उनके अंदर उनका अवध अभी बहुत जिंदा था। उनके दफ्तर के तमाम ताम-झाम को पार कर जब उनसे मिलने जाया जाता तो उस दरवाजे के भीतर घुसते ही सारी औपचारिकताएं पीछे छूट जातीं। वहां न तो कोई अधिकारी मिलता और न ही मंत्रालय का कोई ताम-झाम। वहां मिलते सिर्फ और सिर्फ उमेश चौहान। अपने पूरे भदेसपन के साथ। सरकारी नौकरी और उसमें भी इस ओहदे की अपनी मजबूरी थी कि चौहान साहब हमेशा आपको अधिकारी के वेश में दिखते लेकिन उनके अंदर जो गांव जिंदा था उसे देखकर आश्चर्य हो सकता था। वे खूब गांव जाते थे। गांव जाना बहुत पसंद था उन्हें। फेसबुक पर तमाम तस्वीरें हैं। गांव में अपने गोतिया-दियाद के साथ उनकी जो तस्वीरें हैं उनको देखिये गजब का सुकून था उनके चेहरे पर। एक अजब सी संतुष्टि। गांव की तस्वीरों में उनको देखकर हमेशा लगता था किवे बसयहीं के हैं और यहीं के होकर रह जाना चाहते हैं। चौहान साहब को उनके पूरे व्यक्तित्व और उनके पूरे साहित्य के साथ इन बड़े-बड़े शहरों में रखना

बहुत अटपटा लगता था। उनको दिल्ली में देखना ऐसा लगता था जैसे उनका शरीर तो यहां है परंतु उनकी आत्मा वहीं है गांव की चौहदियों के भीतर।

चौहान साहब जैसे अपने लेखन में थे वैसे ही अपने जीवन में भी थे। इस स्तर की नौकरी करते हुए सरकार की कड़ी आलोचना करना कम खतरे का काम नहीं था परंतु चौहान साहब इससे कभी घबराए नहीं। उनकी नौकरी का ओहदा इतना था कि उनका सीधा वास्ता मंत्रालय से या फिर ठीक-ठीक कहें तो सरकार से था। वे सरकारी नौकरी करते थे लेकिन उसी सरकार के नीचे रहकर उन्होंने सरकार की खूब आलोचना भी की। उन्होंने अवधी में एक कविता लिखी 'जमीन हमरी लै लेउ' यह कविता सरकार की नीतियों की जबरदस्त खिलाफत करती है। उमेश चौहान की जिंदगी में किसान का दुःख सबसे बड़ा दुख था। वे मानते थे कि अगर किसान को आप सम्मान नहीं दे सकते तो यह देश क्या रहने लायक है। किसान जो हमें भोजन देता है हम उसे ही मरने के लिए अभिशप्त किए जा रहे हैं। उनकी यह कविता 'जमीन हमरी लै लेउ' एक जनगीत है। इसका क्रांति में प्रोत्साहन के लिए इस्तेमाल किया जाना चाहिए।

सेज के नाम पे लै लेउ

पॉवर प्लांट के नाम पे लै लेउ

मल्टीनेशनल के खातिर लै लेउ

एक्सप्रेस हाइवे के खातिर लै लेउ

लैंड बैंक के खाता माँ लै लेउ

जौने नाम ते चाहौ लै लेउ।

साहित्य एक समानांतर इतिहास रचता है और जो शायद इतिहास से ज्यादा तटस्थ और विश्वसनीय होता है। यह कविता हमारे समय का एक वैकल्पिक इतिहास है। यह कविता हमें नॉस्टेल्जिक नहीं करती है बल्कि हमारे अंदर गुस्से को भर देती है। उमेश चौहान के अंदर भी इस तंत्र को लेकर बहुत गुस्सा था। सरकार चाहे किसी की भी हो वे इन परिस्थितियों से बहुत नाखुश थे। कविता की आखिरी पंक्ति हमें दुखी करती है, हमें शर्मिंदा करती है और खीझ पैदा करती है।

बीति गवै उमिरि सारी

अब तो हिम्मत हारी

लै लेउ यह जमीन सारी

हम ते अब किसानी के पहिचान सारी लै लेउ।

चौहान साहब अपनी अवधी कविता में बहुत आरामदेह थे। इन कविताओं को पढ़कर देखिये देखकर ऐसा लगता है जैसे वे एक बार कलम उठाते होंगे और लिखते चले जाते होंगे। इन कविताओं में कोई रुकावट नहीं है। एकदम निर्बाध। यह कविता चौहान साहब के दिल के बहुत करीब थी। जिन लोगों ने उनको इस कविता का पाठ करते हुए सुना है उनके लिए यह अद्भुत अनुभव रहा होगा। चौहान साहब का गला बहुत अच्छा था। वे अवधी कविताओं का अद्भुत पाठ करते थे। इस कविता को पढ़ते हुए वे बहुत भावुक हो जाते थे। उनका चेहरा तमतमाने लगता था। वह इस कविता से और इस कविता में आये इस किसान से बहुत तादात्म्य रखते थे। चौहान साहब को पढ़ना कई बार हमें अदम गोंडवी, गोरख पांडेय या धूमिल की याद दिलाता था। यहां यह याद रखने लायक

है कि अदम हों या गोरख या फिर धूमिल इनमें से कोई ऐसा नहीं था जो किसी सरकारी महकमे में इतने बड़े ओहदे पर हों। सरकार के नजदीक की इतनी बड़ी कुर्सी पर बैठ कर इस तरह की कविता लिखना यह उमेश चौहान के जिगर की ही बात थी। और ऐसा भी नहीं है कि अपनी कविताओं को लेकर कोई वे दुराव छिपाव रखते थे। उन्होंने अपने संग्रह 'जनतंत्र का अभिमन्यु' में साफ लिखा 'एक सरकारी कर्मचारी होने के कारण, अभिव्यक्ति के मामले में बराबर आचरण नियमावली से बंधे रहना पड़ता है। फिर भी मैं अपने तरीके से व्यवस्था की हर बुराई की तीखी आलोचना करने से कभी नहीं चूकता।... जो कुछ अमानवीय है उसे जड़ से उखाड़ फेंकने का ही मन करता है। जब भी किसी बात के प्रति मन उद्वेलित होता है, तो सरकारी कर्मचारी होने के नाते सड़क पर निकलकर जिंदाबाद-मुर्दाबाद तो नहीं कर सकता, बस अपने मन के उद्वेग को शांत करने के लिए अपनी प्रतिक्रिया को शब्दों में अभिव्यक्त कर देता हूँ।' उन्होंने इसका जिक्र निजी बातचीत में किया था कि उन्होंने अपनी प्रतिनिधि कविताओं का संग्रह केंद्रीय खाद्य मंत्री रामविलास पासवान को भेंट किया था और रामविलास पासवान ने उसे दिल्ली से पटना की हवाई यात्रा में पढ़ लिया था। रामविलास पासवान ने पटना से फोन कर यह उन कविताओं की संदर्भ के साथ व्याख्या की। कहने का तात्पर्य यह है कि चौहान साहब अपने लेखन में खूब ईमानदार थे और इसको लेकर उनके अंदर कोई झिझक भी नहीं थी। वे अपने हाथ से सरकार के मंत्री को इसकी प्रति भेंट भी करते थे और इसे खुश होकर साझा भी करते थे।

अपनी कविताओं में उमेश चौहान हमेशा उपेक्षितों के साथ खड़े रहे। सत्ता के बहुत करीब होते हुए भी सत्ता उनके लिए हमेशा जुल्म का प्रतीक ही रही। वे हमेशा अपनी कविताओं में हाशिये पर पड़े हुए लोगों की पक्षधरता लेते रहे। वे बहुत अच्छी तरह से साहित्य की भूमिका जानते थे। चौहान साहब को देखकर कभी ऐसा नहीं लगा कि वे हिंदी साहित्य के कवि हैं और इससे उन्हें कोई झिझक है। साहित्य और वो भी हिंदी साहित्य आखिर पढ़ता ही कौन है इस सवाल से लेखकों को चाहे जितनी बार जूझना पड़ता हो लेकिन चौहान साहब के लिए हिंदी साहित्य एक इबादत की तरह था। हिंदी साहित्य को लेकर उन्हें कभी हीन भावना महसूस करते नहीं देखा बल्कि इसके उलट इस लोकतंत्र में निरंकुश होती जा रही सत्ता के खिलाफ और विकृत होती जाती इस संस्कृति के खिलाफ वे साहित्य को एक हथियार की तरह समझते रहे। साहित्य उनकी जिंदगी थी और वे हर पल साहित्य में डूबे रहन चाहते थे। अपनी कविताओं में उन्होंने समाज की उस तस्वीर को हमेशा उभारना चाहा जो इतिहास में कहीं छूट जा रही थी।

*वे लगातार रोते हुए से दिख रहे थे
पर वे रो नहीं रहे थे शायद
दरअसल वे हँसते ही ऐसे थे कि
लगता था जैसे रो रहे हों।*

यह वास्तव में ऐसे वर्ग का सच था जहां रोना जीवन की नियति बन गई थी। यहां सुख और दुःख की विभेदक रेखा खत्म हो चुकी थी। एक ऐसा वर्ग जहां फर्क पड़ना लगभग समाप्त हो गया था।

उमेश चौहान ने सिर्फ कविताएं ही नहीं लिखीं बल्कि अखबारी लेखन से लेकर पत्रिकाओं में

समाज-संस्कृति पर बहुतायत मात्रा में लेख भी लिखे। और इन लेखों में भी वे सरकार के खिलाफ प्रतिरोध के चरम पर जाते रहे। चूंकि इधर कुछ वर्षों से वे ऐसे मंत्रालय में थे जो कृषि जीवन के कल्याण के लिए बना था। नौकरी के इस दरम्यान वे बहुत करीब से इसे देख पाये थे आखिर किसानों के जीवन के हालात ऐसे क्यों हैं। वे इसे बहुत करीब से देखते थे और दुख, गुस्सा और खीझ महसूस करते थे। वे एक ऐसी स्थिति में थे जहां उन्होंने 'अंधेरे में' सच के चेहरे को नंगा देख लिया था। हां एक कवि की हैसियत से चौहान साहब अवश्य अपनी जिम्मेदारी निभाते रहे।

फेसबुक पर चौहान साहब अकसर और अंत तक अपने परिवार और बच्चों के साथ की तस्वीरें साझा करते रहे। जब तक उनकी इंद्रियां काम करती रहीं वे इस आभासी संसार से जुड़े रहे। हम फेसबुक पर उनका स्टेटस देखते और आश्चर्य होते। जब पिछले कुछ दिनों से वे सक्रिय नहीं दिखे तो एक डर हमारे अंतर्मन में अवश्य तैर गया था लेकिन फिर भी हम अपने मन को सांत्वना देते रहे कि नहीं नहीं बहुत जल्द सब ठीक हो जायेगा। इसके बावजूद कुछ ठीक नहीं हुआ और चौहान साहब झटके से इस दुनिया से चले गए।

चौहान साहब गए तो उनके साथ बहुत सारा साहित्य चला गया। बहुत सारा विचार और बहुत सारा प्रतिरोध चला गया। आज हालात बद से बदतर होते चले जा रहे हैं तब जिस प्रतिरोध की सबसे ज्यादा जरूरत थी जिस आवाज की सबसे ज्यादा जरूरत थी, आज वह आवाज हमारे साथ नहीं रही। इस समाज को लेकर उनके मन में बहुत सारे ख्वाब थे अब वे ख्वाब हमारी जिम्मेदारी हैं। यही चौहान साहब के प्रति हमारी सबसे बड़ी मोहब्बत है।



जमादारिन की हवेली

महेश कटारे

क्वारी नदी चंबल में जिस जगह मिलती है वहां बीहड़ घने और गहरे हो जाते हैं। साथ ही तीर की फांक सी एक पट्टी बन गई है। गजब की उपजाऊ है यह पट्टी। क्वारी और चंबल की उतरती बाढ़ यहां हर साल पड़ोस की परत छोड़ जाती है। इसमें फसल को खाद पानी की भी आवश्यकता नहीं होती, न दसियों बार जुलाई की। बस क्वार के महीने में एक बार बखर चलाकर परत फोड़ दो, इसके बाद एक हल की जोत देकर पटेला या पाटा फेर दो। इसके बाद सिर्फ बीज बोना रह जाता है, फिर तो फसल शुक्ल पक्ष के चंद्रमा की तरह बढ़ती है। क्वारी की यह पट्टी नवाब ठाकुर की मिल्कियत है।

नवाब का ठाकुर होना बाहर के कुछ लोगों को अटपटा लगा सकता है पर यहां के निवासियों के लिए बिल्कुल सहज है। बीहड़ की हर जाति ठाकुर होने या दिखने के लिए लालायित रहती है। ठाकुर पानी शक्तिशाली, ठसकदार... जिसके हाथ में और मुंह में निर्णायक शक्ति हो। इसलिए डकैत चाहे जिस जाति का हो, आम आदमी उसे ठाकुर कहकर ही संबोधित करता है। यहां प्रतिष्ठित डाकू 'बागी' कहा जाता है अर्थात् देश के राजा से अलग जिसकी अपनी सत्ता हो। ऐसा होता है भी है यहां बागी गिरोहों के अपने-अपने क्षेत्र हैं जिसमें उनका कहा कानून है और उनका निर्णय न्याय क्योंकि दंड के लिए उन्हें किसी विधान, वकील, जज की जरूरत नहीं होती। तुरंत न्याय और तत्काल दंड...। राज्य के भीतर ये राज्य बीहड़ के रास्तों की तरह समय-समय पर बदलते रहते हैं। बागी अपने समय का ठाकुर होता है। एक मनोवैज्ञानिक सच यह भी है कि ठाकुर कहे जाने पर अहं सुंष्ट होता है और शक्तिशाली भीतर से कहीं मुलायम हो उठता है। मोहर सिंह गैंग का प्रमुख निशानेबाज सदस्य मतीराम जाटव भी अपनी जाति में ठाकुर कहलाता था। दूसरी गरीब गुरबा जातियां भी उसे ठाकुर कहकर ही बोलती थीं। वह भी अपनी शक्ति की सीमा में ठाकुर की ही तरह बोलता, भोगता और बखशाता था।

नवाब ठाकुर चौहद्दी में ही नहीं भिंड, ग्वालियर से लेकर भोपाल तक जाने जाते हैं। उनकी पुरानी रिश्तेदारियां भी राजस्थान के टोंक से लेकर लखनऊ, भोपाल तक हैं। भोपाल के पास में एक ताल्लुका सिरोंज रहा जो टोंक के नवाब अमीर खां को इन्दौर के होल्करों की ओर से सौंपा गया था। अमीर खां पिंडरियों से जुड़े थे और सन् 1817 में उन्हें टोंक की नवाबी मिली। कहा जाता है कि किसी जमाने में कोटा में इटावा तक अमीर खां की अनुमति के बिना चिड़िया भी चूं न कर पाती

थी। नवाब ठाकुर की एक शाखा शायद कहीं से वहां अर्थात् टोंक जाकर भी जुड़ती थी। अमीर खां को अंग्रेजी शासन बागी कहता था। उसके सैनिक काफिले लूटते थे, गांव और शहद भी लूटते थे। लूट के माल को 'माल- ए हक' कहा जाता था। बीहड़ में लोगों, परिवारों, गांवों में आज भी चोरी और लूट को बुरा नहीं माना जाता। विशेष बात यह कि चोरों, डकैतों में भी नवाब ठाकुर की प्रतिष्ठा थी। बहुत बार ऐसा भी हो चुका था कि नवाब ठाकुर के आवास के पीछे बीहड़ की गहराई में बागियों का गैंग पड़ा रहता और आगे पुलिस की प्लाटून। द्वार पर पहुंचे हर मेहमान के लिए नवाब ठाकुर पर आमद था कि वह भूखा न रहे।

अपने खानदान के कदाचित वह एकमात्र मर्द थे जो मुल्क के बंटवारे के वक्त पाकिस्तान नहीं गए। कुछ लोग उसका संबंध देशभक्ति से जोड़ते हैं तो कुछ आशनाई से। जैसे मूल रूप से वह 'आर' के नहीं 'पार' से हैं। नदियों से निजी ओर वाला 'आर' का तथा दूसरी ओर वाला 'पार' का कहा जाता है। आर-पार के बीच नदी की तरल धार बहती है या उड़ती हुई रेत के बगूले। नवाब, ठाकुर की आर के होने पर बने। पार होते तो शायद खान ही रहते।

भारतीय संविधान के जन्म लेने से पहले ही आर के बाशिंदा बने नवाब ने पार इसलिए छोड़ा कि खानदान वाले उन्हें किसी पाकिस्तान नाम के मुल्क ले जाने को तुले हुए थे। अनजाने परदेस न जाने की सजा उन्हें यह मिली कि उस समय के हिसाब से जल्दबाजी में औने-पौने बेची गई जमीन जायदाद से उन्हें फूटी कौड़ी तक नहीं दी गई। जायदाद उन दिनों परिवार के किसी एक शख्स के नाम होती थी जो परिवार का मुखिया अथवा कोर्ट कचहरी में दखल रखने वाला होता। उसे फरोख्ती का भी हक हासिल रहता था। नवाब ठाकुर के पिता का तीन बीबियों वाला भरापूरा परिवार था पर अपनी मां के यह अकेले नूरे-चश्म थे। नई-नई जवानी का उठता शरीर और शायरों की सौहबत। कमाने-धमाने की कोई चिंता भी नहीं सो एक खलासिन को दिल दे बैठे जो उम्र में इनसे दस बरस बड़ी थी।

जो भी हो छोटे नवाब ने किसी पाकिस्तान को कतई अस्वीकार कर दिया तथा बेगम ने खाविंद और बेटे के बीच बेटे की संरक्षा चुनी। बड़े नवाब अपनी दूसरी दो बीबियों का कुनबा समेट पाकिस्तान रवाना हो गए। नवाब ठाकुर की मां के पास कुछ गहने थे तथा मां के पिता की ओर से दहेज अथवा हक में मिली यह दो नदियों के मुहाने वाला पट्टी थी जिसे न उन्होंने कभी देखा था न फसल अथवा उगाही के रूप में उससे कभी धेला भी वसूल हुआ था। बेगम या अम्मा ठाकुर ने इसी जमीन की दम पर भगोड़े शौहर का संग छोड़ा था। पाकिस्तान जाने वालों के लिए वह उम्र भर 'भगोड़े' शब्द का ही इस्तेमाल करती रहीं।

तो, उधर कुनबे कबीले ने पाकिस्तान की राह पकड़ी, इधर अम्मा ठाकुर जवान बेटे को लेकर चंबल की नाव में आ बैठीं। कहते हैं कि उनकी नाव अकेली न थी बल्कि ग्यारह नावों का एक पूरा बेड़ा था जो इस ओर यानी अटारी के घाट आकर लगा था। उनके साथ खवास, धोबी, मेहतर, पनभरा, कहार जैसे एलचियों के परिवार भी थे जो मालिक के साथ उखड़कर 'पार' से 'आर' आ पहुंचे थे।

ऐसा नहीं कि अटारी में अम्मा ठाकुर सर्वथा अपरिचित थीं। पटेली और पटवारी उन्हें जानते थे। खसरा खतौनी की दर्जबंदी में हर साल उनका नाम चढ़ाया जाता था। दो सौ छप्पन बीघा छह बिस्वे का रकबा कोई कम नहीं होता। वहां की इनामी खेती से बीसियों परिवार पलते थे पर मौरूसी

हक अमीना बेगम के नाम ही चला आता रहा है जो अटारी घाट पर उतरते ही अम्मा ठाकुर हो गईं।

अम्मा ठाकुर ने छोटी ही सही नवाबी देखी थी। वहां के डाह, षड़यंत्र, चुगली, बेईमानी, झूठ, फरेब, ऐंठ से वाकिफ थीं सो अटारी पहुंचते ही एक तो उन्होंने मंदिर के बगीचे में पड़ाव किया जो कस्बे से सटा मगर बाहर था और उसमें कुएं का साथ एक कोठरी व तिवारा भी बना हुआ था। साथ वालों ने पेड़ों के नीचे नमीन झाड़ बुहारकर अपने चूल्हे जोड़ लिए। पटेली, पटवारी ने इसके लिए पुजारी को पहले ही राजी कर लिया था। दूसरे उन्होंने पांच गांव के पटवारी भभूती लाल श्रीवास्तव उर्फ लालाजी को अपना देवर बनाया तथा इलाके के साखबंद ठाकुर धीर सिंह को राखी बांधी। इतना कर वह निश्चिंत हो तस्वीर हाथ में ले अल्लाह का नाम जपने लगीं। अब जो करता था सो लाला भभूती लाल और ठाकुर धीर सिंह को करना था।

सबसे पहली समस्या ठिकाने अथवा आवास की थी। मंदिर के बाग में रहते पखवाड़ा बीत गया। अब पुजारी भी कसमसाने लगा कि कहीं डेरा स्थाई न होने लगे। अभी तो खैर जेठ का महीना चल रहा है, बरसात आ गई तो चौमासे भर मेख नहीं उखड़ेगी। इन दिनों तो शत्रु को भी बेघर नहीं किया जाता। बागवान परेशान था कि साथ आए एलचियों के लड़के-लड़कियां दिन भर आम के पेड़ों पर चढ़े रहते हैं। बच्चे तो वानर सेना हैं- कुछ खाते हैं कुछ उजाड़ते हैं।

एलची परिवार खुद शर्मिदा और परेशान थे। खुले में खाना-पीना, सोना, रहना-कुछ तो पर्दा चाहिए। बच्चों को झिड़कते पीटते; बच्चे पीटते, रोते... नाक, आंसू पोंछते- एक दिन रुकते और दूसरे दिन फिर वही पहले सी रफ्तार। अमीना बेगम से अम्मा ठाकुर बनी नवाबिन देख समझ रही थीं कि उनके सेवादारों सहित नवाब ठाकुर भी बेचैन हैं। एक दिन पहले वह उनके सामने भी हो चुके थे- 'अम्मी जान! कहां लाकर पटक दिया है आपने हमें... दिन भर पेड़ों, पाखियों को देखते रहो और रात में दाल रोटी खाकर सोने की कोशिश करते रहो रात भर। एक शाम मुर्गा क्या पकवा लिया कि वो पुजारी टोह लेता था आ पहुंचा, आपके पास ही तो, कि बाग में मुर्गे के पर कहां से आए? अब देखिए कि मुर्गियां अंडे दे रही हैं और पुजारी का फरमान है कि बाग में अंडा, मांस, मछली नहीं पका, खा सकते। क्या हिमाकत है, हम क्या घास पात ही खाते रहेंगे?

अमीना बेगम ने अपनी परेशानी अपने देवर लाला भभूती लाल से साझा की। लालाजी नवाबी खानपान और शौक-जरूरतों को जानते समझते हैं। उन्होंने एक तात्कालिक समाधान तो यह दिया कि- भाभी, हुजूर! कल भतीजे नवाब साहब को आप मेरे साथ भेज दें। उन्हें खाए-पिए बहुत दिन हो गए हैं।'

देवर भाभी का रिश्ता इस देश का नितांत विशिष्ट संबंध है जिसमें आदर, दोस्ती, मर्यादा और अपनापे का एक अजीब मिश्रण है। एक लगभग मां, बहन जिसके साथ मित्र के स्तर तक खुला जा सकता है। नवाब ठाकुर का तात्कालिक हल निकला पर आवास की समस्या मुंह बाए खड़ी थी। महीने, दो महीने की बात हो तो असुविधा झेलकर भी अपनी रिहाइश का कुछ हिस्सा खाली कर दिया जाए पर अटारी में रहकर भी न अपनी जमीन की देखभाल हो सकती थी न इतने परिवारों के रहने, खाने, कमाने का वसीला जुड़ना संभव था। गांवों में भी पक्के मकान दो चार ही होते शेष तो कच्चे अर्थात् मिट्टी से बनते थे। मिट्टी की दीवारों को गज भर का आधार देकर खड़ा करने के पश्चात शीशम, नीम, बबूल की सोटें अथवा चिरवी लट्टे बिछाकर ऊसर मिट्टी से ऐसी ढलवां छत तैयार

की जाती कि नीचे सीढ़ तक न आए। जरूरत अनुसार इसे दुमंजिला भी कर लिया जाता। मिट्टी के ये घर गर्मी में तराई देते और जाड़े में दंदक (धधक)। घास, मिट्टी, लकड़ी कोई मोल तो लेनी न थी। रैयत के लोग भी एक दो मिट्टी के मढ़ा बनाकर छान, खपरैल के साथ मजे में गुजारा कर लेते। यहां की प्रकृति के यही अनुकूल भी था।

पर ऐसे दुमदुमों में राजाओं, नवाबों की गुजर नहीं होती। अंत में ठाकुर धीर सिंह और लालाजी की मंत्रणा के पश्चात तय हुआ कि साल दो साल में जब तक ठीक-ठाक रिहाइश न बने, नवाबी परिवार को जमादारिन की हवेली में ठहरा दिया जाए। वहीं आसपास के टीलों, कूहों पर एलचियों की व्यवस्था भी हो सकती है। जगह ऊंची है- चंबल और क्वारी की बाढ़ का पानी भी यहां तक नहीं पहुंचता। यह हवेली अटारी से दो कोस पूरब में बनवाई गई थी। चंबल को आगे जाने वाला रास्ता यहीं होकर था।

जमादारिन की हवेली का क्षेपक

इलाके के बड़े बूढ़े सुने हुए को चश्मदीद की तरह बताते हैं कि ये हवेली पचनारिया (1870) की मरी (प्लेग की मौतों) से पहले बनी थी। जब रोजाना की नकद मजदूरी दुअन्नी (दो आना) अथवा अनाज के रूप में तीन सेर बेझर (गेहूं चना) या चार सेर ज्वार मिल जाती थी। इस हवेली ने अकाल की साल में सैकड़ों परिवारों को भूखों मरने अथवा अकाल काटने के लिए मालवा की ओर जाने से रोका था। अब का जिला शहर भिंड तब एक कस्बा भर था, अटारी से भी छोटा। कारण कि वहां से किसी बड़े शहर तक पहुंच ही आसान न थी। ग्वालियर तीस कोस पर और मिट्टी गिट्टी की टूटी-फूटी, पतली सी सड़क। बसें चलती थीं न ट्रक। माल ढोने के लिए भी बैलगाड़ी थी या ऊंट की पीठ। इधर इटावा भी अठारह कोस था। बीच में ऐंडा बेंडा बीहड़ तथा दो-दो महानद- चंबल और जमुना। इधर अटारी से चंबल कूदते ही डेरे (बायें) हाथ आगरा और सीधे (दायें) हाथ इटावा। सो बंज व्यौपार की सहूलियत अटारी में ही थी। जिले भर के नामी साहूकार अटारी में बसते थे। अटारी का माल नावों से चंबल और जमुना होकर गंगाजी तक पहुंचता था। हालांकि अटारी ग्वालियर रियासत में थी पर नाते रिश्तेदारी व्यौहार, व्यापार पार से थे। पार सीधा अंग्रेजी हुकूमत में आता था।

बहरहाल जैसे राजाओं के राज्य व जागीदारों की जागीरें होती थीं, वैसे ही सेठ साहूकारों के अपने-अपने गांव और इलाके थे। अटारी से पूरब में महादेवपुरा तक के गांव जिस सेठ के व्यौहार में थे, उसका नाम था श्रीलाल। श्रीलाल सेठ बंजी के लिए निकलता तो माल से लदे ग्यारह ऊंट उसके साथ साथ होते थे। भरमार बंदूकों वाले दो मेहतर आगे पीछे रहते। ऊंटवाले प्रायः तलवारबंद ठाकुर होते थे। श्रीलाल खुद घोड़े पर चलता था। उस समय भरकों में कोई बड़ा गिरोह नहीं था। छोटे मोटे गिरोह या लफंगों की इतने बड़े दल पर बिनी किसी शह या संध के हाथ डालने की हिम्मत न थी। चलते पुर्जा लोगों से सेठ के घरेलू संबंध भी सुरक्षा का एक मजबूत पक्ष था।

बंजी अधिकतर उधारी पर चलती थी। बूरा, गुड़, नमक, तेल, मिर्च, मसाले, कपड़ा लत्ता, सिंगार पिटार, सुई धागा गरज कि गांव की हर जरूरती चीज सेठ वाजिब मुनाफे में उधारी पर देता और चैत कार्तिक की फसल आने पर लोग ईमानदारी से उधारी चुकाते। सेठ दीन दुःखियों की उधारी माफ भी कर देता था। जरूरतें इतनी कम थीं कि साल भर में श्रीलाल के चार चक्करों से पूरी हो लेती थीं। लोग शादी ब्याह की हाट तक घर बैठे निपटा लेते। छमाही अर्थात् चैत के कार्तिक तक और

कार्तिक में वैशाख तक ब्याज नहीं होता था। अकाल की साल भी ब्याज माफी में रहती जो उन दिनों पांच दस साल में आते ही रहते थे। वसूली के लिए सेठ अलग से निकलता। उधारी के बदले मिले अनाज को उसी गांव में खों (अनाज जमा करने का विशेष गढ़) में भरवाता तथा नकदी टांकी में भर अपने साथ घोड़े पर रखता। चांदी का सिक्का चलता था तब... तोला भर चांदी का विकटोरिया छाप। सेठ ने वसूली की। कुछ वसूली और अनाज वगैरा का हिसाब बचा था अतः मुनीम और हथियार बंद रखवारों को वसूली की सुरक्षा के लिए छोड़, सिर्फ मुंशी को बताकर गुपचुप रात होते-होते निकल पड़ा कि कोस भर की दूरी पर गांव में ठाकुर के यहां ठहर लेगा ताकि सुबह-सुबह अटारी पहुंच सके।

वसूली काफी थी.. टांची भरी हुई। ठाकुर का ईमान डोल गया और दिमाग पर बदनीयती छा गई। अपने द्वार पर दगा कर नहीं सकता था अतः सेठ को ब्यालू कराने सुलाने के बाद वह गांव के जमादार के घर पहुंचा। जमादार शब्दभेदी निशानेबाज था। ठाकुर ने लालच देकर राजी कर लिया कि सेठ भोर से पहले अँधेरे में निकलेगा, जमादार मौजे की सरहद निकलते ही गोली मार देगा।

पति और ठाकुर की पाप-मंत्रणा को खपरैल के दूसरी ओर बैठी जमादारिन सुन रही थी। पति को रोकती तो वह न मानता क्योंकि बात पक्की हो चुकी थी। भेद खोलती तो ठाकुर जमादारिन को झूठी ठहरा कुत्तों से चिंथवा देता। ठाकुर के विरुद्ध उसकी सच्चाई को कौन स्वीकार करता? जमादार ब्यालू पर आया तो जमादारिन सिंगार किए दिखी। खूबसूरत तो यूं भी थी वह। कांसे के फूलदार गिलास से महुए की महक फैल रही थी और कटोरी में सरसों के तेल में सिंकी प्याज की पकौड़ी। खिलाते पिलाते हुए जमादारिन ने आधी रात बीतने तक जमादार को खूब थका डाला।

जमादार तो गहरी नींद सो गया पर जमादारिन की आंखों में नींद कहां। थोड़ी सी रात और ढलते ही वह डलिया, झाड़ू लेकर निकल पड़ी। कोई टोकेगा तो बहाना बना देगी कि- मैं समझी थी, भोर होने को है।

खैर उसने ठाकुर की बंगलिया में सोते सेठ को झाड़ू का टोंचा देकर जगाया। टांची छाती से चिपकाए सेठ जैसे भी चौंकता, फड़कता लेटा था। दूसरी बार जमादारिन ने हाथ से पिंडली कोंची। सेठ जान गया कि कोई जनाना हाथ है। क्षण भर में जाने क्या-क्या सोच गया फिर नींद में सपने का बहाना लेकर बुदबुदाया- 'जननी सम जानहिं पर नारीं।' चौपाई के उत्तर में फिर से झाड़ू का टोंचा पड़ा।

अब श्रीलाल को उठना पड़ा। इधर-उधर की आहट लेता दबे पांव बंगलिया के द्वार पर आया। लब्बोलबाब ये कि जमादारिन ने सारी हकीकत बता दी और ठाकुर के चंगुल से भागने की कहकर लौट आई।

सेठ ने खांस खंखारकर अपने जगने की सूचना दी तो ठाकुर पौर में से उठकर बंगलिया में आ गया- 'अबै बहौत रात है बौहरे!' ठाकुर कुछ समय और रोकना चाहता था ताकि जमादार ठीये पर पहले पहुंच जाए।

सेठ भी इस चालाकी को समझ रहा था- 'हां सो तो है तुम अबै काये जग आए? घंटा डेढ़ घंटा में निकरेंगे। तनिक घोड़ा को भुरकनी दे दें, फिर एक झपकी ले लें निकरेंगे।'।

ठाकुर को भीतर भेज भुरकनी के बहाने घोड़ा की जीन कसी और टांची कमर में बांध घोड़े की दबी टाप के साथ निकलकर गांव के दूसरे छोर पर बसे अन्य ठाकुर के द्वार पर पहुंच गया।

जगार होने लगी और पौ फटने के आसार दिखे तो ठाकुर ने बेटे को अटारी के रास्ते पर भेजा

कि कहीं ऐसा न हो कि जमादार ही माल लेकर रफूचक्कर हो जाए। उसे भी तो बीबी और गोद के बेटे को ही तो साथ लेना है। बाकी रहीं दो बकरियां, एक गाय और कुछ मुर्गा-मुर्गी। छोड़ जाएगा अपना छप्पर और खपरैल। नीच जाति का क्या ऐतबार...। काम तो कभी का हो गया होगा।

टोह लेता ठाकुर का बेटा घोड़े पर बढ़ा चला आ रहा था। जिस तरह दीपक बुझने से पहले क्षण भर के लिए उसकी रोशनी या लौ बढ़ जाती है उसी तरह पौ फटने से पहले अँधेरा कुछ और घना हो जाता है। मोर्चा जमाएँ देर से बैठा जमादार बेचैन था कि सेठ आएँ और वह अपना काम करे। उसकी टोपीदार बंदूक बिल्कुल तैयार थी। दोनाली देसी.... एक फायर चूके तो दूसरा भी तैयार। जमादार का निशाना नहीं चूकता फिर भी वह दोनों फायर करेगा। कोई चूक नहीं छोड़ना।

घोड़े की टाँपें जैसे ही बीस कदम की दूरी पर आईं, जमादार की ऊंगली बंदूक के घोड़े पर कस गई और पलक झपकते धाँय के साथ आग में डूबी शीशे की गोली सवार में जा धंसी। एक गरज और हुई दूसरी गोली ने भी आवाज का निशाना बेध दिया। घोड़ा बिदका और सवार को फेंक भाग निकला तथा सवार धूल बटोरता हुआ छटपटाकर शांत हो गया। जमादार लाश के पास पहुंचा। रुपयों की टांची टटोली। फटती पौ के उजाले में पहचाना कि यह तो सेठ नहीं है...। जमादार इसके बाद न गाँव लौटा, न कहीं देखा गया।

ठाकुर को सातों जाति की पंचायत ने चौरासी गाँवों के बीच दगाबाज घोषित कर सुबह सबेरे उसका मुँह देखना निषिद्ध करार दिया। सेठ श्रीलाल ने सकल पंचों के बीच जमादारिन को बहन मानकर पाँव छुए। जमादारिन के लिए दो चौक की हवेली बनवाई- पाताल तोड़ कुंआ बगीचा और मंदिर साथ में। जमादारिन के बेटे की परवरिश और पढ़ाई की पक्की व्यवस्था की। बेटा बड़ा होकर शहर में जा बसा पर जमादारिन मंदिर में पूजा करती हुई ताजिंदगी हवेली में ही रही। उन्होंने अपने बिछुआ मरते दम तक नहीं उतारे थे।

(हवेली का क्षेपक समाप्त)

जमादारिन की हवेली बीसियों साल से बंद थी। साल में एकाध बार उनका बेटा आगरा से आता। विशेषतः दीपावली से पहले आकर वह दो चार दिन ठहरता। कलई चूने से मंदिर की पुताई, सफाई करवाता और लौट जाता। अटारी आकर वह सेठ की हवेली में ही ठहरता। सेठ के लड़के पोते उससे छुआछूत वाला व्यवहार नहीं करते थे। अगली पीढ़ी को हवेली की आवश्यकता न थी। इस बीहड़ में कौन बसता?

तालों की चाबियाँ सेठ परिवार के पास थीं। हवेली में एक छोटा सा द्वार पीछे बीहड़ों की ओर भी खुलता था जिसमें से होकर बागियों के गिरोह हतों हवेली में पड़े रहते और चौमासे अर्थात् बरसात में तो महीनों। सबको पता था। पुलिस की गश्त भी यदा-कदा सामने के द्वार पर जड़े ताले को देखती हुई निकल जाती थीं गिनती का पुलिस दल डाकुओं से टकराने का खतरा कैसे उठाए? बागी भी सामान्य जन को परेशान नहीं करते थे। उनके निशाने पर तो दुश्मन, धनवान अथवा मुखविर आता था। रसद लाने वाले को पूरा पैसा चुकाते थे बागी।

लालाजी ने सेठ श्रीलाल के वंशजों से संपर्क किया- जमादारिन के पुत्र से अनुमति की तो ठाकुर ने दाऊ मानसिंह को समस्या का पहलू समझाया। मानसिंह का गिरोह ही उस समय सबसे प्रभावशाली था। वह कड़ाई से बागी-धर्म के नैतिक नियमों का पालन करते थे। कुल मिलाकर आठ दिन में ऊपरी औपचारिकता पूरी हो गई एवं आठ दिन सफाई आदि के जरिए हवेली को बसने योग्य

बनाने में। इस तरह अम्मा ठाकुर जमादारिन की हवेली में रहवासी हो गई। नवाब ठाकुर की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए लाला भभूती लाल ने कुछ विशेष व्यवस्था भी कर दी।

हवेली में दिया जलने लगा। अम्मा ठाकुर ने अपनी जमीन में से दस बीघा मंदिर के नाम लिख दी ताकि पूजा रचा होती रहे। ऐलचियों में एक पुजारी का नाम भी शामिल हो गया। अपनी इबादत के लिए अम्मा ने हवेली के ही ऊपर तिवारे में चांद तारे बनवाकर मक्का शरीफ की तस्वीर टांग ली। महीना बीतने न बीतते एक छोटी सी बस्ती खड़ी हो गई और आस-पास के लोगों ने उसका नाम भी रख लिया- 'नवापुरा'। यही नाम लाला भभूती लाल श्रीवास्तव की खतौनी, खसरा से गुजरता हुआ मध्य भारत सरकार के रिकार्ड में दर्ज हो गया।

बस्ती को लुच्चे-लफंगे चोर लूटों से बचाने के लिए पर्याप्त असलहा साथ था अर्थात् एलची। जवान, अघेड़ों की दो चार बरछियां, फरसे, चार छह तलवारें तथा नवाब ठाकुर की ग्रीनर दोनाली, एक विंचेस्टर राइफल, एक पिस्टल तथा अम्मा ठाकुर का पुराना तमंचा। हंसिया, कुल्हाड़ी, कटार तो थे ही। इन सबसे ऊपर ठाकुर धीर सिंह का वरदहस्त जिना दाऊ मानसिंह तक आदर करते थे। असल में बीहड़ों पर किसी सरकार का नहीं दाऊ मानसिंह का राज्य था।

अम्मा ठाकुर और लालाजी ने नवाब ठाकुर को ठोंक-ठोंक कर समझा दिया था कि यहां बड़प्पन बनाने व बचाए रखने के लिए दो चीजें जरूरी हैं। वह हैं- बात और लंगोट का पक्कापन। लंगोट का कच्चा आदमी कुत्ता, बिल्ली, भेंस, डांगर करार दिया जाता है तथा जिसकी बात का भरोसा नहीं, उसके बाप का भी भरोसा नहीं अर्थात् दोगला। बाप का ठिकाना नहीं तो जान कैसे तय हो और जाति बिना पहचान नहीं बनती। यहां पश्चिम में सबसे पहले जाति पूछी जाती है- 'कौन ठाकुर हो भाई!'

वह हाल-हाल मिली आजादी का समय था। लोग ठीक से जानते भी न थे कि आजादी होती क्या है जो मिल गई या आ गई है। सब कुछ वही तो है जो पहले था। हां जमादारिन की हवेली में अम्मा ठाकुर जरूर आई हैं जिनकी बोली-बानी रहन-सहन जरा अलग है। बहुत से लोगों ने भिंड, ग्वालियर आने-जाने वालों, स्कूल के मास्टर्स एवं पटवारी भभूती लाल के मुंह से भी सुना था अंग्रेजी राज चला गया अब पं. जभारलाल गद्दी पर बैठ गए हैं पर इससे क्या? पटवारी बाग, बेड़ा कुंआ वाले। जागीरदारों की तरह की शान रखने वाले कुछ जमींदारों में भी अपनी शान और मर्दानगी दिखाने के लिए नथ उतारने का सामाजिक स्वीकृति प्राप्त चलन था। पंद्रह साल पहले जवानी के दिनों में लाला भभूती लाल श्रीवास्तव ने नथ तो नहीं उतारी पर रेशम उन्हें अब तक किसी नथ उतारने वाले से कम नहीं मानती। भभूती लाल जब अपने पांच गांव के दौरे पर जाते हैं तो घर लौटते पंद्रहिया या पखवारा पूरा होता है, इससे कम से कम एक रात रेशम के नाम है। वह जिला फांदकर सिंहेनिया पहुंचते ही थे।

यह सब उनकी धर्म पत्नी से भी छिपा नहीं था पर उन्हें शायद कोई शिकायत न थी या शायद एक भारतीय नारी की भांति वह इसे नियति मान हर्ष, विशद, गौरव की सीढियां चढ़ती उतरती रहती थीं। लाला जी हमेशा दिन और रात की संधि पर, जब आकाश से सूने, कंटीली, भुरभुरे गहरे बीहड़ों पर उतरती सांस का काजल टेढ़े रास्तों को और भी अकेला व उदास करता हुआ, डराती सायं-सायं में डुबोने लगता था तब सिधेनियां की सीमा में धंसते थे।

रेशम आशा शराब की शीशी का ढक्कन सिर्फ भभूती लाल के लिए खोलती। आशा उन दिनों

रजवाड़ी मदिरा थी। हलके गुलाबी रंग की आशा सिर्फ राजे-रजवाड़ों, सरदारों, जागीरदारों को ही नसीब होती थी।

भभूती लाल वही हैं, थानेदार वैसा ही है, दाऊ मानसिंह का गिरोह है ही। ग्वालियर में महाराजा सिंधिया भी हैं। गांधी जी का नाम सुना तो बहुतों ने था पर किसी के परिचय का कोई आदमी ऐसा नहीं था जिसने गांधी को देखा हो। जब ठाकुर धीर सिंह ही नहीं देख पाए तो कोई और क्या देख पाता। गांधी जी के गोली खाकर मरने की चर्चा भी हुई थी- 'बीर पुरुष ऐसे ही मरते हैं। जोधा सीने पर घाव लेता है। गांधी औतार थे...।'

'औतार गोली से नहीं मारे जाउते हैं।'

'किशन भगवान बाण से मरे हते। लिखौ है कि जरा उनका भाई था। वे औतार हते कै नहीं।

'गांधी बाबा पै भी अंग्रेजी गोली असर नहीं करती हती। अपने की ही गोली आर पार भई।'

कृष्ण के अवतार होने पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं था। हालांकि न यहां किसी ने कृष्ण को देखा था न गांधी को। इतना जरूर है कि सब जानते हैं कि कृष्ण अहीर थे। राम सूर्यवंशी क्षत्री। दोनों अवतार ठाकुर थे। परशुराम ब्राह्मण थे। गांधी कौन जाति थे?

जाति तो कुछ न कुछ रही ही होगी पर यहां निश्चय के साथ कोई नहीं बता पाता। धाम अनुमान यही था कि ऊंची जाति के ही होंगे। नीची जाति में कोई अवतार नहीं होता। अंबेडकर का नाम यहां कोई न जानता था। हरिजन हुई जातियों से भी नहीं। हां भक्त रैदास का नाम ज्यादातर लोग जानते थे। जो अपनी जाति चमार कहने में झिझकते वे स्वयं को रैदासी कहते थे। लोग समझ लेते थे।

नवाब के संदर्भ में जाति पहेली बन गई। इतना तो तय था कि मुसलमान हैं। समस्या यह कि वो ठाकुर कैसे हुए। अटारी में भी मुसलमान हैं- कोई रंगरेज है, कोई भड़भूजा। तेली और तमोली भी है तो नवाब की क्या जाति बनती है? अम्मा और ठाकुर दोनों हिंदू में होते हैं।

'अरे अम्मा मुसलमान में हूं होवत हैं'- अम्म और ठाकुर दोनों हिंदू में होते हैं।

'फिर, ठाकुर की पूछ पीछे आये लगी है? दूसरा पूछ लेता

'तो हिंदू मुसलमान के बीच की घसड़-पसड़ होगी कदू?' पहला हथियार न डालते हुए बहादुरी के साथ बात औघर हांक देता।

ज्यादातर लोगों का मानना था कि नवाब ठाकुर की जाति का सजरा लाला जी जानते हैं, पर उनसे पूछने की हिम्मत रैयत की तो छोड़िए, बहुत से ब्राह्मण ठाकुरों में भी न थी। इकसरी हड्डी के सवा पांच फुटे लालाजी का प्रताप इतना था कि अच्छे खां को तर्जनी दिखा देते- 'निकल मेरे गांव से'। पांच गांव के खेत खलिहान, घर गेंउड़े न आने जाने के रास्ते तक लालाजी के बस्तों में बंधे धरे थे। दाऊ की दुनाली की काट हो सकती थी, लालाजी की कलम की काट कलैक्टर के पास भी नहीं थी।

भभूती लाल कलम और बात दोनों के धनी थे। कह दिया सो कह दिया- 'प्रान जाय पर बचन न जाई' पर पूरा अमल था उनका। पेट के इतने भारी कि रहस्य का खुलासा कोई करवा तो ले मुंह से। सैंतालिस साल के लालाजी कड़क हैं तो रसिक भी। छोटे-मोटे जमींदारों सी जायदाद के मालिक हैं।
(शीघ्र प्रकाश्य उपन्यास का एक अंश)



सीढ़ियां

कमल कुमार

अब आप यहां क्या करेंगे? मेरे साथ ही चलिए पिताजी। आप हमारे साथ परिवार में रहेंगे, बच्चे हैं, सविता है, घर की व्यवस्था है। यहां अकेले में आपको दिक्कत होगी। नहीं बेटा! यहां कोई अकेला नहीं होता। इस देश की मिट्टी, पानी, हवा और धूप सब साझा करके एक दूसरे को बांध देती है। वह हंसा था, वह तुम्हारी गुजरातन आंटी है न, आप चाहो या न चाहो वह खाखड़े तो दे ही जाएगी और यह पंजाबी मिसज भाटिया सर्दियों में हर हते या दस दिन बाद एक कटोरा साग तो भेज ही देती हैं। मना करो, तो कहेगी, अरे भाई साहब, आपके लिए तो बनाया नहीं, घर में बना ही था, आप भी खाइए। फिर मेरे जैसा साग कोन बनाएगा! फिर अपने ही खेतों का है। बलवीन्द्र जब भी आता है ले आता है। भाई साहब दो रोटी मक्की की भी है। अब साग है तो मक्की की रोटी भी होगी ही। हंसती हुई आती है और हंसाकर चली जाती है।

यहां सब अपने ही जैसे हैं। तुम चिंता मत करो बेटा परंतु पिताजी अब आप रिटायर हो गए हैं। अकेले में समय काटना मुश्किल हो जाएगा।

ना-5 बेटा, डॉक्टर और टीचर कभी रिटायर हीं होता, अगर वह चाहे तो भी! हमारा काम ही ऐसा है। अब मुझे पैसों के लिए तो पढ़ाना नहीं है। फिर क्या! जिनको जरूरत है, पढ़ाई में कमजोर है उन बच्चों को पढ़ाऊंगा।

विवेक उनके तर्क के सामने निरुत्तर हो गया था। ठीक है। पिताजी, आप अपना ख्याल रखिए। जब आपका मन करे कुछ समय के लिए आ जाइए। मैं भी आता ही रहूंगा।

ठीक है बेटे। खुश रहो तुम सब। मेरा आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ है। विवेक चला गया था।

मि. गुप्ता का अपना एक जीवन रूटिन था। सुंबह सैर करने जाते। लौटकर नाश्ता वगैरा। कामवाली घर का काम कर जाती थी पहले ही की तरह। फिर वह अकादमी में कक्षाएं लेने चले जाते। मैथ्स और साइंस के बच्चों को हमेशा अलग से कोचिंग की जरूरत होती है। शाम को लौटते। चाय पीकर, थोड़ी देर पार्क में जाना होता तो चले जाते। घर लौटकर रात का खाना, थोड़ी देर टीवी पर खबरें और दिन निकल जाता।

उसने देखा, नीचे वाले पड़ोसी शर्मा, आंगन की खुली जगह पर कमरा बनवा रहे थे। एमआईजी फ्लैट्स में और दूसरी ग्रुप हाउसिंग में यह एक आम बात है। नीचे का फ्लैट दो बेड रूम का था इसमें एक और कमरा मिल जाता। कईयों ने जरूरत बढ़ने पर एक कमरा और मिल जाता है इसलिए

इस खुली जगह को कवर कर लिया था। छत पहली मंजिल वालों को मिल जाती। जिसे वे खुली जगह पर बैठने, धूप सेकने आदि के काम में लाते। यह व्यवस्था ऐसी ही चल रही थी। अरे, यह क्या? शर्मा ने कमरा बनवा लिया और साथ ही एक सीढ़ी लगवा ली। उस सीढ़ी पर चढ़कर तो कोई भी आसानी से उसके घर में घुस सकता था। वैसे भी इस कॉलोनी का डी-ब्लाक पीछे की तरफ पड़ता है। जहां मुस्लिम कब्रिस्तान है उजाड़ सी जगह है, जहां अक्सर असामाजिक तत्व किसी खुराफात की ताक में रहते हैं। दिन में वे पीछे से पत्थर फेंककर घरों के शीशे तोड़ते हैं। भाग जाते हैं आज तक शिकायत करने पर कोई नहीं पकड़ा गया। रात में फैंस लांघकर घरों में घुसने की कोशिश में रहते हैं। रात को सुरक्षा की समस्या बनी रहती है। कॉलोनी वाले चाहकर भी विशेष कुछ कर नहीं सकते थे। कॉलोनी के अंदर वैलफेयर एसोशिएशन ने बिजली के खंबों से खराब बल्ब निकालकर नए लगा दिए थे। सुरक्षा गार्ड को भी कहा गया था पीछे चक्कर लगाया करे। शायद सुरक्षा गार्ड खुद डरे रहते थे।

उसने शर्मा से कहा था, यह सीढ़ी हटाइए, इसमें हमारे घर की सुरक्षा को खतरा हो गया है। वैसे भी कानूनन आपका इस छत पर अधिकार नहीं। सीढ़ी लगाना और भी गैरकानूनी है। यूं तो यह कंट्रस्ट्रक्शन ही गैरकानूनी है। पर और लोगों ने किया तो आपने भी कर लिया। औरों ने छत पहली मंजिल वालों को दी। उन्होंने अपनी सुरक्षा का प्रबंध कर लिया पर आप छत नहीं देना चाहते। ठीक है, यह सीढ़ी हटा लीजिए। शर्मा ने कुछ नहीं किया। उसे शराफत से कई बार कहा गया। आखिर पुलिस में रिपोर्ट की गई। कुछ नहीं हुआ। शर्मा पत्रकार था और क्राइम बीट पर था। पुलिसवालों को जानता था इसलिए फोन करने पर पुलिस वाले, देखते रिपोर्ट लिखते और चले जाते। उसने डीसीपी से शिकायत की। कुछ नहीं हुआ, उसने पुलिस कमिश्नर को चिट्ठी लिखी तब भी कुछ नहीं हुआ। उसने आरटीआई के अंतर्गत चिट्ठी लिखी है। उसके भीतर अकेले घर में रात को सोने में डर लगता था। पड़ोसी भी आते, सहानुभूति दिखाते। बहुत गलत है, सीढ़ी नहीं लगानी चाहिए। उसे कोई कुछ नहीं कहता। कहते यह तो गुंडा है। क्राइम बीट पर काम करते हुए खुद भी क्रीमनल हो गया है। वह सोच रहा था, उसका भी सुरक्षा का अधिकार है। वह मुख्यमंत्री को चिट्ठी लिखेगा। मासुसाहब क्या करें, इस गुंडे से कोई भी पंगा नहीं लेना चाहता। लोग इसकी न्यूजसेंस से डरते हैं पर मैं तो नहीं डरता। जरूरत पड़ी तो प्रधानमंत्री तक जाऊंगा। आरटीआई में चिट्ठी डाली है, इंतजार कर रहा हूँ।

कॉलोनी के पास ही छोटी सी मस्जिद थी उसने देखा? चार-पांच महीने में ही किले की तरह ऊंची हो गई थी और इधर-उधर पसर गई थी। आस-पास की जमीन भी उसके घेरे में आई गई थी। जिनकी जमीन थी उन्होंने विरोध किया। आमने-सामने की लड़ाई में खतरा था। लोगों का विरोध प्रतिरोध असामाजिक तत्वों के कारण सांप्रदायिक रंग ले सकता था। कानून की लड़ाई ही लड़ी जा सकती थी। उसमें भी राजनीतिक अल्पसंख्यकों को लुभाने की नीतियां। कोर्ट में वर्षों एड़िया रगड़ना। कुछ लोगों ने अपना भाग्य स्वीकार लिया था कि अब यह जमीन उन्हें नहीं मिलेगी। कुछ दूसरे कोर्ट में चले गए थे। मस्जिद ऊपर उठ गई थी। सुबह-सुबह पांच बजे अल्ला-होउ की ऊंची आवाज से शुरू हुई अजान दिन में पांच बार दोहराई जातीं। उसे तो अल्ला से परेशानी थी और न ही मस्जिद से। पर इस तरह दिन में पांच बार लाउडस्पीकर पर अजान दी जाए, इसका क्या मतलब! ये तो

ध्वनि प्रदूषण है। साथ ही आसपास के निवासियों की शांति भंग करना है। जन्माष्टमी के दिन रात के दस बजे चुके थे। मंदिर वालों ने लाउडस्पीकर लगा रखा था और भजन कीर्तन की आवाजें आ रही थीं। उसने पुलिस वालों को फोन किया था। वह हिचकिचाए थे। उसने कहा था आप सिर्फ लाउडस्पीकर हटवा दीजिए। बाकी माईक पर जो भी वहां बैठे लोग, जैसा चाहे करें। पुलिसवाले मंदिर में नहीं जाना चाहते थे। उसने पंडितजी को फोन पर समझाया था। देखें कोई बीमार भी हो सकता है, बच्चे के इन्तहान भी हो सकते हैं। पंडित जी ने लाउडस्पीकर हटवा दिया था। उसने आसपास के लोगों से बात की थी। सब उसकी बात से सहमत थे। पर कुछ हो सकेगा इसकी उम्मीद किसी को नहीं थी। तो भी रेजीडेंट वेलफेयर वालों से पहले कारपेरेशन के दफ्तर में चिट्ठी लिख दी थी। फिर एक चिट्ठी मुख्यमंत्री को भी लिखी थी। पर कहीं कोई प्रतिक्रिया नहीं। मिसरीन बता रहे थे मास्टरजी कुछ नहीं होने वाला। उन्होंने साकेत में ही एक घर बनाया था। उनके पिता ने सस्ते दिनों में एक तीन सौ गज का प्लॉट खरीद लिया था। खूब दिल से, सपने की तरह एक घर बनाया था वहां। पर वहां भी पांच सितारा होटल से होड़ करती एक मस्जिद थी। वहां भी वही सुबह पांच बजे अल्ला-5 हो-5 शुरू हो जाता क्योंकि हमारा घर उसी के सामने पड़ता था। इसलिए मेरी पत्नी सुबह पांच बजे ही दहल जाती। लगता था वह आवाज उन्हीं के घर के भीतर से आ रही है। सारी खिड़कियां बंद कर दी गईं पर आवाज नहीं रुकी थी। मेरी पत्नी बर्दाश्त ही नहीं कर पा रही थी। बहुत भागे दौड़े, कहां-कहां नहीं गए शिकायत लेकर। जान पहचान से प्रधानमंत्री तक चिट्ठी पहुंचाई गई। संविधान का वास्ता दिया गया। नागरिक अधिकारों की बात कही गई। आश्वासन दिया जाता पर कुछ नहीं होता। छः महीने में ही पत्नी बीमार लगने लगी थी। कहती मैं सारा दिन घर पर रहती हूं। पांच बार अजान सुनती हूं। क्यों सुनूं? मैं ऊंची आवाज में तो रेडियो, भजन, तुम्हारी बात तक नहीं सुन सकती। मैं क्या करूं? आखिर फैसला लिया गया। दूसरी कॉलोनी में घर ढूंढा गया और उस जी-जान से बनाए घर को बेच दिया गया। मास्टर सॉब यहां वोट की राजनीति है। सरकार कोई भी हो, पार्टी कोई भी हो, वोट की राजनीति करेगी। आपने देखा नहीं सामने हौजरानी कॉलोनी की सारी अवैध 7 दुकानें जब यह सड़क चौड़ी की गई जो उनको किसी ने नहीं छुआ। सड़क टेढ़ी हो गई पर उनका सारा अवैध निर्माण वैसा ही खड़ा है। यहां पांच सितारा अस्पताल बने, मॉल बना, कोर्ट बना, कॉलोनी बनी। पर यह दो फलांग की सड़कें टेढ़ी मेढ़ी जैसे ही आगे जाती हैं। ट्रैफिक जाम होता है, यहां की कॉलोनी के रहने वाले परेशान हैं पर कुछ नहीं हुआ। कुछ होने वाला ही नहीं है।

तो भी इस तरह हिम्मत तो नहीं हारनी चाहिए। गलत का विरोध तो होना चाहिए। मास्टरजी ने हस्ताक्षर अभियान चलाया था। आस-पास की कॉलोनी के दो सौ हस्ताक्षर वाली चिट्ठी प्रधानमंत्री को भेज दी थी। उम्मीद थी कि कहीं कुछ तो होगा।

वह सुबह पार्क में जाने लगा था। देखता स्कूल के बच्चे वहीं पार्क में घूमते या खेलते रहते। या इधर उधर बैठे रहते। उसे हैरानी हुई थी स्कूल यूनीफार्म में ये बच्चे स्कूल ही आए होंगे। उसने रुककर पूछा था, कौन से स्कूल के हो? ये सामने भाई वीरभद्र स्कूल से हैं। आप कौन सी कक्षा में हैं। बताया था, बच्चे नवीं, दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं कक्षाओं में थे। आप लोगों को तो इस समय स्कूल में होना चाहिए। यहां पार्क में क्यों हैं आप? एक ने कहा था, अभी छुट्टी है, आधी छुट्टी।

पर आप लोग तो यहां बहुत देर से हैं। इतनी लंबी आधी छुट्टी तो नहीं होती। आ जाओ, स्कूल जाओ। स्कूल खत्म होने के बाद आकर लेखना। उन्होंने एक-दूसरे की तरफ देखा था। वहां जाकर क्या करेंगे?

क्यों स्कूल में जाकर क्या करते हैं? पढ़ते हैं! वहां कौन सी पढ़ाई होती है? कक्षाओं में बैठने जगह भी नहीं है। हमारी क्लास में अस्सी-सौ बच्चे हैं और बैठने के लिए बेंच सिर्फ चालीस बच्चों के लिए है। बाकी क्या करें? नीचे क्यों बैठे! बैठ भी जाएं पर वहां टीचर नहीं आते हैं? उनसे जाकर कहो तो कहते हैं आ चलो आता हूं अभी! पर कभी नहीं आते। आप लोग प्रिंसिपल से शिकायत क्यों नहीं करते? कहा था उनसे भी। बोले ठीक है, बुलाकर कह देंगे पर तो भी टीचर नहीं आते। वह उस दिन स्कूल के अंदर चला गया था और प्रिंसिपल के कमरे में घुस गया था। प्रिंसिपल आठ-दस लोगों से घिरा था। उसने उसका ध्यान अपनी ओर खींचा था, बैठिए आप। इंतजार कीजिए। देखिए, मैं यहां अपने किसी काम से नहीं आया हूं। आपका ही काम है, आपको बताने आया हूं। आपके स्कूल के बच्चे यहां सामने पार्क में खेलते रहते हैं। स्कूल में कक्षाओं में नहीं जाते। कहते हैं, बैठने की जगह नहीं है और टीचर पढ़ाने के लिए क्लास में नहीं आते।

प्रिंसिपल सकपकाया था। आपका शुक्रिया, कोशिश करूंगा पर हमारी अपनी समस्याएं हैं। जगह की कमी है। दाखिल में ऊपर का प्रेशर है फिर टीचर परमानेंट हैं, कहते हैं पर क्या करें लाचार हो जाते हैं। ठीक है, देखता हूं क्या कर सकता हूं? वह लौटा आया था। वह उनको उसी तरह पार्क में खेलते, लड़ते, झगड़ते गाली-गलौच करते देखा था। फिर उसे एक उपाय सूझा था। आप लोग अगर चाहो तो यहां बैठकर साईंस और मैथ्स की अपनी समस्याओं को मेरे साथ बैठकर सुलझा सकते हो। बच्चे हैरान हुए थे। पर छः आठ बच्चे तैयार हो गए थे। बाकी इधर उधर खिसक गए थे। अब यहां वहां उन्हें घंटा दो घंटा पढ़ा देता। बच्चे दस-बारह आने लगे थे। उसे अच्छा लगता था। घंटा डेढ़ घंटा उन्हें पढ़ाता और लौट आता। उसने देखा कुछ बच्चे विषय में अच्छे थे और पढ़ने को इच्छुक भी थे। तो भी अधिकतर बच्चे इधर-उधर घूमते रहते। पार्क के साथ ही मार्केट थी। वहां चले जाते। घर से एक कमीज बैग में ले आते। यहां आकर कमीज बदल लेते और सिनेमा में 'ए' फिल्में देखने चले जाते। वहीं मार्केट में शराब की एक दुकान थी। बच्चे उस दुकान में शराब खरीदते और इधर उधर बैठकर पीते। उन्हें न कोई रोकता और न ही कुछ कहता या समझाता। वह मार्केट में था, घर के लिए कुछ सब्जी, दूध, मक्खन आदि लेना था। उसने शराब की दुकान पर खड़े बच्चों को देखा था। शराब खरीदने आए थे। उसने दुकानदार को रोका था। आप इन नाबालिग बच्चों को शराब क्यों बेच रहे हो? आपको पता होना चाहिए यह गैरकानूनी है। पहले तो दुकानदार झेंपा था, फिर अकड़कर बोला था, आप अपना काम कीजिए। रास्ता नापिए।

अपना ही काम कर रहा हूं। स्कूल का अध्यापक हूं। बच्चों को सही रास्ता दिखाना हमारा ही काम है। आपका भी तो फर्ज यही है। उसने देखा तीन चार लड़के थे। आगे आए थे। उन्होंने उसे घेर लिया था। यह वही पगलेट मास्टर है, पार्क में भी बच्चों को पढ़ाता है। वे हँस रहे थे। हम पढ़ाते हैं इसे अब, दिखाते हैं इसे सही दिशा। एक लड़का आगे आया था, उसने उसके पेट में मुक्का मारा था। फिर तीन-चार लड़के उसे पर झपटे थे। वह उन्हें रोक रहा था भरसक कोशिश कर रहा था। पर एक लड़के ने पॉकेट से एक चाकू निकाला था और उसकी गर्दन पर वार किया था। वह खून

से लथपथ वहीं गिर गया था। चारों तरफ अफरातफरी मच गई थी। मार्केट के लोग आसपास इक्कटूठे हो गए थे। लड़के भागने लगे थे। शायद किसी ने फोन कर दिया था। पुलिस आ गई थी। खून बह रहा था। एंबुलेंस बुलाई गई। उसे अस्पताल ले जाया गया। इमरजेंसी में रखा गया। गर्दन पर घाव था पर गहरा नहीं था। पुलिस स्टेटमेंट लेने आ गई थी। उसे दो-तीन घंटे बाद होश आया तो पुलिस पूछ रही थी, आप वहां शराब की दुकान पर झगड़ा क्यों कर रहे थे।

मेरा किसी से झगड़ा नहीं हुआ, ना ही मैं वहां शराब खरीद रहा था। यह मारपीट, चाकू छुरी यूं ही चल पड़ी क्या? उसने बताया था, चार पांच स्कूल के लड़के थे शराब खरीद रहे थे। पास खड़ा दुकानदार उसे आंखों के इशारे से रोक रहा था। उन्हें रोका था, शराब खरीदने से और बस। इस दुकानदार को भी मना किया था स्कूल के लड़कों को शराब बेचने के लिए। इस, इस बात पर वे मेरे ऊपर पिल पड़े।

आप उन्हें पहचानते हैं क्या?

हां, स्कूल के बच्चे हैं। ये सामने ही तो है। दुकानदार इशारे से उसे रोक रहा था। पुलिस वाले ने दुकानदार से पूछा था, क्या तुम जानते हो उन्हें? तुम्हारे ग्राहक हैं तो जानते ही होंगे!

क्या पता साहब! इस मार्केट में कभी देखा नहीं। पुलिसवाले ने हड़काया था, नहीं साहब, मैं नहीं पहचानता।

और आप? वह अब उससे पूछ रहा था। जरूर स्कूल के ही बच्चे थे। स्कूल के समय में भी यहां पार्क में, मार्केट में, सिनेमा में घूमते रहते हैं। कमीज बदल लेते हैं, साथ लेकर आते हैं, अपने बैग में।

पुलिस वाले ने दुकानदार की तरफ देखा था, बच्चे तो पकड़े ही जाएंगे पर आपका भी लाइसेंस कैसल हो सकता है। याद रखिए। पुलिस पूछताछ करके, बयान दर्ज करके चली गई थी। दुकानदार उसे धमका रहा था। आप भी बचेंगे नहीं मास्टरजी इन लड़कों को आप नहीं जानते। मार्केट के कुछ दुकानदार आ गए थे।

आपको बीच में नहीं पड़ना चाहिए था मास्टरजी। कोई कुछ भी करे आपसे मतलब। अब देखिए आगे क्या होता है। आपकी जान को भी खतरा है। अब आप एक मेहरबानी करिए। वे, लड़कों को पकड़कर आपके पास लाएं तो पहचानने से इनकार कर देना। इस घटना के बाद तो आप समझ जाइए। उसने देखा किसी को सही करने पर भरोसा नहीं था। सबको कछ बुरा होने का भय सता रहा था। वे चार पांच दिन अस्पताल में रहकर घर लौट आए थे। पड़ोस के कई लोग आस थे। हमें तो पता नहीं चला। आपको हमें बताया चाहिए था। दिन में आप नहीं दिखते तो सोचते आप पढ़ाने गए होंगे। पार्क में भी नहीं दिखे, सोचा शायद नहीं आए होंगे। बस आज ही पता चला, गुंडों ने आपको घायल कर दिया। भला आप जैसे मनुष्य से किसी का क्या बैर?

वे गुंडे नहीं थे। उसने बताया था। स्कूल के ही बच्चे थे। गलत रास्ते पर चल पड़े तो फिर अच्छा बुरा कुछ नहीं दिखता। मार्केट के दुकानदार थे, आपको हाल पूछने आ गए हैं। उसने शुक्रिया कहा था पर वह उनकी मंशा जान गया था। अब आप बेहतर हैं पहले से। हां ठीक हो रहा हूं। आप बच गए, किस्मत अच्छी थी। इन मवाली हुड़दगियों का क्या भरोसा था। शराब की दुकान वाला था, पास खिसक आया था, अब आप मेहरबानी करें मास्टरजी, अगर वे उन लड़कों को पकड़ लाएं तो

आपको उन्हें पहचानने की जरूरत नहीं। आपको दुबारा से कहना जरूरी लगा था। 'आप क्या मुझे धमकाने आए हैं?' नहीं-नहीं..., ऐसा क्यों सोचते हैं आप! अपनी सुरक्षा का तो ध्यान हमें रखना ही होता है। जी-आप चिंता न करें मेरी। यहां आने का फिर से शुक्रिया। वे चले गए थे।

अरुण का फोन था, कह रहा था वह दिल्ली आ रहा है। कुछ समय यहीं रहेगा। 'आपसे मिलने भी जाऊंगा।' बड़ा उत्साहित था। उसे भी अच्छा लगा था। दो दिन बाद अरुण और नवीन दोनों आ गए थे। नवीन बता रहा था, मास्साहब, अभी तक नौकरी तो नहीं मिली पर मैं पार्टटाइम एक अखबार के साथ काम कर रहा हूं। और अरुण तुम?

सर, ढूँढ तो मैं भी नौकरी ही रहा हूं पर मैं भी स्वतंत्र रूप से सामाजिक समस्याओं पर लिखता हूं। यहां इंटरव्यू के लिए आया हूं।

पर तुम तो वहीं अरुणाचल में, अपने घर परिवार और अपने लोगों के बीच ही रहना चाहते थे।

वह तो ठीक है पर काम भी तो चाहिए। वहां की हालत खराब हैं, दिनों-दिन और खराब हो रहे हैं। वहां बड़ी संख्या में आए शरणार्थी, स्थानीय लोगों के लिए चुनौती बन गए हैं। इसके विरोध में आसाम, नगालैंड, मिजोरम और अरुणाचल के लिए परेशानी हो रही है। बाहर से आए लोगों को सरकारी मदद, खेती की जमीन और पहचान पत्र आराम से दिए जा रहे हैं। हजारों शरणार्थी हैं जिन्हें बसाया गया है उन्हें बिजली, पानी, राशनकार्ड और दूसरी सुविधाएं दी गई हैं। उन्हें नागरिकता प्रदान की गई है। बिना कोई शुल्क चुकाए उन्हें सब मिल रहा है। शरणार्थियों की आड़ में वे वोट बैंक की राजनीति कर रहे हैं। अपनी सत्ता निश्चित कर रही है। आप देखें तो हैरान हो जाएं मास्साब शरणार्थियों ने बड़ी-बड़ी कोठियां बना ली हैं। लगता है अशांत देशों के नागरिकों के लिए सबसे अच्छी जगह भारत ही है। विभिन्न देशों में अराजकता गृहयुद्ध और शासन के अत्याचारों के कारण सीमावर्ती इलाकों में करोड़ों की आबादी आ गई है। विश्व भर में स्थाई शरणार्थी सबसे ज्यादा हमारे यहां हैं। सरकारें अपने नागरिकों पर कटौती करके उन्हें सुविधाएं दे रही है। क्यों? उन्हें वे अपना वोट बैंक मान रही है। पश्चिम बंगाल में उन्हीं के बल पर पंचायत के चुनाव जीते!

हमारे लिए अपने ही राज्य में नौकरी मिलना असंभव हो गया है। कई लड़के जो मेरे साथ ही थे यहां लौट आए हैं। छोटी-छोटी नौकरियां कर रहे हैं। मैकडोनाल्ड, पिज्जाहट, डोमिनोस जैसे खाने की जगहों में एक या दो शिफ्ट में काम करके अपनी आगे की पढ़ाई कर रहे हैं या अपना गुजारा कर रहे हैं। मास्टरजी, नंदलाल और वैभव भी यहीं पर हैं।

अब मास्टरजी के घर में अक्सर हर दिन ये लड़के आ जाते थे। घंटों राजनीतिक, सामाजिक मुद्दों पर चर्चा करते। नंदलाल तुम किस समाचार पत्र के साथ काम कर रहे हो? मास्टरजी, नाम कोई बड़ा नहीं है पर बड़ा ही निष्ठावान और प्रतिबद्ध अखबार है। जहां भी, ज्यों भी गलत हो रहा है, उसको उजागर करना ही इसका उद्देश्य है। फिर गलत कोई भी कर रहा हो, राजनेता ही क्यों न हो। आप देखिए- सौ, हजार, दस हजार की चोरी करने वालों को जेल होती है और करोड़ों की हेराफेरी करनेवाले ऊंची कुर्सियों पर विराजमान हैं। हमारा अभियान इन्हीं के विरोध में है। सर! आपने हमें भारत निर्माण का इतिहास पढ़ाया था। देश के निर्माण में बालगंगाधर तिलक, नेताजी सुभाषचंद्र बोस, सरदार पटेल, राममनोहर लोहिया, अंबेडकर थे। भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद, गणेशशंकर

विद्यार्थी जैसे देशभक्त शहीदों की सूची थी लेकिन सर, यह आज की राजनीति में क्या हो रहा है? राष्ट्र निर्माण का सारा श्रेय नेहरू और उसके परिवार को दिया जा रहा है। सर, 54 केंद्रीय योजनाएं हैं इनमें 18 के नाम राजीव गांधी के नाम पर हैं। कुछ नेहरू और इंदिरा गांधी के नाम पर हैं। इतना ही नहीं, राष्ट्रीय पुरस्कारों के नाम, हवाई अड्डों, विश्वविद्यालयों, संस्थानों, खेल परिसरों, सड़कों, स्टेडियम इत्यादि के नाम एक ही परिवार के नामों पर क्यों? लोकतंत्र के नेता तो तिलक, गोखले, राजेंद्रप्रसाद, मदन मोहन मालवीय इत्यादि थे। वे सब कहां गए? सन 1950 के बाद पार्टी परिवार होती गई, फिर इंदिरा, इंडिया हो गई। सरकारी योजनाएं देश के करदाताओं से संचित कोष से चलती हैं। देश का राजकोश एक परिवार की संपदा कैसे बन गया? इस तरह समाजकल्याण की योजनाओं का परिवारीकरण बहुत गलत है सर! एक तरह से संवैधानिक अपराध है। स्वतंत्र देश में महत्वपूर्ण स्थानों, संस्थाओं के नाम, किन्हीं प्रतिभाशाली वैज्ञानिक या साहित्यिकला दर्शन तथा अन्य क्षेत्रों की प्रतिभाओं के नामों पर हो सकते हैं। सर, आपने जो हमें स्वतंत्रता का इतिहास पढ़ाया था वो गलत था क्या?

नवीन ने कहा था, मास्साब दुनिया बदल रही है, इसमें मीडिया की महत्वपूर्ण भूमिका है। सच्चाई को छिपाना अब आसान नहीं। क्या हम नहीं जान रहे कि हमें लोकतंत्र का इतिहास वह नहीं है जो प्रोजेक्ट किया जा रहा है। कांग्रेस पार्टी की सरकार ने ऐसे चापलूसों को और दूसरे पद और पैसे के लालची लोगों को शिक्षा संस्थानों में नियुक्त किया जो नेहरू परिवार की पीढ़ियों का गुणगान करें। दूसरे बड़े नेताओं को कमतर दिखाए। ऐसे ही लोगों को अकादमियों में ऊंचे पद दिए गए। उन्हें अंतरराष्ट्रीय फेलोशिप दिलवाया गया। उन्हें पुरस्कृत, विभूषित और उपकृत किया गया। सर, मैं आपको प्रो. मखनलाल की एक किताब दूंगा। अगली बार आते हुए ले लाऊंगा। 'सेक्यूलर पॉलिटिक्स, कम्युनल एजेंडा' किताब है प्रो. लाल की जिसमें उन्होंने नेहरू की राजनीति के षडयंत्रों को उजागर किया है। सारी प्रादेशिक कमेटियों ने सरदार पटेल का नाम नामित किया था प्रधानमंत्री पद के लिए। पर नेजरू राजनीति, गांधी का 'ब्ल्यू आई बॉय', पटेल को अपना नाम वापस लेना पड़ा। नेहरू ने अपनी पसंद-नापसंद में कितने गलत निर्णय लिए। भारत के लोग हैदराबाद और कश्मीर के बारे में नहीं जानते। नेहरू के हाथ में होता तो दोनों हमारे हाथ से निकल जाते। सरदार पटेल ने ही वहां सेनाएं भेजी थीं। पाकिस्तान के हाथों में जाने से बचाया था। नेहरू, पटेली से उनकी प्रतिभा लौह व्यक्तित्व से डरते थे। पटेल की अत्येष्टि में आदेश पारित किया था कि कोई अधिकारी सरकारी तौर पर वहां नहीं जाएगा। आज भी इस पार्टी में वंशवाद की जड़ें गहरी फैली हैं। इसके सदस्य चापलूस और बौने हैं। सब देखते हैं, कोई नहीं बोलता, क्योंकि दस साल से पार्टी सत्ता में है- निरंकुश हो गई है। सर, कहते हैं इतावली बड़े शूद्र और क्रुक होते हैं। होते हैं न सर! कैसे रिमोट कंट्रोल से सत्ता चलाई जा रही है। सब बेबस देख रहे हैं, कोई कुछ नहीं करता। पर सर, अब ये स्थिति ज्यादा देर रहने वाली नहीं है।

ये सारा कुछ, विवादास्पद तुम्हारा अखबार छापता है, ऊपरी दबाव नहीं पड़ता। अखबार बंद नहीं हो जाता। नंदलाल हँस रहा था, पड़ता है सर! अखबार भी बंद हो जाता है। थोड़े दिन बाद दूसरे नाम से शुरू कर देते हैं, पहले राष्ट्रनिर्माण, फिर देश बचाओ, अब नव जागरण है सर! फर्क यह है कि ये अखबार सरकारी मदद से तो चलता नहीं। ऐसा ही अमरीका में लगभग 80 प्रतिशत

पोर्टल गुजराती चलाते हैं। खूब पैसा भी कमाते हैं। कहता है, मैं अपने पिता के ही काम को पूरा कर रहा हूँ। अपनी तरह से देश के लिए काम कर रहा हूँ। जब अखबार बंद हो जाता है। दूसरे नाम से फिर शुरू हो जाता है। प्रसार भी अच्छी है, सर!

हमारा उद्देश्य जन जागरण है सर! उत्तर प्रदेश और बिहार में लोग इसे दूँद-दूँदकर पढ़ते हैं। यह मानो एक प्रति अखबार कम से कम दस लोग पढ़ते हैं। अगर इसकी सर्कुलेशन दो-ढाई हजार हैं तो पाठक तो दस हजार हो गए, सर। नवीन ने कहा था, ये 'नेशनल डेली' है सर इनमें पंद्रह से बीस प्रतिशत न्यूज पेड न्यूज होती है सर! इकोनॉमिक टाइम्स में काम करता है राघव, रिपार्टर है। रियल स्टेट कवर कर रहा है। सर, उसके पास पांच सालों में 2 मकान हो गए। है न कमाल सर। पेड न्यूज का कमाल है। इन बड़े अखबारों की विश्वसनीयता पर कोई सवाल नहीं उठाता। पर जो छोटे अखबार है वे हमेशा शक के घेरे में रहते हैं। राजनीतिज्ञों के निशाने पर भी होते हैं।

तुम इतने चुप और उदास क्यों बैठो हो कपिल! कुछ भी नहीं बोल रहे। उसका चेहरा और भी लटक गया था। आंखें छलछला आई थी।

कपिल, बहुत वर्ष हो गए। कश्मीरी पंडितों को कश्मीर छोड़ना पड़ा था।

हां, सर बहुत वर्ष हो गए। पर क्या किया हमारे लिए शासन या सरकार ने। सर, अभी मोदी ने अपने भाषण में अनुच्छेद 370 पर बहस की बात की थी। यह भी कहा था कि आम आदमी को इससे क्या फायदा हुआ सर! हम यहां भिखारी हो गए। मेरे पिता के पास, बादाम बाढ़ी थी, सेब के सैकड़ों पेड़ थे, अखरोट के दरख्त थे। हमारा ड्राईफ्रूट का बिजनेस था। हमारी एक दुकान रेजीडेंसी रोड पर थी सर! वहां उम्दा कालीन थे, पश्मीने की शालें थीं। अखरोट की लकड़ी का बेहतरीन सामना था। हमारे ग्राहक खास होते थे सर! आम ग्राहक तो इन चीजों पर खर्च नहीं कर सकता पर सर, हमें यहां से खदेड़ दिया गया। वहां हम बड़ी-बड़ी कोठियों में खुले घरों में और आंगन में रहते थे। यहां हमारा जो बेहाल हुआ, वर्षों कोई मुआवजा नहीं मिला। सर मेरे पिताजी को जब किसी शॉल की दुकान में सेल्समैन का काम करना पड़ा तो वह मानसिक रूप से बीमार हो गए। हम छोटे-छोटे तीन भाई बहन थे। मां यू ही सारा दिन रोती रहती थी। इतना रुतबे वाला आदमी किसी के अधीन सेल्समैन का काम कब तक कर सकता था। आखिर उनका सर्वस ब्रेकडाउन हो गया। चल बसे। चाला ने संभाला परिवार को। उन्हें एक 4 फुट गुणित 6 फुट की एक गुमटी मिली थी। उन्होंने वहीं अपनी दुकान लगाई। उन्हें होजरी के काम का कोई अनुभव नहीं था पर उन्होंने सीख लिया। चाची, उनकी दो बेटियां और हम चार लोग, सब का भार उन पर था। किशोर होते ही सर, प्राइवेट परीक्षाएं, इग्नू से दी है और मैकडॉनल में काम किया है। जूठे बर्तन साफ किए अब असिस्टेंट मैनेजर हूँ सर! पर अंदर से खुश नहीं हूँ। मैं मीडिया और कम्प्यूनिकेशन का कोर्स कर रहा हूँ। मुझे बनना तो पत्रकार है सर! इस व्यवस्था की उधेड़नी है सर! सच को जनता तक लाना है।

सर, आप सोचिए देश के अन्य भागों में लागू कानून जम्मू कश्मीर पर लागू नहीं होते। 370 का कितना दुरुपयोग हुआ है सर! इस राज्य को मिलने वाली मदद का बड़ा हिस्सा किनके पास जाता है? उन्हीं चुनिंदा लोगों के पास। यही पैसा अलगाववादियों के पास भी जाता है। जनता के विकास में काम नहीं आता। इस पर कोई बात नहीं करना चाहता। इसे संवेदनशील मुद्दा मानकर ठंडे बस्ते में डाल दिया जाता है। पैसा स्थानीय राजनीति के भ्रष्टाचार की भेंट होता है। कोई ऑडिट नहीं।

बड़ा हिस्सा वहां की नौकरशाही वर्ग के जेब में जाता है। बाकी लोग वहां का आम नागरिक वैसा ही अशिक्षित, गरीब और अंध विश्वासों से घिरे दयनीय स्थिति में है।

आपको पता है सर, सांप्रदायिक हिंसा कानून जम्मू कश्मीर पर लागू नहीं होता। वहां हिंदुओं पर सर्वाधिक अत्याचार होते हैं। लोग इस अनुच्छेद के बारे में नहीं जानते। संविधान के इस प्रावधान का नाम आते ही लोग जिहादियों की तरह व्यवहार करने लगते हैं। क्या आज भारतवासी नहीं जानना चाहते कि यह प्रावधान क्यों? अस्थाई तौर पर बना यह प्रावधान स्थाई कैसे हो गया! संविधान के 21वें भाग में अनुच्छेद 370 को अस्थाई संक्रमणकालीन और विशेष प्रावधान के रूप में रखा गया है। पहले ये अनुच्छेद 360 ए पेश हुआ फिर 370 के रूप में आया पर अब स्थाई हो गया।

अनुच्छेद 370 के माध्यम से कश्मीर के मुद्दे पर कुछ बड़ी गलतियां हमने की हैं। जिनके बुरे नतीजे हम आज भोग रहे हैं। देर तो हो गई है पर बैटर देन नेवर, सर! सोचना तो चाहिए हमें। वहां के स्थानीय निवासियों की अवहेलना, उनके हितों और आकांक्षाओं की उपेक्षा और दमन। यह लोकतंत्र तो नहीं हो सकता। संवैधानिक दृष्टि से राष्ट्रपति जब चाहे, एक आदेश से इस अनुच्छेद को निरस्त कर सकते हैं। अनुच्छेद 368 के अनुसार इसे निरस्त कर दिया जाना चाहिए परंतु सर, यह प्रक्रिया अनुच्छेद 370 पर लागू नहीं होती। इस संदर्भ में दोहरी नागरिकता का प्रश्न भी आता है। दोहरी नागरिकता अलगाववाद नहीं है परंतु सर, जम्मू और कश्मीर, भारत में रहते हुए स्वायत्ता प्राप्त कर सका। देश के अन्य भागों में लागू कानून यहां लागू नहीं होते। इसमें भी तो अलगाववाद को बढ़ावा मिला है। जम्मू कश्मीर में पनपने वाला अलगाववाद भी तो चिंता का विषय है। जम्मू कश्मीर को जो लाभ दिए गए उसकी कीमत रोज देश को चुकानी पड़ रही है।

सर देश में भी तो यह सब परोक्ष रूप से हो रहा है। अलीगढ़ विश्वविद्यालय को मुस्लिम विश्वविद्यालय बनाने का राजनीतिक षडयंत्र जो कट्टरवादियों के पक्ष में था पर क्या संसद या जनता नहीं जानती कि विश्वविद्यालय भी सरकार की आर्थिक सहायता से चलता है और सरकार के इस पैसे पर अधिकार हर देश के हर युवक का है क्योंकि यह धन भारत की जनता कर के रूप में देती है। मुस्लिमों को खुश करने की राजनीति के पक्ष में तो भी माना जाता है यहां का हर शिक्षक और छात्र मुस्लिम संप्रदाय के हित में है। और छात्रों का मुस्लिम कोटा बढ़ा दिया जाता है। फिर पार्टी चुनाव की राजनीति की चाल चलती है और इसे मुस्लिम विश्वविद्यालय घोषित करती है पर कोर्ट ने इसे अस्वीकार किया और इसे अल्पसंख्यक घोषित करना भी असंवैधानिक बताया। क्या यही लोकतंत्र है। या यह इस लोकतंत्र की धर्मनिरपेक्षता है? इन सवालों पर भी विचार तो होना ही चाहिए सर!

मि. गुप्ता का घर कैसे शाम को काफी हाउस में बदल जाता था। खूब बहस होती, चर्चाएं चलतीं। पांच-छः और कभी ज्यादा लड़के आ जाते। यह सभी यहां नौकरी की तलाश में आए थे। कुछ को छोटा-मोटा काम मिल भी गया था। पता नहीं क्यों इस पीढ़ी के युवकों में विद्रोह था। ये सभी पत्रकार बनना और मीडिया में कैरियर चुनना चाह रहे थे। नंदलाल कहता था, मास्टरजी, हम एमबीए, इंजीनियरिंग या डॉक्टरी नहीं कर सके। हो सका तो आगे जाकर आईटी की पढ़ाई जरूर करेंगे पर वे जागरूक थे।

कुछ दिनों में एक लड़का बाबू भी आने लगा था। नवीन ने बताया था, सर, यह मुझे चौराहे

पर कभी फूल कभी झाड़न, कभी मोबाइल के चार्जर बेचता नजर आता था। वह औरों से अलग लगता था। एक दिन उसने बताया था कि वह इग्नू से बारहवीं की परीक्षा दे चुका है। बस परिणाम की प्रतीक्षा कर रहा है। कहता है 'मैं भी लिखता हूँ, इसे अखबार में छपवा दीजिए।' मैंने देखा था सर, अच्छा लिखा गया लेख था।

राजनीति के लिए अल्पसंख्यकों के साथ किया गया राजनीति का खेल। कैसे वोट बैंक के तहत आरक्षण के नाम पर इन्हें सरकार ने अपनी जेब में डाला पर उनके लिए जातिवाद और भेदभाव रहित प्रगति का मार्ग कहां?

तुम कहां रहते हो बाबू?

वह चुप हो गया था। नवीन ने कहा था, बोलो बाबू मास्टरजी अपने हैं।

उसने कहा था, कहीं नहीं, मास्टरजी, फ्लाइओवर के नीचे ही हमारा घर है सर। ऊपर छत मिल जाती है। धूप, बारिश और ठंड में कुछ बचाव हो जाता है। हम राजस्थान से आए हैं सर, नट जाति के हैं। शुरू से हमें कसरत करवाकर, हमारे शरीर को लचीला बना दिया जाता है। हम इस छोटे से रिंग से पूरा शरीर निकाल लेते हैं। आपने सड़कों पर चौराहों पर हमारे बच्चों को ये सब करते और कलाबाजियां दिखाते देखा होगा। मुझे यह नहीं करना होता था। बहुत मार खाई मास्टरजी, बापू मारता था, पूछता था, तू क्या करेगा?

मैंने सर, चौराहों पर चीजें बेचनी शुरू की। समय निकालकर पढ़ने लगा। एक मेमसाहब ने मुझे इग्नू का पता दिया था। वहां गया था। सब ठीक लगा था। मेमसाहब ने फीस के पैसे भी दिए थे। किताबों के पैसे भी दिए थे। मैंने 12वीं कर ली है। अब क्या करूं?

पर तुम क्या चाहते हो?

मुझे पता नहीं चल रहा सर! मैं आगे पढ़ना चाहता हूँ। क्या पढ़ना चाहते हो?

सर, समझ नहीं आ रहा है। पर जहां अच्छी नौकरी मिल सके सर! हमारे लिए, हम छोटी जाति के लोगों और आदिवासियों के लिए सरकार ने कुछ नहीं किया। हमें आज भी निचली श्रेणी का जीव माना जाता है। हम अपना कस्बा छोड़कर यहां आए थे। सूखा पड़ा था। यहां जो भी हो बस किसी तरह से रोटी का जुगाड़ हो जाता है। मां और भाई बहिनें भीख भी मांगती हैं सर! कहने को चीजें बेचते हैं, लेकिन चीजें नहीं कोई खरीदता तो दयनीय मुद्रा में पैसे मांगते हैं। यह सच्चाई है मास्टरजी! बहिन की इज्जत भी अब खतरे में है। हम दोनों भाई उसकी रक्षा करते हैं। उसे एक अच्छी मेमसाहब अपने घर ले गई है। वह उसका बच्चा देखती है। मेमसाहब दफ्तर जाती हैं। उसने पीछे से घर देखना और बच्चे की देखभाल का काम सीख लिया है। वह पैसे दे देती है। गुजारा हो जाता है। कहती है तू पढ़ ले, पढ़कर कुछ बन जा।

ठीक है, 12वीं का नतीजा आ जाए। कोई प्रोफेशनल कोर्स एक साल का हो, दाखिला ले लो। प्राइवेट बीए भी करो। ग्रेजुएशन जरूरी है।

ठीक है सर! वह सकुचाया था। वह मेमसाहब तो चली गई सर! उसने बहुत मदद की थी। मि. गुप्ता सोच सोच रहे थे। यह कैसा लोकतंत्र है। राजनीति में कितना पतन हो गया है। कहने को ये सरकार अल्पसंख्यकों, दलितों, आदिवासियों और पिछड़े वर्गों के लिए लुभावने वायदे और योजनाएं घोषित करती हैं। आरक्षण के नाम पर उन्हें अपनी जेब में डाल लेती है। धर्म निरपेक्ष,

भेदभाव रहित प्रगति मार्ग कहां है? गरीब और दलित वर्गों से आए नेता भी करोड़ों की संपत्ति के मालिक हैं। दलितों और गरीबों की स्थिति वैसी ही है। नेताओं, मंत्रियों के करोड़ों के घोटाले पर वे किसी न किसी बहाने से बाहर घूम रहे हैं, भाषण दे रहे हैं। उधर जेलों में 7890 कैदी वे हैं जिनका ट्रायल होना है। नेताओं का अपराध सिद्ध नहीं हुआ इसलिए वे स्वतंत्र हैं, पर आम आदमी, जेलों में रह रहा आदमी जिन पर आरोप सिद्ध नहीं हुए, वर्षों से जेलों में रहे रहे हैं। बहस होती है, चर्चाएं होती हैं मीडिया पर, सब, सब कुछ जानते हैं, पर कहीं कुछ नहीं होता।

पूंजीवाद क्या सिर्फ आर्थिक होता है। यह राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर और विचारों को प्रभावित करती है। पूंजीवाद का मतलब मुनाफा है। छोटे उद्योगों को नष्ट करना, लघु उद्योगों को जो जन सामान्य की आत्म निर्भरता का आधार है। उन्हें आर्थिक संबल देते हैं उनको भी कोई रियायत न देना, उनके विकास के लिए कुछ भी नहीं करना। आखिर वे अपने गांव, कस्बे, शहर छोड़कर महानगरों में आकर झोपड़पट्टियों में बस जाने को मजबूर होते हैं। मजदूर बन जाते हैं। दिहाड़ी के मजदूर हैं, उनका घर बार, उनका काम, खेत सब छूट जाते हैं। वह उसका दर्द महसूस कर रहा था। पर वह सिर्फ उसका दर्द कहां था। उसके जैसे हजारों का यही हाल था। तो भी! जितना कुछ कर सकूं। उतना ही सही। लड़के चले गए थे। वह सोच रहा था इस पीढ़ी को हमने क्या दिया? भ्रष्टाचार, वंशवाद, भ्रष्ट राजनीति, मंहगाई, वोट की राजनीति, बदहाली! पर तो भी यह पीढ़ी असहाय महसूस करके भी आक्रोश से भरी है। इनका आक्रोश स्वाभाविक तो है पर जरूरी भी! तभी कुछ हो सकेगा। परिवर्तन भी तो यही लाएंगे। अंधेरा हो गया था। वह भीतर आया था। देखा खिड़की में लगी शर्मा की सीढ़ी। कुछ नहीं हुआ था अब तक। हां, अभी कल इसी ब्लॉक में एक घर में चोरी हो गई थी। यहां चोरी के लिए तो कुछ नहीं होगा पर जान का खतरा... वह कांप गया था। बाहर खिड़की से ऊंची अजान की आवाज अल्ला-हो-आ रही थी। उसने खिड़कियां बंद की थी। सात बज चुके थे। अभी खाने का समय नहीं हुआ था। वह उठा था, जूते पहनकर बाहर निकल आया था। थोड़ा घूम आता हूं... मन संभल जाएगा।



कविता

वाजदा खान

(एक)

न तुम्हारे पास कोरा कैनवस है
न मेरे पास
जिंदगी की तमाम गुपचुप आहटों ने
कैनवस पर जो भी अंकित किया
वो वैसा ही रहेगा ताउम्र रूबरू
हां हम उसके ऊपर
कुछ और रंग लगाकर
उसे और खूबसूरत कर सकते हैं
सुनहरे सिल्वरी रंग के दोने
मनफलक पर उलटकर
जिंदगी का कोई हिस्सा
रोशनी से भर सकते हैं
तब हो सकता है अँधेरी खाईयों में
डूबे तमाम मायने
मन की सतह पर तैरने लगे ।

(दो)

वो महानदी थी
कितनी और नदियां होंगी
उसके भीतर
तटों से बंधी नदी
रास्ता बनाती हुई चलती है
और समुद्र?
आसमान होता हुआ
रेतीले सरहदों तक जा-जाकर
लौटता रहता है ।

(तीन)

झुककर उसने छू लिया था
नदी का पानी
उठ गया एक बगुला
बिखर गई इबादत आसमान तक
यकीनन उस खुशबू के लिए
जो तारी थी मेरे जिस्म पर।

(चार)

फूलों की खिलखिलाहट से
बुनी चादर
बिछी है सब्र की जमीन पर
नीचे समन्दर है और
समन्दर में उगता हुआ सूरज
मुझे पूरा गुमान है कि
मेरी इल्लिजा में इतनी ताकत नहीं है कि
हवाओं तुम्हारा रुख अपनी तरफ मोड़ लूं
तुम तो बेरुखी का आवरण ओढ़े
मुझे छूकर निकल जाती हो
मैं इंतजार करती
शायद मेरी कोई सदा तुम तक पहुंचे
शायद 'लौ' का सफेदपन
तुम्हें खींचकर लाए
भर जाओ तुम मुझमें
धड़कनों सा।

(पांच)

हदों सरहदों से पार
सही गलत के फैसले से
बहुत दूर रोशनी का समन्दर
तैरती हैं उसमें
तमाम रंग की कश्तियां
जा रही हैं अपने अपने
कश्तीबान (नाविक) के संग
ब्रह्मांड के किसी छोर पर अनजान
जहां आवेहयात है।

राकेश श्रीमाल

(एक)

यह सुबह ही है
जो विदा करती है
हमें
एक दूसरे से
दिन की भीड़ में
शामिल होने के लिए

ना मालूम कितने काम
कितने शब्द
कितनी हँसी
कितना ठहराव
समाया रहता है
दिन की भीड़ में

दिन का अकेलापन
गुजरता है भीड़ में
रात को जोड़ते हैं हम
अपना-अपना अकेलापन
बेफ्रिक
बेसुध
साथ रहने के लिए।

(दो)

मन में बिसरी है
छोटी सी इच्छा
कितना मिलेगा साथ
इस जीवन में
मुझे तुम्हारा

आओ ।
जी लें
थोड़ा सा समय
कोई एक मौसम
लम्हों की लंबी लता

शायद आज
शायद कल ।

(तीन)

मैं अपने शब्दों से
बहुत छोटा हूँ
अपने मौन से
बहुत बड़ा

कोई है
जो देखता है मुझे
बिना मुझे देखे

कोई है
जो सोचता है मुझे
बिना मुझे बताए

मैं अपना नहीं
जी रहा हूँ केवल तुम्हारा जीवन
तुम जैसा बन जाने के लिए ।

(चार)

हमारे बीच
जो कुछ भी है
उसे अधखुला ही रहने देना

खुलने के बाद
सब कुछ ध्वस्त हो जाता है

जैसे कि गुलाब
जैसे कि बचपन से बाहर निकल आया
जीवन
जैसी कि दुनिया की यह भाग दौड़

बोलते हुए तुम भी मौन रहना
देखते हुए मैं भी आंख बंद कर लूंगा

कुछ शेष रहे हमेशा
हमारे अपने लिए
और सपनों के लिए भी ।

(पांच)

तुम
अव्यक्त ही रहना
जैसे तुम रहती हो

मैं व्यक्त ही रह जाऊंगा
और
हमेशा अकेला भी ।



रमेश ऋतंभर

हर बार

हर बार मैं कसम खाता हूँ
कि अगली बार किसी के बीच में नहीं बोलूंगा
लेकिन किसी को गलत बातचीत करते सुन
मैं चुप नहीं रह पाता

हर बार मैं कसम खाता हूँ
कि मैं अपने काम से काम रखूंगा
लेकिन कुछ उल्टा-सीधा होता देख
मैं हस्तक्षेप कर बैठता हूँ

हर बार मैं कसम खाता हूँ
कि मैं चुपचाप सिर झुकाए अपने रास्ते पर जाऊंगा
लेकिन लोगों को झगड़ा-फसाद करते देख
मैं अपने को रोक नहीं पाता

हर बार मैं कसम खाता हूँ
कि मैं किसी की मदद नहीं करूंगा
लेकिन किसी को बहुत मजबूर देख
मैं आगे हाथ बढ़ा लेता हूँ

हर बार मैं कसम खाता हूँ
कि अब कोई गलती नहीं करूंगा
लेकिन हर बार कोई-न-कोई गलती कर बैठता हूँ

हर बार मैं कसम खाता हूँ
और वह हर बार टूट जाती है।

पिता की विरासत

पिता जिंदगी में किसी से बात-बेबात
झूठ नहीं बोले
कभी किसी से छल नहीं किया
कभी किसी का दिल नहीं दुखाया
हमेशा जरूरतमंदों की मदद की
हमेशा लोगों के बीच रहे
पिता दुनिया की घुड़दौड़ में कभी
शामिल नहीं हुए
थोड़ा ही कमाया, थोड़े में ही खुश रहे
उन्हीं का बेटा मैं
उनकी विरासत में
जमीन-जायदाद नहीं
कोटा-अटारी नहीं
वहीं सब कुछ पाया...
जिनके साथ मैं रोज
दुनिया के बाजार में निकलता हूँ
और ठगा जाता हूँ।

फलित फर्म

मैंने किसी से झूठ बोला
मेरी जीभ जल गई
मैंने किसी की चुगली की
मेरी अंगुली कट गई
मैंने किसी का हक मारा
मेरा बटुआ चोरी हो गया
मैंने किसी का मजाक उड़ाया
सरेआम किसी ने मेरा कॉलर पकड़ लिया
जिस किसी के साथ मैंने
जो-जो किया
वह सौ-सौ गुना सूद के साथ
मुझ तक लौट आया।

आजकल मैं दुश्चिंताओं से घिर रहता हूँ

आजकल मैं न ठीक से कुछ सोच पाता हूँ
न ठीक से मैं कोई सपना देख पाता हूँ
न ठीक से कोई कविता लिख पाता हूँ

आजकल न ठीक से मैं दोस्तों से बतिया पाता हूँ
न ठीक से मैं पत्नी से प्यार कर पाता हूँ
न ठीक से मैं बच्चों को दुलार कर पाता हूँ

आजकल हमेशा मैं एक अजीब हड़बड़ी में रहता हूँ
और हमेशा मुझ पर एक भाय तारी है
कि तेजी से बदलते भागते इस समय में
कहीं मैं पिछड़ न जाऊँ
कहीं मैं गिर न जाऊँ
कहीं मैं मारा न जाऊँ
आजकल हमेशा मैं दुश्चिंताओं से घिरा रहता हूँ।

एक पिछड़े हुए आदमी की कथा

कभी वह किसी अंधे को सड़क पार कराने में लग गया
कभी वह किसी बीमार की तीमारदारी में जुट गया
कभी वह किसी झगड़े के निपटारे में फंस गया
कभी वह किसी मुहल्ले में लगी आग बुझाने में रह गया
कभी वह कहीं अपने हक-हकूक की लड़ाई लड़ रहे लोगों के
जुलूस में शामिल हो गया
और अन्ततः दुनिया की घुड़दौड़ में वह पिछड़ता
चला गया...
और एक दिन इतिहास के पन्नों में वह पिछड़े हुए आदमी
के रूप में दर्ज हुआ।



हिंदी कहानी में स्त्री चेतना

शशि कुमार 'शशिकांत'

आधी आबादी के सशक्तिकरण का सवाल आज सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक विमर्श के केंद्र में है। स्त्री समाज को पुरुष वर्चस्व से मुक्ति दिलाने और उसे घर, परिवार, समाज, राजनीति, संस्कृति, व्यवस्था निर्माण आदि हर क्षेत्र में पुरुषों के समान अधिकार दिलाने को लेकर बहस चल रही है। इसमें स्त्रीवादी लेखन के बौद्धिक विमर्शों और स्त्री संगठनों की भी सक्रिय भूमिका रही है। लेकिन अन्य आंदोलनों की तरह स्त्री मुक्ति आंदोलन के सामने भी क्या वही भटकाव का संकट नहीं है? शैलेंद्र सागर की 'बलात्कार'¹ कहानी स्त्री सशक्तिकरण के बाद स्त्री नेतृत्व में आए भटकावों को दर्शाने वाली कहानी है। यह कहानी राजनीति में स्त्रियों की भागीदारी और आम महिलाओं की सामाजिक स्थिति के द्वंद को भी उजागर करती है। कहानी की नायिका की प्रखर चेतना उसे एक कद्दावर महिला राजनीतिज्ञ के रूप में स्थापित करती है जब वह कहती है, 'कब तक तुम लोग औरतों को दबाकर रखोगे?' और 'गांव की मर्यादा का सारा ठेका आदमियों ने ले रखा है क्या?'² इस तरह अनारो ग्राम प्रधान के चुनाव में विपक्षी पुरुष उम्मीदवारों को जबरदस्ती पर्चा वापस लेने के लिए मजबूर करती है लेकिन उसके अंदर का राजनीतिज्ञ उसी पुरुषवादी राजनीतिक चेतना से प्रभावित होकर ब्लॉक प्रमुख के चुनाव में शराब, नटिनी का नाच और औरतों को परोसने का हथकंडा अपनाता है। इतना ही नहीं, उसके शस्त्रधारी पुरुष अंगरक्षक आते-जाते स्त्रियों पर फब्तियां कसने और उन्हें लपलपाती निगाहों से देखने से भी बाज नहीं आते।³ यहां यह सवाल उठता है कि क्या अनारो के इस राजनीतिक कर्म को सशक्त राजनीतिक अधिकारसंपन्न स्त्री की राजनीतिक भूमिका का आदर्श मान लिया जाए? क्या स्त्री की राजनीतिक चेतना की नियति पुरुष की 'लंपट' राजनीतिक चेतना की राह का अनुगमन करना ही है? अनारो जैसी एक स्त्री के ग्राम प्रधान बनने के बाद भी यदि उनके पुरुष अंगरक्षकों के हाथों गांव की आम स्त्रियां उत्पीड़ित हों तो स्त्री समाज की अधीनस्थ स्थिति में बदलाव क्या संभव है? असामाजिक तत्वों को राजनीतिक संरक्षण देनेवाली और कानून-व्यवस्था की धज्जियां उड़ानेवाली 'बलात्कार' कहानी की नायिका अनारो छद्म स्त्री चेतना से संपन्न एक ऐसी राजनीतिक अधिकार संपन्न स्त्री है जो पुरुष सत्ता को चुनौती देकर स्त्रियों का समर्थन हासिल करती है और स्त्रियों के उत्पीड़कों का प्रतिनिधित्व भी करती हैं लेकिन गांव की स्त्रियों की विडंबना यह है कि उससे घृणा करने के बावजूद वे उसे (अनारो) को अपना राजनीतिक प्रतिनिधि मानने को मजबूर होती है। राजेंद्र यादव ने लिखा है, 'सत्ता की वर्तमान राजनीति मर्दों और उच्च वर्णों

का खेल है। इसीलिए सामाजिक अन्याय का विरोध सामाजिक प्रतिरोध से ही किया जा सकता है। सिद्धांतहीन विरोध, जटिलताओं, विचलन और अंततः विकृतियों में खो जाता है। हालांकि सिर्फ सत्ता का विरोध अंततः सत्ता का हस्तांतरण या सत्ता हथियाने और खुद पूर्व सत्तावानों जैसा बन पाने में परिणत होता है। यह एक ही व्यवस्था में चलनेवाला आंतरिक द्वंद्व है।¹⁴ शैलेंद्र सागर ने 'बलात्कार' कहानी के माध्यम से स्त्री विमर्श के सामने उभरी उस समस्या की ओर ध्यान दिलाया है, जिससे मुक्त हुए बिना पुरुष वर्चस्व से स्त्री मुक्ति संभव नहीं। यह कहानी राजनीतिक चेतना से संपन्न स्त्री सत्ता की वर्तमान दशा पर चिंता और संदेह व्यक्त करते हुए स्त्री सशक्तिकरण से जुड़े सवालों को भी उठाती है।

स्त्री सशक्तिकरण का सवाल स्त्रियों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्थिति से जुड़ी हुई है। इसके लिए जरूरी है लैंगिक भेदभाव की सामाजिक-सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों से मुक्ति। परंपरागत पुरुष प्रधान समाज में अभिजात्य वर्ग की स्त्रियां इसी सामाजिक-सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों के कारण घर की चौखट के अंदर कैद हैं। चौखट के भीतर का 'स्त्री-कर्म' यदि अर्थोपार्जन के दायरे से बाहर है तो रूप सिंह चंदेल की कहानी 'लड़की' की नायिका विद्या चौखट लांधकर पुरुषोचित खेती-बाड़ी करने का दुस्साहस करती है। सोलह साल की छरहरी विद्या जब अपने परिवार की रोजी-रोटी की जुगाड़ के लिए खुद खेतों में हल जोतने का निर्णय लेती है तो पूरा का पूरा पुरुष प्रधान समाज हतप्रभ हो जाता है। आखिर क्यों न हो विद्या कोई निम्नवर्गीय परिवार की लड़की नहीं बल्कि सामंती घराने से ताल्लुक रखनेवाली लड़की है- ठाकुर हरनाम सिंह की पड़पोती। तभी तो उसके इस 'मर्दानापन' के कारण सभी अचंभित हैं, 'अरे, कबहू लड़कियन ने हल चलाया है? ... और वह भी ठाकुर हरनाम सिंह के कुल की?'¹⁵ इतना ही नहीं, 'लड़की' कहानी की नायिका विद्या पुरुष सत्ता द्वारा लैंगिक स्तर पर विभाजित कर्म विभाजन को नकारते हुए जब कहती है, 'काका, आप तो बस गोई देने के लिए हां कहें। आपके बैलों को चारा-पानी की तकलीफ न होने पाएगी, बेफिक्र रहें। अभी आपने ही पड़बाबा हरनाम सिंह का नाम लिया था न? उनकी पड़पोती उनसे कम जीवट की निकले तो दूसरे दिन ही गोई वापस ले लीजिएगा।'¹⁶ सचमुच विद्या का यह आत्मविश्वास और संकल्प-शक्ति उस मर्दानगी को चुनौती देती जिसके बदौलत पुरुष समाज स्त्रियों को घर की चौखट के भीतर धकेलता रहा है और उस पर वर्चस्व स्थापित करता रहा है। विद्या की जीवटता ही स्त्री समाज को पुरुष की अधीनता से मुक्ति दिला सकती है। इसमें चेतना के धरातल पर ही नहीं बल्कि कर्म के धरातल पर भी द्वंद्व है, जिसमें पुरुष समाज के एकाधिपत्य को चुनौती दी गई है। सवाल है, विद्या यदि वह सब पुरुषोचित व्यावसायिक कर्म यदि कर सकती है तो फिर उसकी स्त्री जाति के साथ भेदभाव क्यों? ठाकुर हरनाम सिंह का उत्तराधिकारी वह क्यों नहीं बन सकती? उनके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र के 'उत्तराधिकार बनाम पुत्राधिकार'¹⁷ को भी तो चुनौती देती है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में स्त्री विमर्श के साहित्य और अन्य क्षेत्र में केंद्र में आने के बाद भारतीय समाज में व्यापक उथल-पुथल हुआ है। स्त्री समाज ने करवट ली है। पुरुष द्वारा निर्मित जालों को तोड़ने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है। कमोबेश पूरे स्त्री समाज में अपनी अस्मिता को लेकर जागरूकता बढ़ी है। वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत हुई है। रूप सिंह चंदेल की कहानी 'लड़की' इसी बदलती हुई स्त्री-छवि को रेखांकित करती है। स्त्री चेतना के विकास और स्त्री अस्मिता के गहराते सवाल के कारण स्त्री की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियां भी बदली हैं। वे घर की चौखट के साथ-साथ

हर मोर्चे पर पुरुष को चुनौती दे रही है। स्त्रीवादी विमर्श और स्त्री चेतना की राह में आड़े आनेवाली पुरुष वर्चस्ववादी चेतना को चुनौती दी जा रही है। यह द्वंद्वात्मक स्थिति है।

‘लड़की’ कहानी की विद्या की तरह क्षमा शर्मा की कहानी ‘लव स्टोरीज’⁸ की महिला पात्र भी पुरुष अहं को ठेस पहुंचाती है। तभी तो वह महिला द्वारा चलाई जा रही सफेद मारुति कार के आगे निकल जाने पर झल्लाकर कहता है, ‘अचानक एक सफेद मारुति बस से आगे निकल गई। हूं। झाड़वर फुंफकारता है- ‘औरत की मजाल? वह क्लच दबाता है गियर बदलता है, रेस देता है। सुई झटके से ... साठ-अस्सी।’⁹ वह ‘ओवर टेक’ करने की कोशिश करता है और विफल होने पर एक्सिडेंट कर देता है। यहीं पुरुष की हेकड़ी को ठेस पहुंचती है। एक स्त्री के हाथों पुरुष मर्दानगी की पराजय। कहानी में कार चलानेवाली यह स्त्री बेशक अभिजात्य वर्ग से ताल्लुक रखती हो, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि पुरुष की मर्दानगी और उसके वर्चस्व को चुनौती सिर्फ अभिजात्य स्त्रियां ही देती हैं। क्षमा शर्मा की दूसरी कहानी ‘ढाई आखर’¹⁰ में दूसरे के घरों में झाड़ू-पोछा लगानेवाली और बर्तन धोनेवाली हाशिए पर की निम्नवर्गीय स्त्री भी अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए जूझती है और आखिरकार विजयी होती है।

आधुनिक स्त्री वास्तविक जीवन में सबसे अधिक अपने प्रेम को लेकर लड़ाई लड़ती है। यह प्रेम ही स्त्री-पुरुष संबंध की बुनियाद है। डॉ. छाया गोयल की कहानी ‘एक और अग्निपरीक्षा’¹¹ की बहन जी का बलिदान और उन्हीं की दूसरी कहानी ‘इतने भले हो निशिकांत’¹² की नायिका निशि अपने प्यार पाने के लिए लड़ने की ताकत रखती है जबकि स्मिता की कहानी ‘त्रिज्या’¹³ की नायिका की पीड़ा दोहरी है। एक ओर तो यह उसके स्त्रीत्व के अधूरेपन की दास्तान है तो दूसरी ओर उसके आसपास के परिवेश के प्रति जुगुप्सा पैदा करती हुई पीड़ा, जिसमें अपनी बौद्धिक योग्यता को सिद्ध करने के बावजूद देह की कसौटी पर परखनेवाली पारंपरिक मर्द आंखें उसका उपहास उड़ाती हैं और वह प्रेम से वंचित रहती है। ‘त्रिज्या’ कहानी में स्मिता ने स्त्री की दुखती रग पर हाथ रखा है। स्त्री के जिस अंग में स्त्रीत्व झलकता है, जिस पर उसे गर्व होता है, यदि उसी का अभाव स्त्री में पाया जाए तो निश्चित रूप से खुद को अधूरी स्त्री समझकर आत्मग्लानि और कुंठा से ग्रस्त हो जाएगी। बेशक इसका असर उसकी चेतना पर भी पड़ेगा, क्योंकि स्त्री कोई स्वायत्त जैविक रूप नहीं बल्कि पुरुष के साथ उसका संबंध, आश्रय और द्वंद्व हैं। और इसकी परिणति स्त्री-पुरुष संबंधों में होती है।

अपूर्ण स्त्रीत्व की इस कुंठा के ठीक उलट पूर्ण स्त्रीत्व के बावजूद अपूर्ण पौरुष और बेमेल विवाह के विरुद्ध प्रतिरोध की कहानी है- ‘नामर्द’¹⁴ मधु कांकरिया की इस कहानी में पुरुष सत्तात्मक सामंती मानसिकता से ग्रस्त रामचंद्र अपने लकवाग्रस्त बेटे की शादी किसी विकलांग लड़की के साथ नहीं बल्कि गरीब परिवार की स्वस्थ लड़की के साथ करना चाहता है, ‘किसी ने दबी जुबान से सुझाया : ‘विकलांग के लिए विकलांग’ तो भृकुटि तन गई रामचंद्र की। आवाज में भरपूर निर्णयात्मक और दृढ़ता भर कर खारिज कर दिया इस सुझाव को- इस देश में गरीब बेटियां इफरात में मिलती हैं। ढूंढना नहीं पड़ता उन्हें। मां-बाप खुद ही ढूंढते चले आते हैं उन्हें। बस धैर्य रखना होता है, और यूं भी जमाना अब ‘लव एट फर्स्ट साइट’ का न रहकर ‘लव एट फर्स्ट साइट’ रह गया है।’ और जल्दी ही उनकी मनोकामना पूरी भी हो जाती है। प्राइमरी स्कूल से अवकाश प्राप्त एक अध्यापक अपनी छह बेटियों में से एक दीपा की शादी रामचंद्र के लकवाग्रस्त बेटे सोनू के साथ कर देता है लेकिन

दीपा को यह बेमेल विवाह मंजूर नहीं। इसलिए 'दुल्हनिया के घूँघट उठाने की हसरत लिए पहली ही रात जब करीब जाने की चेष्टा सोनू ने की तो गोल-गोल गुलटूटी आंखों से उस तल्लू, हिकारत एवं वितृष्णा से देखा उसने उसकी ओर कि मन के सारे कोमल पत्ते झड़ गए। ... दरअसल एक अपाहिज की पत्नी के कोटे में जितनी चाहत, तमन्ना, उमंग एवं हसरत होनी चाहिए थी उससे कहीं ज्यादा एवं विशाल कामनाओं और महत्वाकांक्षाओं का सागर हिलोरें ले रहा था- दुल्हन के अंतर में। इस कारण अन्य दरिद्र कन्याओं की तरह उसके विवाह का समीकरण रामचंद्र के अनुसार बन नहीं पाया था। बहरहाल दुल्हन लौट गई थी। ... और शीघ्र ही उसने अपनी सकुशल पहुंच का सद्भावना पैगाम जनश्रुति की लहरों द्वारा अजमेर (सोनू का शहर) पहुंचवा दिया था कि सोनू नामर्द है...।

बेमेल विवाह के विरुद्ध दीपा के विद्रोह का यह तरीका पुरुषत्व पर सवाल खड़ा कर जिस तरह स्त्री अस्मिता को संपुष्ट करता है उसमें स्त्री चेतना का एक नया रूप उभरता हुआ दिखलाई पड़ता है। परंपरागत पुरुष प्रधान समाज में पुरुष सत्ता द्वारा निर्मित कुरीतियों यथा - बाल विवाह, बेमेल विवाह, दहेज प्रथा वगैरह की वजह से गरीब, बेबश और लाचार लड़कियों की आशा, आकांक्षा वगैरह को जिस तरह ताक पर रख कर सदियों से उत्पीड़ित किया जा रहा है, 'नामर्द' कहानी की दीपा उस उत्पीड़न को न केवल झेलने से इनकार करती है बल्कि स्त्री चेतना के हथियार का इस्तेमाल कर पुरुष सत्ता के पुरुषत्व को भी कठघरे में खड़ा कर देती है। इस लिहाज से देखा जाए तो पुरुषवादी सत्ता के खिलाफ दीपा का प्रतिरोध 'डिफेंसिव' और 'ऑफेंसिव' दोनों तरह का है। 'डिफेंसिव' इस रूप में कि बेमेल विवाह को सीधे-सीधे नकारने या अमान्य करने की सामाजिक-सांस्कृतिक छूट, चूंकि किसी भारतीय विवाहिता को नहीं। यदि कोई ऐसा कदम उठाती है तो परंपरागत समाज में ऐसी स्त्री को हेय निगाह से देखा जाता है। दीपा सोनू की विकलांगता को आधार बना कर उससे संबंध विच्छेद करती तो उसे सामाजिक निंदा सहनी पड़ती, लेकिन सोनू को नामर्द घोषित कर उसने वैवाहिक संबंध विच्छेद करने के अपने फैसले को सामाजिक स्वीकृति हासिल कर लिया। स्त्री और पुरुष सत्ता के बीच का यह द्वंद्व स्त्री समाज की अधीनस्थ अवस्था से मुक्ति दिलाने के लिए क्या अनिवार्य है? राजेंद्र यादव ने लिखा है, 'चेतना अपनी स्थिति को बोध है, उस सामाजिक अपमान का आत्म-साक्षात्कार है जो मानसिकता का अपरिहार्य अंग है, यह रियलाइजेशन ही नियति बना दी गई अवस्था के प्रतिरोध तक ले जाता है। यातना की कचोट, कारक स्थितियों और व्यस्था के खिलाफ संघर्ष की शुरुआत है। मुक्ति और स्वतंत्र जीवन का सपना इस संघर्ष को दिशा देता है। चूंकि यह स्थिति व्यक्तिगत न होकर सामाजिक और ऐतिहासिक है, इसलिए साहित्य में प्रतिरोध भी व्यक्तिगत रूप से होते हुए भी सामाजिक होता है। ... स्त्री होने की सजा किसी व्यक्ति विशेष की नहीं, पूरे समाज को दी जाती है। व्यक्ति उसका माध्यम है।'

स्त्री चेतना के उभार के साथ-साथ आज की स्त्रियों में व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा भी बढ़ी है। भूमंडलीकरण, उदारीकरण और मुक्त बाजार ने भी उन्हें आकर्षित किया है। वैयक्तिक महत्वाकांक्षा और यथार्थवादी बाजारू आकर्षण की दौड़ में शामिल स्त्री के व्यथापूर्ण कड़वे अनुभव के दौर से गुजरकर अपनी नियति के साथ वापस लौटती स्त्री की विडंबनापूर्ण कहानी है 'कांच'। सत्येन कुमार की यह कहानी स्त्री चेतना की हमारी समझ, पथरीली पड़गई पुरुषवादी संवेदना के धरातल को उद्देलित करती है। बदलते युग में स्त्री-पुरुष संबंधों में यदि बदलाव आया है तो 'कांच' वाकई

स्त्री-पुरुष संबंधों के बदलते परिवेश और पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री-मन की पीड़ा, उसके टूटे स्वप्न और उसके स्वाभिमान के जर्ने-जर्ने को बारीकी से दर्शाती है। कहानी की नायिका दक्षा के माध्यम से यह कहानी दर्शाती है कि स्त्रियां अब किसी भी बिंदु पर मात खाटेक कर जीत जाती हैं और आदमी सदियों से अपनी पुरुषवादी हेकड़ी, शारीरिक बल और क्रोध के बंदूलत स्त्रियों को झुकाता आया है। स्त्री चेतना में उभार के बाद अब पुरुष अब समझौता करने के लिए बाध्य है। स्त्री चेतना और पुरुष वर्चस्व के बीच द्वंद्व के कारण ही इस तरह के हालात पैदा होते हैं। 'कांच' में हम देखते हैं कि नरेश सरीन की 'पुरुषवादी मानसिकता पहले से भी अधिक विकृत रूप धारण कर चुकी है, जबकि दक्षा के संघर्ष से एक पक्ष यह उभरता है कि 'अपने अधिकारों की लड़ाई में औरत ने अपना सबसे बड़ा दुश्मन मर्द को ही बना लिया - जो उसका अकेला दोस्त था।' 'कांच' कहानी का एक सच यह भी है कि कार्तिक जैसे दोस्त हर औरत को नहीं मिलते। इस तरह 'कांच' स्त्री स्वातंत्र्य और स्त्री अधिकारों की लड़ाई में स्त्री समाज के समक्ष दरपेश समकालीन चुनौतियों को भी उद्घाटित करती हैं।

पुरुष प्रधान भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति और उसके प्रति पुरुष मानसिकता को उकेरने वाली ऐसी ही कहानी है 'जोंक'। 'कांच' की तरह सुषमा मुनींद्र की यह कहानी भी पुरुष की सामंती और मनुवादी सोच तथा झूठे दंभ और मिथ्याभिमान को उजागर करती हुई, स्त्री को 'सीता' और 'सावित्री' के आदर्श त्याग कर 'द्रोपदी' बनने की चुनौती देती है। सीता और सावित्री के मिथकीय आदर्श से मुक्ति क्या आदर्श से मुक्ति क्या स्त्री चेतना संपन्न हुए बिना संभव है? प्रभा खेतान ने लिखा है, 'दरअसल पितृसत्तात्मक संस्कृति हजारों साल पुरानी है। इसी संस्कृति ने हिंदू धर्म को जन्म दिया। हिंदू धर्म स्त्री विरोधी है। यह धर्म, स्त्री से एक अमानवीय और अप्राकृतिक शुद्धता की मांग करता है। हिंदू स्त्री के लिए सती होना आसान हैं, परंतु अपनी मानवीय इच्छा-आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करना बड़ा कठिन है। स्त्री-सत्ता, शक्ति और सतीत्व को हिंदू धर्म का पर्याय मानती रही है। यदि इन मान्यताओं को अलग-अलग अुकडत्रों में तोड़ा जाए, इनके मिथकीय आवरण को हटाया जाए, तो हम पाएंगे कि आज स्त्री शक्ति शक्ति और सतीत्व में बहुत बड़ा अंतराल आ गया है।' स्त्री अस्मिता के सवाल गहराने के बाद स्त्री विमर्श के अंतर्गत मिथकीय स्त्री पात्रों (देवी, सती आदि) की छवियों और कर्मों का भी विखंडनवादी अध्ययन करने की जरूरत है। 'जोंक' कहानी बेशक इसकी प्रस्तावना है। इस लिहाज से यह स्त्री अस्मिता की तलाश, स्त्री चेतना के विकास, स्त्री के जीवन में क्रांतिकारी बदलाव और स्त्री शोषण, दमन और उत्पीड़न के विरुद्ध स्त्री स्वातंत्र्य की कहानी है।

स्त्री चूंकि भारतीय समाज में अधीनस्थ है, इसलिए उसकी देह और उसकी प्रजनन-क्षमता पुरुष के भोग और उत्पीड़न का शिकार बनती है। बलात्कार स्त्री देह ही नहीं स्त्री अस्मिता को चुनौती देने वाला बर्बर पुरुषवादी कुकर्म है। इसी पुरुषवादी कुकर्म और उसके इर्द-गिर्द पुरुष सत्तात्मक समाज द्वारा बनाई गई सामाजिक दीवारों को तोड़ने वाली एक कहानी है- 'चीख'। उर्मिला शिरीष की यह कहानी पढ़ी-लिखी, बैडमिंटन खेलने और स्कूटर चलानेवाली एक आधुनिक लड़की की दर्द भरी दास्तान ही नहीं, उसके वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक द्वंद्व और अंततः आत्मचेतस् होकर इससे उबरने की भी कहानी है। बलात्कार के बाद कथा नायिका का आहत मन पारिवारिक-सामाजिक माहौल में और भी आहत होता है लेकिन इसी द्वंद्व और उधेड़बुन के बीच एक दिन आधी रात को नर्सिंग होम में जब... जांच के बाद डॉक्टर ने बताया कि वह गर्भवती है... अनचाहा अनजाना...

बीज उसके गर्भ में है। वह आधी सोई आधी जागी हुई सी थी। चेतन-अचेतन के बीच भी उसे महसूस हो रहा था कि उसके आंतरिक अंगों से चिपके मांस के लोथड़े को नोंच-नोंच कर बाहर निकाला जा रहा है।' होश आने के बाद सामने बैठी डॉ. शोभा के साथ बातचीत के बाद उसे धुंध छंटता हुआ-सा दिखलाई पड़ता है। डॉ. शोभा जब कहती है, '... सारी जद्दोजहद जिंदगी के लिए ही है न। तुम्हारी अपनी जिंदगी की कीमत तुम्हारे लिए कितनी है यह तुम्हें सोचना होगा। पहले तुम स्वयं के बारे में सोचो कि तुम्हें देह को लेकर ... तड़पते रहना है या आत्मा की आवाज पर चलना है ... बार-बार तुम्हारे साथ घटनाएं घटित हो रही हैं और तुम मेरी बेटी होती तो मैं तुम्हें कहती, 'उठो ... जागो ... जीवन ... को अपनी गति से चलने दो ... जो हुआ उसका सामना करो। कोई तुम्हें एक्सेप्ट नहीं करता मत करने दो, तुम खुद को एक्सेप्ट करो ...।' डॉक्टर की नसीहत से अनाम कथा नायिका में आत्मविश्वास पैदा होता है जिसकी बदौलत वह आत्मग्लानि और घुटन भरी जिंदगी से उबरने का फैसला करती है और उन परिस्थितियों, उस डर से भी जो उसके चारों तरफ (घर-परिवार और समाज में) बुना जा चुका है। घर लौटकर वह आसपास के दमघोंटू माहौल को वह फेंक देना चाहती थी ... सबसे पहले उसने अपनी आलमारी जलाई, किताबें जलाई। यद्यपि उसका मन स्वयं से लड़ रहा था। एक लंबी लड़ाई लड़ने की पूर्ण तैयारी कर रही थी वह ... कुछ करना है ... कुछ ... करके दिखाना है ... सबका सामना करना है... जैसे वाक्य उसकी सोच को निरंतर ऊर्जा दे रहे थे। किसी बच्चे की आकुल आकांक्षा कि दौड़कर सबसे आगे पहुंचना है ... मम्मी, पापा, भैया तथा दीदी को आश्चर्य हो रहा था कि आखिर उसे हो क्या गया है ... कहीं वह मानसिक रूप से ...' और दूसरे दिन ट्रेकिंग सूट पहन कर कमजोर शरीर लेकिन स्वस्थ मन से स्कूटर उठाकर वह यह कहती हुई चल देती है कि 'मैंने कोई गलती या अपराध नहीं किया जिसके लिए मैं जिंदगी भर आत्मग्लानि में घुलूं। मम्मी, मैं हर स्थिति का सामना करूंगी चाहे मेरा कोई साथ दे या न दे। 'चीख' कहानी की नायिका के पुरुष उत्पीड़न के विरुद्ध आत्मचेतस होकर उभरने में स्त्री चेतना की ही भूमिका है जो डॉ. शोभा के साथ बातचीत के बाद उसके अंदर जागृत होती है। पुरुष सत्ता द्वारा निर्मित झंझट के जालों और उसके भीतर उत्पीड़ित हो रही स्त्री की मुक्ति के लिए ऐसे ही दमखम (वाले चरित्र) की जरूरत है। आठवें दशक के बाद उभरी महिला कथाकारों की कथाकृतियों में ऐसी दमखम वाली बहुत सारे स्त्री पात्र हैं, जिन्होंने परंपरागत पुरुष प्रधान भारतीय समाज में प्रचलित स्त्री छवि को तोड़ते हुए प्रगतिशील जीवन दृष्टि से संपन्न सशक्त स्त्री पात्रों को गढ़कर हिंदी कथा साहित्य में स्त्री अस्मिता के सवाल को स्थापित किया।

बीसवीं सदी के आखिरी दशक के साहित्यिक लेखन और खासकर स्त्रीवादी लेखन पर दृष्टि डालें तो ऐसी अनेक स्त्री किरदार मिलेंगी जो खुद को दूसरों, पुरुषों की आंखों की बजाय अपनी विशिष्ट दृष्टि से जिंदगी के चेहरे देखने और संवारने का दमखम रखती है, जिनमें स्त्री पर जबरन थोपे भार, मिथकों और परंपरागत रूप से चली आ रही सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अवधारणाओं को तोड़ने का विवेकपूर्ण साहस है। पुरुष सत्तात्मक समाज की जंजीरों में जकड़ी ये स्त्री किरदार अपनी स्वतंत्र सोच और स्त्रीवादी चेतना से जितनी संपन्न है, स्त्री-पुरुष संबंधों के जटिल अर्थों को परत-दर-परत खोलने, स्त्री समाज के इर्द-गिर्द गढ़ी गई मान्यताओं का पुनर्परीक्षण करने का आत्मविश्वास भी रखती है। इनके कारण न केवल स्त्री की अस्मिता और अस्तित्व का सवाल गहराया है बल्कि स्त्री विमर्श को

एक नयी दिशा भी मिली है। सन सत्तर और उसे बाद के दशक की हिंदी कहानी में स्त्री चेतना से संपन्न ऐसे सचेत और आत्मचेतस्त्री किरदारों की कमी नहीं है।

मृदुला गर्ग की कहानी 'मीरा नाची' और 'बर्फ बनी बारिश' क्रमशः बंदिशों में जकड़ी स्त्री की मुक्ति और संपत्ति तथा पारिवारिक निर्णय में स्त्री के हस्तक्षेप की कहानी है। 'मीरा नाची' कहानी में स्त्री अस्मिता से संपन्न और आत्मचेतस्त्रीत्व समाज द्वारा निर्मित कठघरे को तोड़कर मुक्त होना चाहती है। विडंबना यह है कि स्त्री मुक्ति की यह लड़ाई नायिका को खुद अपनी मां से लड़नी पड़ती है। मां के कड़े नियंत्रण में रह रही लड़की को खुली छत पर किस तरह नाचने की इच्छा होती है, यही कहानी का कथ्य है। पुरुष सत्ता द्वारा निर्मित बंदिशों से मुक्ति की राह में रोड़े अटकाने की विडंबना को भलीभांति दर्शाती यह कहानी सचमुच पुरुष चेतना से ग्रस्त स्त्री और स्त्री चेतना से संपन्न दो स्त्रियों के द्वंद्व की कहानी है। मृदुला गर्ग की 'मीरा नाची' की मां यदि स्त्री के चारों तरफ खड़ी की गई दीवारों की संरक्षक है तो मन्नू भंडारी की 'त्रिशंकु' की मां इन दीवारों को तोड़ने और जोड़ने के द्वंद्व में फंसी हुई।

मृदुला गर्ग की ही दूसरी कहानी 'बर्फ बनी बारिश' परंपरागत पुरुष प्रधान भारतीय समाज में प्रचलित 'पति परमेश्वर' की अवधारणा को ही खंडित नहीं करती बल्कि पति की अधीनता को अस्वीकार करते हुए उसके निर्णय को भी न मानने का दुस्साहस करती है। कहानी की नायिका बिन्नी का पति अपने दो बेटों को साथ लेकर अमेरिका में बस जाता है। बिन्नी अपना घर, अपनी नौकरी और देश छोड़कर पति के साथ अमेरिका में बसने को तैयार नहीं। उसका पति जब उससे कहता है, 'यहां रहकर तुम कौन सा तीर मार रही हो? क्यों कर रही हो अपने देश के लिए ?...।' तो बिन्नी दो टूक जवाब देती है, 'कुछ हीं। ...न मैं देश के लिए कुछ कर रही हूं, न देश मेरे लिए। पर इसका यह मतलब नहीं कि भागकर किसी संपन्न देश में शरण लूं। मेरी मर्जी है, यहीं रहूंगी, चिढ़ूंगी, खीजूंगी, बुराई दिखेगी तो बुराई करूंगी। बेबात खुश रहूंगी, पर रहूंगी यहीं। ...।' बिन्नी के इस दो टूक जवाब और उसकी जिद से स्पष्ट है कि वह पति और बाल-बच्चे की अधीनस्थ नहीं बल्कि स्त्री चेतना से युक्त एक स्वायत्त स्त्री है, जो न केवल नौकरी करके अपनी मर्जी से जीवन जीना चाहती है बल्कि इसके लिए पति के निर्णय के एकाधिकार को भी चुनौती देती है। चुनौती स्वाभाविक है। समझौता हमेशा आखिर स्त्री बिन्नी ही क्यों करे? पति क्यों नहीं करे? लेकिन बिन्नी के इस विद्रोह की एक वजह उसकी आर्थिक आत्मनिर्भरता नौकरी भी तो है। क्या एक पति पर आश्रित हाउस वाइफ बिन्नी की तरह फैसले ले सकती है? बिल्कुल नहीं। यदि ऐसा है तो इससे जाहिर है कि आर्थिक आत्मनिर्भरता स्त्री की पारिवारिक-सामाजिक स्थिति में बदलाव में सहायक होती है।

भारतीय परिवार और समाज में स्त्री की स्थिति, उसकी दुविधा, दुःख और आत्मचेतस्त्री होकर उससे उबरने एवं उसकी संघर्ष-क्षमता, प्रतिरोध आदि को केंद्र में रखकर हिंदी की स्त्री कथाकारों ने कई कहानियां लिखी हैं इन स्त्री कथाकारों ने स्त्री और स्त्री की स्थिति के सवाल को अपनी कहानियों में बड़ी शिद्दत से उठाया है। इस दृष्टि से अलका सरावगी की कानी 'बहुत दूर है आसमान' एक सशक्त कहानी है। इस कहानी में आठ साल की नन्ही गुल्लू के बालपन को 'बेटा-बेटी' के रूप में नहीं बांटा जा सकता। कहानी में गुल्लू के बारे में उसके घर की दीवार पर अश्लील टिप्पणी लिखा देखकर उसके पिता बेचैन हो जाते हैं। दीवार पर से अपनी बेटी के खिलाफ अपनी बेटी के खिलाफ लिखी अश्लील

टिप्पणी को साफ करवाने के बावजूद उसका आतंक किस तरह से उसे परेशान करता है, इसका बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण है इस कहानी में। कुल मिलाकर, यह कहानी एक बंद समाज में स्त्री के जीवन एवं उसकी पारिवारिक-सामाजिक स्थिति को बहुत गहरे रूप में दर्शाती है। दूर्वा सहाय ने आसपास की दुनिया में स्त्री की स्थिति के केंद्र में रखकर कई संवेदनशील कहानियां लिखी हैं। उनकी कहानियों में घर-परिवार और समाज में घुट-घुट कर जी रही बेचैन स्त्री के निजी अंतर्द्वंद्व, घर के भीतर बाहर निःशब्द प्रतिरोध, स्त्री के चेतना संपन्न हो जाने का घोषणा-पत्र है। 'मां', घरेलू स्त्री की विडंबना को बड़ी खामोशी से व्यक्त करनेवाली एक मार्मिक कहानी है, तो 'रिमोट कंट्रोल' पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री की स्थिति को दर्शाती है जिसमें वह खुद ही नहीं बल्कि दूसरे के द्वारा संचालित होती है।

पुरुष सत्तात्मक समाज में घरेलू स्त्री की गुलामी, उसके उत्पीड़न एवं प्रतिरोध को दूधनाथ सिंह ने अपनी कहानी 'माई का शोकगीत' में दर्शाया है। सामंती मानसिकता वाले परिवार में घर की देहरी के भीतर उत्पीड़ित होना गंगा माई को मंजूर नहीं, इसलिए इस उत्पीड़न से मुक्ति और प्रतिरोध का एक ही उपाय है कि वह घर छोड़ दे। घर यदि स्त्री को सुरक्षा देता है तो वह उसकी प्रताड़ना का भी पोषक बनता है। पति या पुरुष के साथ भी यही बात लागू होती है। पुरुष उत्पीड़न से मुक्ति के लिए 'बर्फ बनी बारिश' की बिन्नी यदि पति और दोनों बेटे के साथ नौकरी छोड़कर अमेरिका जाने को इनकार करती है तो परंपरागत घरेलू स्त्री की त्रासद जीवन से मुक्त स्वतंत्र जिंदगी जीने के लिए 'माई का शोकगीत' कहानी की गंगा माई घर छोड़ देती है लेकिन पुरुषसत्तात्मक समाज और परिवार के भीतर बिन्नी और गंगा माई जैसी आत्मचेतस्त्री का गुजारा संभव नहीं।

'माई का शोकगीत' की सोनचिरैया और चित्रा मुद्गल की कहानी 'लकड़बग्घा' की पछांहीवाली कनिया 'लक्ष्मण रेखा' लांघकर अपने अधिकार और स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ती हुई शहीद होती हैं। सोनचिरैया की बर्बर हत्या तब कर दी जाती है जब वह अपनी आजादी की खातिर घर छोड़ना चाहती है जबकि विधवा पछांहीवाली कनिया अपनी बेटी की पढ़ाई-लिखाई की खातिर अपने श्वसुर और जेठ से गुहार लगाती है, और आनाकानी किए जाने के बाद खाना-पीना छोड़कर 'सत्याग्रह' करती है। अपनी बेटी की पढ़ाई-लिखाई के लिए पछांहीवाली कनिया की इस जिद से उसके जेठ लंबरदार की पुरुषवादी हेकड़ी को ठेस पहुंचती है और उसका सामंती संस्कार सामने आता है। ललकारते हुए वह कहता है, 'निकल बाहर ... पछांहीवाली।' रायफल सीधी करते हुए लंबरदार दहाड़े। स्पष्ट है, पछांहीवाली की दुर्गति की एक बड़ी वजह उसका विधवा और निराश्रित होना है। विधवा स्त्री की पीड़ा दोहरी होती है। सबल्टर्न आलोचना अभिजात और अधीनस्थ चेतना के बीच के द्वंद्व ही नहीं बल्कि उसके बीच के जटिल संबंध और आश्रय का भी अध्ययन करती है इस लिहाज से पति स्त्री को उत्पीड़ित ही नहीं करता उसे आश्रय भी देता है। विधवा पछांहीवाली की स्थिति से इसे समझा जा सकता है।

पुरुष सत्तात्मक समाज में विधवा स्त्रियों के उत्पीड़न, उसके प्रतिरोध और घर-परिवार और समाज के साथ उसके संबंध आश्रय और द्वंद्व को लेकर हिंदी में कई कहानियां लिखी गई हैं। इन कहानियों में मध्यवर्गीय ही नहीं बल्कि निम्नवर्गीय एवं दलित स्त्रियों की अस्मिता और उसकी जिजीविषा को भी भलीभांति दर्शाया गया है। 'गुलइची' (शैलेंद्र सागर), 'रानी मां का चबूतरा' (मन्नु भंडारी), 'पगला गई है भगवती (मैत्रेयी पुष्पा), 'गटर' (अरुण भारती), 'घर चलो दुलारी बाई' (संजीव), 'एक औरत की जिंदगी' (रामदरश मिश्र) आदि कहानियां ऐसी ही कहानियां हैं। 'गुलइची' कहानी

में विधवा नायिका गुलइची का संघर्ष भी 'लकड़बग्घा' की पछांहीवाली के संघर्ष से मिलता-जुलता है। विधवा पछांहीवाली यदि अपनी बेटी की पढ़ाई की खातिर जेठ से और श्वसुर से लड़ती है तो गुलइची के पति की मृत्यु के बाद उसके पट्टीदार उसकी जमीन-जायदाद हड़प लेते हैं और प्रतिरोध करने पर उसे प्रताड़ित करते हैं। भ्रष्ट पुलिस-प्रशासन भी गुलइची की मदद नहीं करता बल्कि उसके उत्पीड़न में सहयोग ही करता है। गुलइची का उत्पीड़न शारीरिक कम आर्थिक ज्यादा होता है लेकिन 'रानी मां का चबूतरा' की विधवा गुलाबी का स्वाभिमान और बाल-बच्चों के लालन-पालन की चिंता एवं व्यस्तता पास-पड़ोस की स्त्रियों-पुरुषों को नहीं सुहाती। वे सभी मिलकर उसके चरित्र पर लांछन लगाने की कोशिश करते हैं। गुलाबी के साथ किया गया यह क्रूर उत्पीड़न आखिरकार उसकी त्रासद मौत की भी वजह बनती है।

'पगला गई है भगवती' भी एक विधवा स्त्री के प्रतिरोध और जिजीविषा को बड़ी मार्मिकता के साथ उद्घाटित करती है लेकिन 'गटर' कहानी की सुखी की पीड़ा और उसका संघर्ष भी कम नहीं। कहानी में एक विधवा स्त्री के प्रति पुरुष समाज की गिद्ध-दृष्टि को बड़े ही यथार्थवादी तरीके से दर्शाया गया है। पति की मौत के बाद शोकाकुल सुखी जहां अपने नवजात बच्चों के लालन-पालन को लेकर परेशान रहती है वहीं राह चलते से पुरुषों के हाथें यौन उत्पीड़न का शिकार भी होना पड़ता है। लेकिन विधवा होने का बावजूद सुखी इन पुरुषवादी हरकतों का विरोध करती है और डटकर उनसे लोहा लेती है। इस लिहाज से देखा जाए तो सुखी कोई असहाय विधवा स्त्री नहीं बल्कि एक आत्मचेतसु और स्त्री चेतना से संपन्न स्त्री है।

'घर चलो दुलारी बाई' और- 'एक औरत : एक जिंदगी' भी विधवा स्त्री की सामाजिक असुरक्षा, पुरुष की काम और धनलोलुपता तथा इन सबके विरुद्ध स्त्री के प्रतिरोध और जिजीविषा की कहानी है। रामदरश मिश्र की कहानी 'एक और जिंदगी' की विधवा कथा नायिका का पट्टीदार धनपति बाबा जब उसका यौन शोषण करने में विफल रहता है तो खीजकर उसके गल्ले को जला देता है। कुल मिलाकर कहा जाए तो उक्त कहानियों में भारतीय समाज में विधवा स्त्रियों की त्रासद स्थिति को यथार्थ रूप में तो दर्शाया ही गया है, घर, परिवार और उसके संघर्ष, प्रतिरोध और उसकी जिजीविषा को भी भलीभांति उद्घाटित किया गया है। इस लिहाज से ये कहानियां विधवा स्त्री के प्रतिरोध, उसकी अस्मिता, चेतना संपन्नता और पुरुष सत्ता के साथ उसे द्वंद्व को दर्शानेवाली कहानियां हैं। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री की अधीनता की पूरी स्थिति स्त्री जाति के साथ लागू होती है। उपर्युक्त कहानियों में मध्य एवं निम्नवर्गीय स्त्रियों की चेतना और पुरुष सत्ता से उसकी टकराहट को दर्शाया गया है लेकिन समाज में हाशिए पर की स्त्रियों, खासकर विधवाओं, वेश्याओं आदि की त्रासद स्थिति को भी स्त्री विमर्श के दायरे में शामिल करने की दरकार है।

अंत में, मैनेजर पांडेय के शब्दों में कहे तो, 'हाशिए पर खड़ी स्त्री' की पराधीनता का शिकंजा उपभोक्तावादी संस्कृति के हमले से और अधिक कस गया है। वैसे तो बाजार और उपभोक्तावाद के लिए मनुष्य सिर्फ उपभोक्ता और मुनाफा कमाने का माध्यम मात्र है लेकिन इसके भीतर मौजूद पुरुष प्रभुत्व की मानसिकता पर भी विचार करने की जरूरत है। जिसका दुरुपयोग स्त्री के प्रसंग में होता रहा है।'



अंक के रचनाकार

- सुधीर विद्यार्थी- 6, पवन विहार फेज-5 विस्तार, पो. रूहेलखंड विश्वविद्यालय, बरेली-243006 (उ.प्र.) ☎ 8439077677
- अच्युतानंद मिश्र- आरटी-419, शिप्रा सन सिटी, इंदिरापुरम, गाजियाबाद-201010 (उ.प्र.)
- शीतला सिंह- संपादक- दैनिक जनमोर्चा, चौक बजाजा, फैजाबाद-224001 (उ.प्र.), ☎ 9415047555
- अरविन्द मोहन- ए-504, जनसत्ता अपार्टमेंट, सेक्टर-9, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012 (उ.प्र.), ☎ 9811826111
- उमेश चतुर्वेदी- द्वारा जयप्रकाश, दूसरा तल, निकट शिवमंदिर, एफ-23 ए, कटवारिया सराय, नई दिल्ली-110016, ☎ 9599661151
- मुकेश कुमार- सी-1302, एपेक्स ग्रीन वैली, सेक्टर-9, वैशाली, गाजियाबाद, (उ.प्र.), पिन-201010, ☎ 09811818858
- प्रांजल धर- जी-22, एन.पी.एल. कॉलोनी, न्यू राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली-110060, ☎ 09990 665881
- हरीश अरोड़ा- हिंदी विभाग, पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, नेहरू नगर, नई दिल्ली-110065, ☎ 9968723222
- गिरीश्वर मिश्र- कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महा.), ☎ 07152-230907
- बालेन्दु दाधीच- 504, पार्क रॉयल, जीएच-80, सेक्टर-56, गुडगांव (हरिया.) ☎ 9868235423
- कृष्ण प्रताप सिंह- 5/18/35, बछड़ा सुलतानपुर, फैजाबाद- 224001 ☎ 09838950948
- संजय कुमार- 303, दिगम्बर प्लेस, लोहियानगर, कंकड़बाग, पटना-800020, (बिहार), ☎ 09934293148
- रामनिरंजन परिमलेन्दु- दक्षिण दरवाजा, गया (बिहार), ☎ 9470853118
- राजीव कुमार वर्मा- मालवीय मूल्य अनुशीलन केंद्र, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, ☎ 9415822643
- ओम निश्चल- जी-1/506-ए, उत्तम नगर, नई दिल्ली- 110059, ☎ 8447289976
- शकील सिद्दीकी- एम.आई.जी. 317 फेज-2, टिकैतराय एल.डी.ए. कालोनी, मोहान रोड, लखनऊ-17, (उ.प्र.), ☎ 09839123525
- उमाशंकर चौधरी- द्वारा ज्योति चावला, स्कूल ऑफ ट्रांसलेशन स्टडीज एंड ट्रेनिंग, 15-सी न्यू एकेडमिक ब्लिडिंग, इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110068, ☎ 09810229111
- महेश कटारे- निराला नगर, सिंहपुर रोड, मुरार ग्वालियर-474006, (म.प्र.), ☎ 9425364213
- कमल कुमार- डी-38, प्रेस एनकलेव, नई दिल्ली-110017, ☎ 9810093217
- वाजदा खान- बी-96, ग्राउंड फ्लोर, सेक्टर-23, नोएडा-201302, (उ.प्र.) ई-मेल : artist@gmail.com
- राकेश श्रीमाल- सहायक संपादक, म.गां.अं.हिं.वि., क्षेत्रीय केंद्र कोलकाता, ऐकतान, ईजेडसीसी, आईए-290, सेक्टर-3, साल्ट लेक, कोलकाता-700097, (प.बं.), ☎ 8274829199
- रमेश ऋतंभर- योगेंद्र भवन, दूसरी मंजिल, पुराना पेट्रोल पंप के निकट, आमगोला, मुजफ्फरपुर-842002 (बिहार), ☎ 9431670598
- शशि कुमार 'शशिकांत'- सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, मोतीलाल नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110021, ☎ 9868035096

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
सदस्यता आवेदन-पत्र

बिक्री एवं प्रसार कार्यालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

‘बहुवचन’ वार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से रु. 300/- व्यक्तिगत
	रु. 400/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
‘बहुवचन’ द्विवार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से रु. 600/- व्यक्तिगत
	रु. 800/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
‘पुस्तक-वार्ता’ वार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से रु. 120/- व्यक्तिगत
	रु. 180/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
‘पुस्तक-वार्ता’ द्विवार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से रु. 240/- व्यक्तिगत
	रु. 360/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
बहुवचन/पुस्तक वार्ता का संयुक्त एक वर्षीय शुल्क	रु. 420/- व्यक्तिगत
	रु. 580/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए

(कृपया मनीऑर्डर एवं चेक नहीं भेजें।)

ड्राफ्ट ‘महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा’ के नाम देय होगा और उसे निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें। किसी भी राष्ट्रीयकृत बैंक का ड्राफ्ट स्वीकार्य होगा।

प्रकाशन प्रभारी

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स

वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

फोन नं. : 07152-232943

‘बहुवचन/पुस्तक-वार्ता’ पत्रिका के एक वर्षीय/द्विवर्षीय/संयुक्त सदस्यता के लिए रुपये
का बैंक ड्राफ्ट संख्या दिनांक संलग्न
कर रहा हूँ/कर रही हूँ, कृपया मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएं :

नाम :

पता :

पिन कोड :

दूरभाष : ई-मेल :

दिनांक :

(सदस्य के हस्ताक्षर)